देवपूजा प्रवचन

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:—
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्यमन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमे ।

संस्करण]
१०००]

सन् १९७२

[मूल्य ५)

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावो की नामावली.—

१	श्रीमान् सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२	वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,, कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,, श्रीमती सोबती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,, मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,, प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,, दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,, वारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,, केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,, जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,, मंत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,, बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,, विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,, बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,, सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैनसंघी,	जयपुर
२२	,, मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,, सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी जैन	गिरिडीह
२५	,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,, सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत

२८	श्रीमान् गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,, दीपचंद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर,	कानपुर
३०	,, मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,, संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी,	आगरा
३२	,, नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,, झब्बनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,, रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,, मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,, दिगम्बर जैनसमाज	गोटे गाँव
३९	,, माता जी धनवंतीदेवी जैन राजागंज	इटावा
४०	,, ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुड़की
४१	,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	चिलकाना
४३	,, हुकमचंद मोतीचंद जैन,	सुलतानपुर
४४	,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४५	श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी	सुलतानपुर
४६	,, ❀ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४७	,, ❀ बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
४८	,, ❀ इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४९	,, ❀ सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
५०	,, ❀ बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
५१	,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।। टेक ।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।।५।।

—o—

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरो पर निम्नांकित पद्धतियो में भारतमे अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्र एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौथाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"सहजानन्द" महाराज

का

देवपूजा पर प्रवचन

कोटीशत द्वादश चैव कोटचो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव ।
पचाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतच्छ्रुत पंचपदं नमामि ॥
अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथिअ सव्व ।
पणमामि पचभेदं सुदणाणमहोवयं सिरसा ॥

देवपूजाकी वक्तव्यताका उद्देश्य शरण्यताका निर्णय कर शरण्यको आत्मसर्वस्व समर्पण कर निर्भार होना— बन्धुवर ! आज हम इसपर विचार करने बैठे है कि सुखशाति के लिये हमे किसका सहारा लेना चाहिये ? इसमे सदेह नही कि परवस्तुओको आश्रयमात्र बनाकर अपने ही गुणोके विकृत परिणमनमे परिणत होनेके कारण जगतके प्राणी दुखी हो रहे है । इसका मूल अज्ञान है । जब यह आत्मा अपने स्वरूपका और जगतका यथार्थ बोध पाता है तब वह परमे निजकी भावना छोड़कर विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव वाले निज शुद्ध आत्मतत्त्वमे रुचि करने लगता है । इस अन्तरात्माकी शातिके लिये जो प्रयत्न होता है वह है निर्मल विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभावमें परिणत परम आत्माकी दृष्टि और निजकी कल्पनासे रहित निज सहज स्वभावकी दृष्टि । इसी प्रेरणासे प्रेरित होकर शुभ रागवश उद्भूत भगवद्भक्तिमे अन्तरात्माका प्रवास होता है । इसके फलस्वरूप व्यवहारमे उस सद्-गृहस्थकी देवपूजामे प्रवृत्ति होती है । देवकी स्थिति पुजारीका उपादेय लक्ष्य है । क्योकि उसे भेदविज्ञानके कारण किसी भी इतर पदार्थमे रुचि नही रही । अतः व्यवहारसे अथवा उपचारसे तो पूज्य परमेष्ठी भगवान्का सहारा लिया जाता है और निश्चयसे निज सहज-सिद्ध चैतन्यप्रभुकी दृष्टि रूप सहारा होता है । हम सबको 'सत्य सहारा पर' विचार करना आवश्यक है, जिसके लिये व्यवहार और प्रयोजन पहिचानते हुए देवपूजापर गंभीर दृष्टिपात करें । पूजामें निश्चयरूप भाव अर्थात् आध्यात्मिकताका पुट कैसा रहना चाहिये, इसको बताते हुए विवेचन किया जायगा । सर्वप्रथम तो पूजकमे ऐसा आचार विचार होना चाहिये, जिससे पूज्यदेव और उनकी स्थापित प्रतिमाको विवेकपूर्वक ध्यानमे ला सकें । ऐसा संभव नही कि विषय कषायकी तीव्रता भी बनी रहे और भगवत पूजन भी चलता जाय ।

पूजककी पात्रताका आधार निष्पाप जीवन—आचारमे सबसे पहले सप्तव्यसनका त्याग होना चाहिये। दुनियामे कोई किसी तरह बडा कहलाता रहे तो रहे, लेकिन सप्तव्यसनका त्याग किये बिना पूजाका अधिकारी नही है। वह किस तरहसे दृष्टिपात करना चाहिये ? सट्टा और जुआ खेलने वालेका चित्त ऐसा चंचल रहता है कि चित्त और कही नही लगता, उसी तरफ दौडता है। ऐसी चंचलतामे वीतराग और वीतरागताका स्वरूप कैसे आ सकता है ? तब उसकी उपासना कैसे हो सकती है ? इसी तरहसे मासभक्षीके कठोर हृदयमे भी अहिंसामय भगवानका चित्र अंकित नही हो सकता, और मदिरापायी तो विवेकशून्य उन्मत्त ही होता है, उसमे उपासनाका प्रवेश भी नही। शिकार खेलना जैसा निर्दयी और निन्दनीय कर्म करते हुए वीतरागताकी पूजाको स्थान ही कहाँ ? और उसका स्थान हो तो हृदयसे निरपराध प्राणियोको मारनेके मनोरजन कहनेकी कल्पना भी नही हो सकती। वेश्यागामीका चित्त कामकी वासनासे सतप्त और धर्मसे शून्य होता है, उसका अनुराग वीतरागतामे नही, सरागतामे और वह भी अति निन्दनीय वेश्या की आसक्तिमे होता है। चारुदत्त जैसा धर्मात्मा और शीलवान पुरुष जब इस व्यसनमे फंस जाता है तो उसके जीवनमे कैसा विलक्षरण परिवर्तन होता है कि वह पिताकी मृत्युके समाचारको पाकर भी घर नही जाना चाहता, क्षणके लिये भी वेश्याका विरह नही सह सकता। यह अन्य बात है कि उसे अतिम सग उत्तम मिला। चोरी करने और परस्त्रीसेवन के व्यसनी भी हमेशा भयभीत शंकित और पापमे लिप्त रहते हैं। उनसे अच्छे कार्यकी आशा करना कहाँ तक संभव हो सकता है ? जिन्होने परस्त्री और परधनमे अपना चित्त लगा लिया है उन्हे वीतरागतासे क्या मतलब ? और यदि वीतरागतासे मतलब हो तो इन दुर्व्यसनोके प्रति दृष्टिपात ही क्यो हो ? जो सप्तव्यसनोंमे से एकका भी गुलाम है वह देवदर्शन, देवपूजाका अधिकारी नही है। फिर भी कोई ऐसा होकर भी अपनेको उसका अधिकारी मानता हो तो उसके समान पापी कौन होगा ? दुर्व्यसनी मनुष्य देवदर्शन, देवपूजा आदि धार्मिक क्रियाओको करे तो उसका ढोग मात्र है।

पूजककी विशुद्धिकी सार्वकालिकता—जो पूजा करता है, अंतरंगसे पूजाका भाव जिसके होता है, उसके शुभ भाव मंदिरमे पहुंचकर भी नही होते, उसके संस्कार तो चौबीसो घटे उसकी विशुद्धिके कारण होते हैं। सवेरे शय्यासे उठनेके साथ ही देवपूजाका प्रोग्राम उसके मनमे बन जाता है और उसके भावोकी जो निर्मलता होती रहती है उससे पुण्यबध और उस अवस्थामे भी स्वांशिक अशोंमें संवर तथा निर्जरा भी होती है, क्योंकि जब वीतरागकी पूजाका लक्ष्य पहुंचता है, जब वीतरागके स्वरूपमे ध्यान जब टिकता है तब भाव वीतरागता रूप हुए बिना नही रहते। पूजक जब शारीरिक क्रियासे निवृत्त होकर घर

से मंदिरजीको चलता है तब तो परिणामोमे और भी निर्मलता बढ़ती है। उसके भावोमे गंभीरता, वचनमे समिति और चलनेमे सावधानी और दयाकी दृष्टि होती है। घरसे अष्ट द्रव्यको संजोकर मदिरको जा सकता है, लेकिन शिथिलता आ जानेमे रूढि यही है कि सूखी द्रव्य घरसे ले जाते है और मदिरमे अष्ट द्रव्य तैयार कर लेते हैं। वहाँ सरलता और पवित्रतापूर्वक अष्ट द्रव्य तैयार हो जाते है। अत घरसे तैयार कर ले जानेकी प्रथा नही है, लेकिन किसीको घरसे तैयार करके ले जानेमे सुविधा हो और उसमे कोई तरहकी शिथिलता न हो तो घरसे भी द्रव्य बनाकर ले जा सकता है। मार्गमे चलते समय उसका भाव चैतन्यताकी उत्सुकतासे भरा हुआ होता है।

पूजकका नवदेवताओंमें प्रथम जिनचैत्यालयका अभिवन्दन—मदिरकी शिखाके जब दर्शन होते हैं तब पूजार्थी नतमस्तक हो जाता है। यह उसकी जिनचैत्यालय पूजा है। नव देवताओमे एक जिनचैत्य हैं तो जिन चैत्यालय भी देवता है। ब्रह्म देवता यहाँ भी है। वे ९ देवता इस प्रकार हैं—पाँच परमेष्ठी, ६ जिनचैत्य, ७ जिनचैत्यालय, ८ जिनागम और ९ जिनधर्म। इन सबकी पूजा अलग-अलग विधिसे है। साधुकी पूजा प्रतिमाके समान नही होती, प्रतिमाका अभिषेक होता है साधुओका नही। जिनप्रतिमा और जिन-भगवान्की भी पूजा विधिमे समानता नही है। प्रतिमाका प्रक्षाल अभिषेक होता है, अरहंतका नही। जिन-चैत्यालयकी यही पूजा है कि उसे देख विनयके भाव हो, उसके आश्रमसे जिनप्रतिमा और उसकी पूजा है व चैत्यालयकी सुरक्षा है। पूजक अपने निर्मल भावोमे ओतप्रोत वीतराग भगवान् और उनके स्वरूपका स्मरण करता हुआ मदिरकी तरफ बढता है। मार्गमे यदि कोई धर्मात्मा मिलते हैं, और धर्म सम्बन्धी कोई बात करना आवश्यक होती है तो संक्षेप मे भाषासमितिपूर्वक करके, अपने लक्ष्यकी ओर जाता है। रास्तेमे कोई विषय कषायकी बात न करता है और न सुनता है।

जिनमंदिरमें प्रवेश करनेके समयके कर्तव्य—जिनालयके द्वारपर पहुंचते ही नि सहि:, नि सहि:, नि सहि:का उच्चारण करता है। जिसका मतलब होता है कि हमारे जिनदर्शनमें जो आडे हो, बाधक हो वे दूर हो जावें। हमे जिनप्रभुका दर्शन करना है। यह सम्बोध देवमनुष्योके लिये है, अथवा भीतरके रागद्वेष आदि विकारोके लिये भी लागू होता है कि इस समय रागद्वेष आदि भाव उपयोगसे दूर हो जावे और निर्मल चित्तमे वीतरागता होने दे। यहा पूजक मानो रागद्वेषादि भावोपर दया करता है कि कही ये सूचना किये बिना मारे जानेपर क्लिष्ट न हो। पूजक विभावोसे कहता है कि हे विभावो! तुम्हारी सेवामे हम २३ घंटे रहे, अब वीतराग प्रभुके मदिरमे जा रहे है वहां तुम्हारी दाल न गलेगी, बुरी तरह से मारे जाओगे। अतः तुम अभीसे अपनी विदाई लो। नि.सहि:, नि.सहि:। नव आगन्तुक

दर्शनार्थीके लिये वहापर स्थित भाइयोका कर्तव्य है कि दर्शन करनेका अवसर दें। लेकिन दर्शन करने वालेका भी कर्तव्य है कि वह दूसरोको भी कुछ भी वाधा न पहुंचाकर यथा समय यथायोग्य दर्शन पूजन करे, भीडको चीरते हुए चिल्ला चिल्लाकर अन्य दर्शनार्थियोको हटाते हुए दर्शन पूजन करना ठीक नही। दूसरेके मनमे किसी भी तरहका विक्षोभ हो जाय, ऐसा व्यवहार मंदिरमे कदापि न होना चाहिए।

एक कायोत्सर्गमें २७ श्वासोच्छ्वासमें नव बार णमोकार मंत्र जपनेका विधान—पूजक पूजाके यथा स्थानमे पहुचकर यथाविधि स्थित हो जाता है। सामग्रीके साथ और सावधानीपूर्वक विवेक और अतरदृष्टिपूर्वक पूजा प्रारम्भ करता है। और सवसे पहिले ९ बार णमोकार मत्र पढता है, और कायोत्सर्ग करता है, जिसके फलस्वरूप शरीरादिमे रही सही चंचलता दूर हो जाय। १ णमोकार मत्रको श्वासोच्छ्वासमे पढना चाहिये। पहली श्वास मे णमो अरिहताण उच्छ्वासमे णमो सिद्धाण दूसरी श्वासमे णमो आइरियाणं उच्छ्वासमे णमो उवज्झायाण और तीसरी श्वासमे णमो लोए और उच्छ्वासमे सव्व साहूण बोले। इस तरहसे एक णमोकार मत्रको ३ श्वासोच्छवासोमे, और ९ बार णमोकार मत्रको २७ श्वासोच्छवासमे बोले।

स्वरूपस्मरणसहित णमोकारमंत्रके जपनेका विधान—बोलने की क्रियाके साथ प्रत्येक पदके अर्थसे बोधित होनेवाले परमार्थ रूप पचपरमेष्ठियोका स्मरण और उनकी अनुभूति होती रहती है। णमो अरहताण बोलनेके साथ समवशरणमे स्थित अष्ट प्रतिहार्योसे मण्डित परम औदारिक शरीरमे स्थित वीतराग सर्वज्ञ अरहत आत्माकी अनुभूति हो। णमो सिद्धाणं बोलते समय नोकर्मसे भी रहित सिद्धालयमे विराजमान पूर्ण शुद्धात्माका अनुभव हो। णमो आयरियाणं बोलनेपर आचार्यके आठ आचारवान आदि विशेष गुणोंसे पूर्ण शिक्षा देते हुए फिर भी अन्तर्वे आत्मामे बार बार उपयोग ले जाने वाले शिष्योसे मडित आचार्यका स्मरण हो। णमो उवज्झायाणं बोलनेपर चेतनानुभूतिसे भूषित, बाह्यमे पठन-पाठनकी क्रियामे लीन महातत्त्वज्ञानी, वादी, आचार्य द्वारा प्रदत्त यह आसीन उपाध्याय का ख्याल हो और णमोलोए सव्वसाहूणं बोलने पर २८ मूलगुणोंसे पूर्ण शुद्ध उपयोगमे विशेष रूपसे लगे हुए निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओका ध्यान हो। उपयोगमे ऐसे नाना चित्र आ जावें—कोई साधु ग्रीष्मकालमे गिरिशिखरपर ध्यानारूढ आत्मानन्द विभोर बिराजे हैं तो कोई शीतकालमे सरितातट पर आत्मरत हैं आदि आदि।

णमोकारमंत्रके ध्यानका प्रभाव आत्मविशुद्धि—इन परमेष्टियोंके स्मरण और नमस्कारपूर्वक कायोत्सर्ग करनेसे आत्माका आत्मीय सम्बन्ध चैतन्य भावोकी सन्निकटताका सम्बन्ध प्रकरणरूपमे हो जाता है और भगवान्की पूजाकी भूमिका तैयार हो जाती है।

क्योंकि पूजा कोई भी की जायेगी वह होगी, पंचपरमेष्ठियोका संचित्रण हृदयमें कर लेंगे और बाहरके कामकी ममताका उत्सर्ग कर देगे तो वास्तविक पूजा होनेकी क्षमता प्राप्त होगी। पूजकका ध्यान बाह्य द्रव्य या मूर्तिमें ही न उलझकर सीधा चैतन्यको स्पर्श करने लगेगा और फिर पूजनमे न केवल पुण्य बंधा लेगा, अपितु संवर और निर्जरा भी बीच-बीच मे होती चलेगी। पूजाके प्रारम्भमे कायोत्सर्ग करनेकी यही सार्थकता है।

ॐ की ध्वनिका भाव—कायोत्सर्ग कर चुकने पर भक्तके मुँहसे ओ३म् का उच्चारण होते हुये जय जय जयकी ध्वनि निकलती है। ओ३म् शब्द पंचपरमेष्ठियोका प्रतिनिधि है और शब्दोका भी प्रतिनिधि है। तत्त्व ३ होते है—१ ज्ञानतत्त्व, २ शब्दतत्त्व और ३ अर्थतत्त्व। हर एक पदार्थमें ये तीन बातें आती है। जैसे पुस्तकके विषयमे लगाइये तो १ ज्ञानपुस्तक, २ शब्दपुस्तक और ३ अर्थपुस्तक। जैसे कि धवलग्रन्थकी पुस्तकका ज्ञान ज्ञानपुस्तक कहलाया। ग्रन्थका नाम बोलना या लिखना इसमे जो शब्द आये अथवा ग्रन्थ मे जो शब्दविन्यास है, वह अर्थपुस्तक है। और इसी तरह परमेष्ठी वा अरहंत आदिमे तीनों बातें घटाना चाहिये। जैसे हमको अरहंतके स्वरूपका ज्ञान हुआ, वह ज्ञान अरहंत कहलाया। अरहंतका वर्णन करनेवाला जो शब्दसमूह है वह शब्द अरहंत और जो परम औदारिक शरीरमे स्थित अनंतचतुष्टयमंडित वीतराग सर्वज्ञ आत्मा है वह अर्थ अरहंत है। ॐ तत्सत् पदमे ॐ शब्दसे शब्दका प्रतिनिधित्व होता है, तत्से ज्ञानका और सत् शब्द से अर्थका प्रतिनिधित्व होता है। ॐ से सब शब्द, तत्से सम्पूर्ण ज्ञान और सत्से सब पदार्थ गर्भित हो जाते है।

अक्षरोंकी प्रशस्ति—ॐ से सारे अक्षर बनते है। ज्ञानका वाची तत् है क्योकि इस भावसे स्मृतिका रूपक ज्ञान आता है। ॐ का उच्चारण करके वह अक्षरोसे बनी गुण कीर्तिको एक ही साथ पूरी कहना चाहता है लेकिन भक्तकी यह चाह पूरी नही होती, क्यों कि एक ही समयमे सम्पूर्ण अक्षरोका उच्चारण असंभव है। उनका तो क्रम क्रमसे ही उच्चारण हो सकेगा। अक्षर सब ४७ हैं। स्वर और व्यंजनके बोलनेका क्रम है, वह क्रम प्रयोजनपूर्वक है। स्वेन रातीति स्वर अथवा स्वयं राजते इति स्वरा। स्वतन्त्र रूपसे उच्चारण किये जाएं वे स्वर हैं और जो अक्षरों की सहायतासे (व्यजते इति व्यञ्जनं ऐसी व्युत्पत्ति पूर्वक) बोले जाएं वे अक्षर व्यञ्जन है। स्वरोमें पहिले पहल अ आ का उच्चारण करते हैं क्योकि इनका उच्चारण कंठसे है और अवर्णोंकी जननी कंठ है। इनका उच्चारण उसके बादमे है क्योकि कठके बाद कंठके सामने रहनेवाले तालुका नंबर रहता। इसके पश्चात् तालुके समीप बाहर रहने वाले ओष्ठ का स्थान है, जिससे उ ऊ की व्यक्ति होती है। उसके बाद ऊपर मूर्धाका स्थान है। अतः मूर्धासे बोला जाने वाला ऋ आता है और लृ का दत

स्थान है, जिसका नम्बर मूर्धाके बाद आता है। इसी तरह अ इ मिलकर ए बनने के कारण ए ऐ का कठ तालु और अ उ मिलकर ओ बनने के कारण ओ औ का कठओष्ठ स्थान है, जिनका क्रमिक विन्यास उनके उच्चारण स्थानका उच्चारणकी शैलीके अनुसार है। इसी तरह क वर्ग और च वर्ग आदि व्यजनाक्षरोका भी कठ और तालु आदि स्थानोके क्रमसे अक्षरोके विन्यासका भी क्रम रखा गया है।

शब्दब्रह्मकी उपयोगिता व महत्ता—वर्णों का इसलिये खुलासा किया जा रहा है कि अक्षरोसे बनने वाले शब्दोका महत्त्व भी महान है, इसीलिये शब्दको ब्रह्म भी कहते हैं और यहाँ तक कहा गया है कि शब्दसे अर्थकी प्रतीति होती है, अर्थसे तावार्थका बोध होता है, तावार्थका बोध होनेसे परमार्थकी प्रवृत्ति होती है और परमार्थकी प्रवृत्ति होने से स्वार्थकी सिद्धि अर्थात् आत्मसिद्धि होती है। शब्दका आत्मसिद्धिके लिये परपरया ऐसा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध बन रहा है। यह बात तो नही है कि यह सम्बन्ध अविनाभावी हो, फिर भी किसीके लिये निमित्त रूप हो तो परपरा मोक्षका बाह्य निमित्तमात्र औपचारिक कारण होता है, ऐसा कहने मे कोई अनिष्ट प्रसग नही आता। मोक्षप्राप्तिके लिये मूल कारण सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन पैदा होनेमे ५ लब्धियोका होना आवश्यक है। जिससे एक देशनालब्धि है अर्थात् गुरुका उपदेश मिले बिना सम्यग्दर्शन नही हो सकता। उपदेश शब्दात्मक होता है। इस तरह भी शब्द मोक्ष मार्गका साधक है। शब्दकी शक्ति महान् है। भक्त जब भगवानमे तन्मय होकर कुछ बोलने लगता है वह सब बोलना उसका जादू और मत्रकी ताकत रखता है। वह बोलने और सुनने वालेके लिये कर्मपटलको भेद अंतस्तत्वमे ज्ञान चेतना पैदा करने वाला औपचारिक पूर्वज निमित्त होता है।

भक्तका गुणानुराग—भक्त जब भगवानमे एकदम तन्मय हो जायगा उस समय तो वचन प्रवृत्ति भी रुद्ध हो जायगी, लेकिन तन्मयताकी वह स्थिति अधिक देर तक नही रहती और फिर बहिर्व्यापारमे भक्तिका रूप वचनावली या शरीरकी भावभगियोसे प्रगट होने लगता है। भक्ति करते समय जैसे भावोकी अपूर्व छटा होती है, उसी तरह वचन और कामकी क्रिया भी विशेषतया पूर्ण हो जाती हैं। रावण जब भक्तिके रंगमे रग गया तो पासमे कोई वाणी वा दिल न देख अपनी हाथकी नाडीसे वीणाका काम लेने लगा और नसको ही बजाकर भक्तिसे भीग गया। ऐसी अपूर्व भक्तिको निमित्त पाकर आकर्षित हो धरणेन्द्र उपस्थित हुए और उसका उचित सम्मान कर अमोघ विजया शक्तिको साग्रह समर्पित किया। भक्तिसे वह अमोघ विजया शक्ति मिल गई, यह बतानेका लक्ष्य नही। लक्ष्य यह है कि भक्तिपूर्वक वचनकीर्तनमे अद्भुत शक्ति छुपी हुई है। यह बाह्य व्यापार होकर भी निर्मल अन्तःकरणसे यदि उदय हो तो यह महानताका प्रतीक बन जाता है।

ॐ शब्दकी परमेष्ठिवाचकता—भक्तका सर्वप्रथम शब्द जो ओम् निकलता है उसकी भी अपनी विशेषता हैं। ओम्मे पाँचों परमेष्ठी गर्भित हैं। पाँचो परमेष्ठियोके नाम क्रमश. इस प्रकार हैं— १ अरहंत, २ अशरीर, ३ आचार्य, ४ उपाध्याय और ५ मुनि। इन पांचों परमेष्ठी वाचक शब्दोके आदिके अक्षर लेकर ओम् शब्द बना है। अरहंत और अशरीरका अ मिलकर दीर्घ 'आ' बना, आचार्यका 'आ' भी उसमे मिलाकर दीर्घ 'आ' हुआ, उपाध्याय का उ मिलकर 'ओ' बना और मुनिका 'म' मिलकर ओम् बना। उस ओम् सरगमके षड् स्वर धीरे धीरे बोलो तो शरीरके रोम खडे हो जाते हैं। उसके तथा दुनियाका ख्याल भूल जाता हैं और शरीरकी चंचलता भी जाती रहती है। इस ओ को कुल मतवाले जानते है। परमेष्ठी अर्थके और भी अनेक अर्थ अन्तर्निहित हैं।

ॐ शब्दकी तत्त्वस्वीकारसूचकता, देवशास्त्रगुरुवाचकता व रत्नत्रयवाचकता—ओम् का अर्थ हाँ या स्वीकार भी होता है। स्वीकारका मतलब है उस बातको स्व—आत्मरूप करना, परवस्तु आत्मरूप तो क्या होगी लेकिन आत्माकी इष्ट उस वस्तु ज्ञानसे सहमति होना ही आत्माकार करनेका मतलब है। ओम्का अर्थ देव गुरु शास्त्र भी होता है। देव गुरु शास्त्रके वाचक शब्द क्रमश १ आप्त, २ उक्ति और मुनि आदि अक्षर है, जिनके मिलने से ओम् बना। और शब्दसे रत्नम अर्थ भी निकलता है। क्रमसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके द्योतक शब्द १ अवलोकन, २ उद्योतन और ३ मौन हैं। शुद्ध आत्मतत्वके अवलोकनको सम्यग्दर्शन और तत्वोके ज्ञानको उद्योत कहते है तथा यहाँ मौनका मतलब है मुनेर्भावः मौनं। मुनिका स्व आचरण भाव। इन तीनो शब्दोके आदि अक्षर मिलकर भी ओम् बन जाता है।

ॐ शब्दकी उत्पादव्ययध्रौव्यवाचकता व मोक्षमार्गसूचकता—यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका वाचक भी है। व्ययको अत्यय भी कहते है, तो अत्यय और उत्पादके आदि अक्षर मिलकर ओ बना और ध्रौव्यको मध्य भी कह सकते हैं क्योकि अत्यय और उत्पाद होकर भी ध्रौव्य तो दोनो हालतमे मध्यम रूपसे रहता ही है। अतः वह मध्य कहलाया। तब मध्यका आदि अक्षर ओ मे मिलनेसे ओम् बन गया। यह तीनो लोकोंका भी वाची है, अतः ऊर्ध्व और मध्य लोक वाची शब्दोके आदि अक्षरोंसे ओम् बन जायगा। ओम्के आकारपर विचार करें तो उसके ५ खंड, मोक्षमार्ग वा मोक्षसूचक है गुडेरीवाला अथवा ३ अंक जैसा भाग व्यवहारको कहता है क्योंकि व्यवहार विडम्बना या अस्थिर व नाना प्रकारका है। शून्य निश्चयका है, क्योंकि उसका विषय आदि मध्य और अंत रहितके दंडाकार दोनो नमोंकी निरपेक्षताको हटाकर मिलानेवाला प्रमाणरूप है। ऊपरका चन्द्रकला अंश अनुभव कलाको बतानेवाला है, फिर सबसे ऊपर शून्यका मतलब स्वरूपकी प्राप्तिका है जहाँ राग

द्वेष मोह आदि सर्व विभावोकी शून्यता है।

ॐ शब्दकी ज्ञानविधिवाचकता—ओम् यह पाचो ज्ञानोको गर्भित करनेवाला सर्व-विशुद्धज्ञानका प्रतीक है। यथा आभिनिवोधिक ज्ञान, आगमज्ञान, अवधिज्ञान अन्त करण पर्यंयज्ञान व उत्कृष्टज्ञान—इन पाचो ज्ञानोका आदिम अक्षर रखकर परस्पर प्रारभसे अन्त तक सधि करनेपर ओ बना तथा ऊपर जो ० है वह सामान्य ज्ञान वाचक है जिसका न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। सब पर्यायोमे रहता हुआ भी किसी पर्यायमात्र नही है, ज्ञानकी सर्व अवस्थामे वही एक है। सर्व अवस्थाओमे उत्कृष्ट अवस्था केवलज्ञान है। यह उत्कृष्ट ज्ञान सामान्यज्ञानको कारणरूपसे उपादान करके स्वयं परिणमता हैं। इसके अर्थ हमारा प्रयास यह होना चाहिये कि जिसको उपादान करके प्रकट होता है उस सामान्य स्वभावके उन्मुख होकर स्वभावदृष्टिको दृढ बनावे।

ॐ की त्रिविधात्मसंकेतिता, मंत्रमूलता व सप्ततत्त्वसूचकता—ओम् शब्दमे गर्भित अ उ म् के उच्चारण आत्माकी त्रिविधताके सूचक है यथा अ बोलनेमे मुख बहिर्मुख होता है। यह बाह्योपयोगी बहिरात्माका सूचक है, उ बोलनेमे मुखका सकोचसयम है यह आत्मोपयोग संयत अंतरात्माका सूचक है, म् बोलनेमे मुख पूर्ण बद है, यह सर्व रागादि अज्ञान आवरणसे परे अतस्तत्त्व परमात्माका सूचक है। ओम् शब्द केवली भगवानकी दिव्य ध्वनिस्वरूप है, द्वादशागमय है, यह मंत्रोका मूल रहस्य है। ओम् शब्द सप्ततत्त्वोंका सूचक है और इसीलिये 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' सूत्रका प्रतिनिधि है। सप्ततत्वोके ये नाम हैं जिनके आदि अक्षर प्रारभसे संहित होकर ओम्का रूप रखते हैं। १ आत्मा, २ अनात्मा, ३ अक्ष, ४ अनुपस्थिति, ५ अनुत्पत्ति, ६ उत्सरण, ७ मोक्ष। इसी प्रकार ऐसे महत्त्वपूर्ण कितने ही रहस्य इस ओम्मे हैं। पुजारी इस महनीय ओम् शब्दका सभक्ति उच्चारण करता है, स्वरूपकी प्राप्तिमे बाह्य रूपसे शून्यता आ जाती है।

पूजामें मंत्रोंकी जयशद आदिकी सार्थकता—पूजामे अन्तर्भक्तिके साथ बाह्य मंत्रो, द्रव्य वचनोका अवलंबन है, उसकी भी सार्थकता है, क्योकि वचनके बिना न्यासका, लोकव्यवहारप्रवर्तनका कोई उपाय नही है। पूजा बोलनेमे सर्वप्रथम जो ओम् बोला जाता है वह नामनिक्षेपरूप है। स्थापनानिक्षेपका जो मतलब किया जाता है—एक पदार्थका दूसरेमे स्थापना करना सो स्थापनानिक्षेप है, यह स्थूलतासे है। सूक्ष्मतासे उस पदार्थकी उसीमे उस रूप कल्पना करना भी स्थापनानिक्षेप है। उससे जो आगामी कालमे बोध होता है वह द्रव्यनिक्षेप और जो वर्तमानमे हो उसे भावनिक्षेप कहते हैं। ओम्के बाद जयवत होहु वाचक तीन बार जय शब्दका उच्चारण करता है और नमोस्तु नमोस्तु कहकर नमस्कार करता है, किसी महान् आत्माके लिये जो जय, जय शब्दका उच्चारण किया जाता है वह उत्कट

अनुरागका द्योतक होता है। उस महान् आत्मा या परमात्माकी जय हो चुकी, फिर भी अनुरागवश इन शब्दोका उच्चारण होता है। उस जय जयके उच्चारणमे बोलने वालेकी जय भी सार्थक है। जब वह परमेष्ठीरूप अपनी आत्माका अनुभव करता है तब उसके स्वय चैतन्य स्वरूपकी एकताका प्रतिभास होता है और वह पूर्ण शुद्धरूप प्रगट होने वाला है, यह उसके लिये जय का मतलब है।

द्विविध नमस्कार—नमस्कार दो तरहसे होता है—(१) द्रव्यनमस्कार और (२) भावनमस्कार। हाथ जोड शिरोनति करना द्रव्यनमस्कार है और बाह्य कोई क्रिया न करके अपने भाव (पूज्यमे) लगाना भावनमस्कार है। भावनमस्कार दो प्रकारका है—१ द्वैत, और २ अद्वैत। परमेष्ठी के गुणचिन्तन आदिसे आदर करना द्वैतनमस्कार है और जब पूज्य और पूजकमे चैतन्यस्वरूपका मिलान होते होते भाव पूज्य पूजक भाव्य भावक की कल्पनासे रहित हो जाता है, पूज्य और पूजकमे एकतानता प्रगट हो जाती है, ज्ञाता दृष्टापन केवल प्रतिभासित हो जाता है वह अद्वैतभाव नमस्कार है। पहले तो पूजक अपने स्वभाव का पूज्य परमेष्ठीसे मिलान करता था। लेकिन ये सब कल्पनाए जहा विलय हो गई वहा एक अद्वैतता ही रह जाती है और वही अद्वैत नमस्कार है।

पञ्च परमपदकी भक्तिकी उपयोगिता—उत्कृष्ट स्थितिको प्राप्त करने मे ५ चीजे आती हैं—१—अरहंत, २—सिद्ध, ३—आचार्य, ४—उपाध्याय, ५—साधु। जिन्हे संसारके दु खोसे भय हो गया, परको पर समझ लिया, स्वको स्व जान लिया, अपनेको ज्ञाता दृष्ट समझ लिया, मैं स्वय अपने आपमे ठहरा हुआ हू ऐसी जिनकी भावना हो गई ऐसे महान साधक गुरु कहलाते है। उनमे ही जो द्वादशाग विद्याके अधिकारी विद्वान् है, निरतर पठन-पाठनमे रत रहते है और आचार्यसे जिन्हे वह पद मिला है वे उपाध्याय है। उन साधक पुरुषोकी गोष्ठीका जो नायक है, वह आचार्य है तथा आचार्य और उपाध्यायके विशेष पदसे रहित जो सामान्य गुरु सज्ञा वाले निर्ग्रन्थ साधक है वे साधु परमेष्ठी है। इनमे से जो साधनाके बलपर विशेष पद पूर्ण वीतरागताको प्राप्त कर लेते है वे अरहंत कहलाने लगते हैं। क्योकि वे ४ महान कर्म शत्रुओको हनन करके परास्त करके वह पद पाते है। वही अरहत जब शरीररहित हो जाते हैं, शेष नीरस ४ कर्म भी जिनके नष्ट होकर सिद्धालयमे विराजमान होते है वे सिद्ध कहलाते है। मोक्षमार्गमे ये ५ पद हैं। इनकी वास्तविकता वैज्ञानिक और स्वाभाविक हैं। इनमे कल्पनाके लिये स्थान रचमात्र नही है। इन पाँच परमेष्ठियोके वाचक जो पद है जिनमे णमो शब्द नमस्कारसूचक प्रत्येक पदके साथमे है वह णमोकार मत्र या नमस्कार मत्र है, जो इसी प्रकार है। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं। णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

अरहंत व सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधुको भी—इस मंत्रमे सर्वप्रथम अरिहंतो को नमस्कार किया है जिनके कि ४ घातिया कर्म नष्ट हो जाते है। अनत चतुष्टय मडित हो जाते है, मनुष्य लोकमे रहते है। अभी यहाँ भरत क्षेत्रमे अरहत नही है, विदेहक्षेत्रमे जिससे कि मोक्षमार्गकी परपरा वहा निर्बाध चल रही है, अगृहीत मिथ्यात्व वहाँ के मनुष्यमे भले ही रहो, लेकिन गृहीत मिथ्यात्वके साधन कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुका वहा अस्तित्व नही है। प्रधान रूपेण धर्मकी प्रवृत्ति रहती हे। तो ऐसे अरहतोको नमस्कार, परक पहिला पद है, जिसका पूरा अर्थ है लोकमे सब अरहतोको नमस्कार हो। पाँचवे अन्त्य पदमे जो लोए सव्व शब्द पडा है, वह अतदीपक है अर्थात्, अतमे रहता हुआ भी पहिलेके पदोके अर्थमे भी शामिल है। अत लोए सव्व पद अतके सिवा ऊपरके ४ पदोमे भी लगाना चाहिये। दूसरे पदका अर्थ है कि लोकमे सब सिद्धोको नमस्कार हो। जितने भी अनत सिद्ध है वे लोकके अग्रभागमे होकर भी लोकके बाहिर नही हे और गुणोमे सब समान है। एक सिद्धमे अनतसिद्ध आत्माए निर्बाध रूपसे रहती है। तीसरे पदका अर्थ है लोकमे सब आचार्यो को नमस्कार हो। चौथे पदका अर्थ है लोकमे सब उपाध्यायोको नमस्कार हो और पाँचवे पदका अर्थ हे लोकमे सब साधुओ को नमस्कार हो।

इनका स्वरूप साधारणतया ऊपर बताया जा चुका है। आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठियोमे ज्ञान, ध्यान और तप की विशेषता रहती है, जैसा कि गुरुलक्षणमे कहा है—विषयाशावशातीतो निरारम्भोपरिग्रह। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते। अर्थात् जो विषयोकी आशासे रहित, आरम्भ और परिग्रह रहित ज्ञान, ध्यान और तपमे लीन हो वह तपस्वी साधु, गुरु या मुनि कहलाता है। तो गुरुके लिये करनेको ३ बातें हैं—१ ज्ञान, २ ध्यान और ३ तप। ज्ञानमे स्थित रहता केवल ज्ञाता दृष्टा बने रहना यह पहिला काम है, और इसमे आत्माकी सर्वोत्कृष्टता है यह स्थिति मात्र ज्ञानरूप है। यदि इसमे आत्मा उसमे सर्वोत्कृष्टता है, यदि इसमे स्थिति न रह सके तो ध्यानमे स्थिर रहे। इस ध्यानकी स्थिति मात्र ज्ञानमय स्थितिसे न्यून हे। यदि आत्माकी एकाग्रतारूप ध्यानकी स्थिति भी न रह सके तो तपमे लगे। आभ्यतर या बाह्य, जब जैसे सभव हो। जगतमे गुरु विलक्षण उपकारी है कि हम उनसे किसी भी तरह उऋण नही हो सकते। उनके उपकारको हम कभी नही भूल सकते। गुरुकी अनुकम्पाका ही प्रसाद है जो हमारे ज्ञाननेत्रोको खोलनेके लिये समीचीन शास्त्र उपलब्ध है। इन पाँच परमेष्ठियोसे हमे चैतन्यदेवकी साक्षात्कारितामे भारी मदद मिलती है। इसलिए वे हमारे परम आराध्य है।

णमोकार मन्त्रके उच्चारण व इस मंत्रके लाभ—णमोकार मत्र १८४३२ तरहसे पढा जा सकता है लेकिन इन विकल्पोमे बहुतसे गौण है, विकल्पसे निष्पन्न है। वर्तमानमे

जो पाठ प्रचलित है वही मुख्यत बोलना चाहिये । णमो अरहताणको णमो अरिहताण भी बोलना उपयुक्त है और मुख्यतासे ऐसा ही बोलना चाहिये । णमोकार मत्रके १८४३२ प्रकार इस तरह है कि णमो अरिहताण १२ लहसे बोला जाता है, सिद्धाण ४ तरहसे णमो आइरियाण २४ तरहसे, णमो उवज्झायाण ४ तरहसे और णमो लोए सव्वसाहूण ४ तरहसे । इस प्रकार १२, ४, २४, ४, ४ = १८४३२ प्रकार हो जाते है । ये सब रूप प्राकृत व्याकरणके सूत्रोसे निष्पन्न होते है । इसका पृथक् विवेचन एक पुस्तिकामे किया है उसे देखिये । इस णमोकार मत्रमे ५ पदोके ३५ अक्षर है और आर्यागाथा होनेसे ५७ मात्रा है । इस मत्रसे सब मंत्र तत्र निकले है और इससे (इसकी आराधनासे) अनेक ऋद्धियॉ प्रकट होती है । णमोकार मत्रमे जिन्हे श्रद्धा है वे उसके प्रताप और प्रभावसे अनेक लौकिक और पारलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते है । पॉच परमेष्ठियोके स्वरूपमे जो तन्मय हो जाते है उन्हें तो आत्मरूप परमात्मपदकी प्राप्ति होती ही है, लेकिन जो ऐसे तद्रूप नही हो पाते या क्षणिक स्थिर रह सकते है वे भी अलौकिक विभूतिको पाकर परपरा मोक्षके अधिकारी होते है । इसके अतिरिक्त जो इसमे नाम रूपसे ही दृढ श्रद्धान रखते है उनके भी अनेक लौकिक कार्य सिद्ध होते है, विपदाएं दूर होती है । होना चाहिये श्रद्धापूर्वक । अत इसकी उपासना बडी श्रद्धा और दृढतापूर्वक करना चाहिये । इसकी भाव उपासना करनेवालोका ही जन्म सफल है । इसकी आराधना करनेमे ही सच्चा पुरुषार्थ है, वही एक बडी करतूत है । सारका विकारी पर्यायोको लिये कुछ भी करना पुरुषार्थ नही है । व्यक्ति दो ही काम कर सकता है विकल्प और निर्विकल्प रूप आत्मा परिणाम, तो विकलपोको बढाना तो ससार का कारण है और उन्हे घटाकर निर्विकल्प स्थितिमे आना मोक्षका कारण है । इसके आगे आराधक अनादिमूलमत्रेभ्यो नम पदका पुष्पाजलि क्षेपण करता है । उक्त मत्रका स्तोक रूप ओ नम है, अर्थात् पाँच परमेष्ठियोको नमस्कार हो । यह मत्र विस्तारका सक्षेप रूपमे अनादि अनिधन है, और अन्य मत्रोका मूलमत्र है । अत उक्त पद बोलकर पुष्पकी अजुलि क्षेपण करने है । इसके आगे चत्तारि दडक पढने है ।

चार मंगल—चत्तारिमगल— अरिहता मगल, सिद्धागमगल, साहूमगल, केवलिपण्णात्तो धम्मो मगलं । म—अर्थात् पापको जो गालयति अर्थात् गाले, नष्ट करे उसे मगल कहते है अथवा पथ सुखको कहते है उसे जो लावे उसे मगल कहते है । चत्तारिका अर्थ—चत्ता प्राकृत शब्दका अर्थ होता है छोडना और अरि माने शत्रु । तब यहांपर अर्थ हुआ कि जो छोड चुके हैं कर्म शत्रुओको जो ऐसे अरहत सिद्ध परमेष्ठी जो कर्म शत्रुओको छोड रहे है ऐसे आचार्य उपाध्याय सहित साधु परमेष्ठी और कर्म शत्रु जिससे छूटते है ऐसा केवली प्रणीत धर्म है । धर्म पदमे एक वचन होनेसे धर्मकी एकरूपता प्रगट होती है, अर्थात् धर्म

वस्तुस्वभाव रूप अहिसाका वीतरागता रूप एक ही है, व्यवहारसे उसे भले ही रत्नत्रय रूप या दश लक्षरण उत्तम क्षमादिरूप कहा जाय प्रभात समय जो मगलरूप वस्तु देखना चाहते हैं, उन्हे इनका ही या इनकी प्रतिमूर्तिका अवलोकन प्रभातके प्रथम समयमे करना चाहिए। प्रत्यक्षरूपमे परमेष्ठी उपलब्ध न हो तो परोक्षमे उनका स्मरण और कीर्तन करके भी हमारी मगल-कामना सफल हो सकती है, और धर्म तो बाह्यकी वस्तु ही नही भीतर अपने शुद्धरूप का अनुभव करना ही धर्म है और वही मगल है। निश्चयसे कहो तो हमारी शुद्ध चैतन्य-परिणति ही मगल रूप है। प्रतिसमय व प्रभातसमयमे जो इस परिणतिको करते है, चैतन्य आत्माका अवलोकन करते है उनके सदा मगल ही मगल है, दु खमे और सुखमे, सपदामे और विपदामे और सभी दशाओमे सब जगह। विषयके पापवाली चीजोको मगलरूप मानना भ्रम है, उनका दर्शन जीवोके कल्याणके लिये नही अकल्याणके लिये होता है। विषयक पाप को पुष्ट करता है जिससे ससारमे और दु ख बढता है। चत्तारि शब्दका अर्थ ४ मुख्यतासे है जिसका मतलब हुआ कि ४ वस्तुएँ मगलरूप है।

चार लोकोत्तम--लोकमे उत्तम वस्तुएँ भी वही ४ है, यथा--चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहता लोगुत्तमा सिद्धालोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। अरहंत सिद्ध साधु और केवली प्रणीत धर्मके सिवा और कोई पदार्थ उत्तम नही है, और कोई पदार्थ उत्तम नही कहे जा सकते हैं।

चार शरण—चत्तारि सरण पव्वज्जामि, अरहते सरण पव्वज्जामि, सिद्धे सरण पव्वज्जामि, साहू सरण पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरण पव्वज्जामि। यदि शरण-भूत वस्तुए है तो ये ही ४ हैं। और सर्व अशरण हैं, दु खमयी है, दु खदायक है, निश्चयसे ये ४ भी एक चैतन्य शुद्धपरिणतिके वाचक है, अत निश्चयसे शुद्ध चैतन्य भाव ही शरण रूप है। इस तरहकी वचनावलोके साथ भावोको चैतन्य परिणतिमे अपनेको घुमाता हुआ पूजक भगवानकी भक्तिरसका पान करता है। इन्ही भावो और अनुभूतियोसे वह परमात्मा और आत्मामे एकाकारताकी स्थापना करता है। द्वैतसे अद्वैतको पहुचता है उसका वही लक्ष्य भी है। इन मगल, उत्तम और शरण रूप वस्तुओका पाठ पढकर ओ नमो अर्हंत 'स्वाहा' बोलकर पुष्प क्षेपण करता है, अतरवृत्तिके आदर भावोको पुष्पाजलिके रूपमे बाहिर प्रगट करता है, बाह्य वचन प्रवृत्ति और द्रव्य अर्पणकी क्रियाके साथ-साथ प्रधानत पूजककी वृत्ति अतस्मे विशेष रहती है। क्योकि वास्तविक पूजा वहाँ ही होती है, आराध्य देवकी स्थापना का स्थान वही है। मूर्ति मात्र बाह्य अवलबन है। आगेके लिये पाठ पढा जाता है—

अपवित्र पवित्रो वा सुस्थितो दु स्थितो अपि वा।
ध्यायेत् पचनमस्कार सर्वपापै प्रमुच्यते ॥

सर्वस्थितियोंमें पञ्चनमस्कार मंत्रके ध्यानका फल सर्वपापविमोचन—चाहे अपवित्र हो या पवित्र, अच्छी तरह बैठा या खडा हो या यथासंभव स्थितिमे हो, किन्तु पंचनमस्कार मंत्रका तद्वाचक पाँच परमेष्ठियोका ध्यान करनेसे सर्वपापोंसे छुटकारा होता है। अपवित्रता वा पवित्रता लोक व्यवहारकी अपेक्षा है। निश्चयसे बाह्य मलिनता है और निर्मलता नही, अतरंगमे जो रागद्वेषादि विकार है वही मलिनता है। वह जहाँ नही होती वहाँ निर्मलता है। अत अन्तर्दृष्टिसे निर्मल होना चाहिये। शरीरकी हालत घिनौनी भी हो लेकिन शुद्ध मनसे परमेष्ठियोका स्मरण या मत्र जाप्य पापोको धो देता है और शरीर पवित्र ही हो लेकिन अन्तरगमे श्रद्धा और विवेक न हो तो मत्र जाप्यसे भी विशेष लाभ नही होता। इसका यह मतलब न लेना कि भगवान्की पूजा बिना नहाये धोये जैसी तैसी गदी हालतमे करें, लेकिन मतलब यह है कि बाह्य शुद्धि जहाँ तक रख सकते है रखकर भी विशेष ध्यान अतरग शुद्धि का रखना है। कोई समय शरीर अपवित्र भी बना रहे तो भी परमेष्ठियोका ध्यान और मत्रजाप्य तो कर सकते है। रजस्वलाके समय स्त्री मंत्र जाप्य वा पूजा पाठ नही परन्तु ध्यान रूप कर सकती है। पापोसे छूटा जा सकता है। पाप कहते है जो बचावे उसे पाति रक्षति, तो पाप किससे बचाता है; पुण्यसे और धर्मसे।

मिथ्यात्व व कषायसे हटकर आत्मशुद्धिकी ओर आनेका अनुरोध—पाप मुख्यमे मिथ्यात्व और कषाय है। मिथ्यात्व परको अपना समझनेकी मान्यता, यह सबसे बडा पाप है। इस पापके दूर हो जानेपर ध्यान अध्ययनकी सिद्धि शीघ्र और विशेष होती है। जिनके मिथ्यात्व पाप गया, ज्ञान दृष्टि आई, आत्मस्वरूपका प्रतिभास हुआ कि चिरकालके पापोका पलायन होने लगता है। फिर उनके ठहरनेके लिये अवकाश नही रहता। लेकिन किस समय कैसी निर्मलता होगी, इसको नही कहा जा सकता। हो सकता है कि कभी सामायिक मे जो एकाग्रता न हो पाई हो वह साधारण समयमे हो जाय, अन्तरगका हाल बडा अनोखा है। बाहिरसे उसका ठीक ठीक पता नही पड सकता। भीतर भावके लिये बाहिरी अदाज गलत वा भ्रमपूर्ण हो सकते हैं। फिर भी भगवान्की पूजा करनेसे जीवन पवित्र बन ही जाना चाहिये। पूजा करके भी जीवनमे प्रामाणिकता नही आई, आत्मस्वरूपकी ओर लक्ष्य नही फिरा तो पूजासे लाभ ही क्या लिया? व्रत उपवास करके भी आत्मरुचि, प्रवृत्तिके उपायोकी मदता नही हुई तो समझो कि उसने चैतन्य भगवान्के दर्शन ही नही किये। वस्तुत मलिन आत्मासे भगवान्की पूजा नही हो सकती।

धर्म एवं पञ्च परमगुरुवोंकी सच्ची वन्धुता—धर्म या परमेष्ठी हमारे सच्चे अर्थों मे बधु हैं, क्योकि बन्धु वही है जो आत्माका हित साधे। अर्थात् जो धर्मसे सम्बन्ध करावे ऐसा मोक्षमार्गी गुरु या साधर्मी श्रावक बन्धु है। परिवारके लोग बन्धु नही, क्योकि वे तो

धर्मसे नाता तोडनेकी कोशिश करते हैं, राग बढानेको प्रोत्साहित करते है। होना तो यह चाहिये की पति पत्नी, पिता पुत्र, भाई भाई आपसमे एक दूसरेको ऐसी सलाह दे कि जिससे धर्मकी रुचि दृढ हो, धर्मकी तरफ विशेष प्रवृत्ति हो। घरमे कोई बीमार हो तो धर्म बुद्धिसे उसकी यथोचित वैयावृत्ति करनी चाहिये। शरीर की ग्लानि नाक भौं न सिकोडे, गन्दे शरीरके भीतर भी आत्माको निरखे कि इस मलीन देहमे, आत्मदेव विराजमान हैं जो स्वाभावत सिद्धतुल्य चेतनाके पुञ्ज है। आत्माकी विकारी अवस्थापर भी ऐसा ध्यान न दें और न ऐसा ही विचारें कि अमुक व्यक्तिने ऐसा पाप किया था। जीवके भाव हमेशा एकसे नही रहते। जो कभी खराब था वह पीछे अच्छा भी हो सकता है। कथा और पुराणो मे ऐसे दृष्टात देखने को मिलेंगे कि उन्होने जीवनका बहुभाग दुर्व्यसनोमे बिताया, लेकिन जब कर्त्तव्यका बोध हुआ तो ऐसी साधना की कि उसी भवमे भगवान् बन गये। गलती किससे नही होती ? सभीसे होती है, हम भी कितने दोष करते रहते हैं सो विचार लो। अच्छे अच्छे निन्द्य आचरण करने लगते हैं। और वे ही जब अपनेको सम्भालते हैं तो फिर उसी उच्च पद पर पहुच जाते हैं। यही नही सर्वोच्च सिद्ध पदको पा लेते हैं। तो परिणामोमे ऐसा विवेक लाओ जिससे धर्म की योग्यता आवे।

पापप्रक्षयसे आत्मविशुद्धिकी जागृति—गुरु वर्णी जी ने एक सच्ची घटना सुनाई थी जिससे हृदय परिवर्तनके बारेमे काफी प्रभाव पडता है। वह ऐसी कि एक जमीदारकी लडकी विधवा हो गई। वह विधवा लडकी सुसरालमे न रह अपने पिताके घर पर ही रहने लगी। लेकिन अपने शीलको सुरक्षित न रख सकी और दुराचारिणी हो गई। लेकिन कुछ समयके बाद ही उसकी अतरात्मा पापोसे घृणा करने लगी। जब उसकी मृत्युके कुछ दिन शेष रह गये तब उसके मनमे निर्मलता बढने लगी। उसको मालूम पड गया कि मेरी मृत्युके इतने दिन शेप रह गये है। उसने निश्चय किया कि तीर्थपर जा भगवद्भक्तिमे लीन होकर प्राण छोडे। उसने यह विचार अपने पितासे व्यक्त किया। पिताने उसे अपनी सहमति दे दी। जब वह गावसे जाने लगी तो गाँवके बहुतसे भाई वहिन इकट्ठे हो गये। उन उपस्थित व्यक्तियोसे कहती है कि अभी तक हमने वहुत पाप किये, जिस पापसे हमारे रहने वाले स्थानके बगीचेके फलोमे कीडे पडने लगे, पानी कडुवा हो गया। लेकिन अब हमारे भाव निर्मल हुए है। पापोका प्रायश्चित करते हैं और तीर्थराजपर जाकर भगवान की भक्तिमे लीन हो शेष आयु पूर्ण करते हैं। अब हमारा हृदय अच्छा होनेसे वगीचेके फल और कुएका पानी अपनी अच्छी हालतमें हो गये होगे। लोगोने जाकर देखा तो उसके कथनानुसार फल सुस्वादु, कीडोसे रहित और पानी मीठा पाया। पश्चात् उस विधवाने तीर्थपर जाकर भगवान्की भक्तिमे लीन रहनेकी दशामे प्राण छोडे। तो ऐसा कभी मत

सोचो कि फलानेने ऐसा पाप किया था, वह पुण्यात्मा वा धर्मात्मा कैसे बनेगा ? या अपने बारेमे ऐसा मत विचारो मैंने यह पाप किया है अब मैं पुण्यात्मा या धर्मात्मा नही बन सकता। जिस क्षणमे पाप छोड दिया जाता है उसी क्षणमे आत्मा पुण्यात्मा बन जाता है। और यदि रत्नत्रयका उदय हो गया तो धर्मात्मा भी बन जाता है।

नमस्कारमंत्रके जापकी विधि——नमस्कारमंत्रके जपनेके लिये पहिले पुण्य परमेष्ठियों का स्वरूप जानकर हृदयमे अच्छी तरह अंकित कर लेना चाहिये, और मंत्रमे जिस पदको बोले उनके अर्थ और परमेष्ठीके स्वरूपको विचारता जाय। मत्रकी जाप्य कितनी संख्यामे हो, कितने समय तक हों, इसका ख्याल न रखे और उसे अधिकसे अधिक एकाग्रता तथा निर्मलतापूर्वक जपता रहे। इस शैलीसे मत्रजाप्य द्वारा एक अपूर्व आनन्द आवेगा और आगे आगे विशेष दृढता होती जायगी। तब जल्दी खतम करने को चित्त आकुल न होगा। इस शैलीमे यह जरूरी नही कि १०८ बार ही मत्र जपना चाहिये, गिनतीपर ध्यान जाने से हृदय उतना गहरा नही पहुंच जाता और एकाग्रता भी उतनी नही हो पाती। लेकिन जिनके चित्त अधिक चचल होते है, उनके लिये १०८ बार जपने की बात ठीक है। नही तो वे १०–१२ बार ही जपकर उठ जाए। दूसरी रीति मंत्र जाप्यकी यह है कि हृदयमें आठ पाखुडी वाला कमल बिचारे और उसके बीचमे उसकी कर्णिका। प्रत्येक पाँखुडी वाला और कर्णिकामे १२, १२ बिन्दु बिचारे, फिर एक एक पाखुडीके एक एक बिन्दुपर मंत्र बोलता जाय, इस तरह १०८ मत्रकी जाप हो जायगी। इससे भी सरल रीति यह है कि हृदय कमल पर कल्पित मनके आठ पाँखुडी और एक बीचमे कर्णिका कमल पर क्रमश उन ९ स्थानोमे एक मंत्र बोलता जाय और दाहिने हाथकी अंगुलीके पोरे पर पूर्णाको १२ चक्कर होने पर १०८ मत्रकी जाप्य हो जायगी। इससे भी सरल उपाय है कि दाहिने हाथकी अंगुलियोके १२ पोरोपर क्रमसे मत्र बोलता जाय और १२ पोरो पर बोल चुकने पर बाये हाथके १ पोरा पर अगुली रखे, इस तरह ९ बार करने पर १०८ मत्रका जाप्य हो जायगा। और यह भी न बने तो १० दाने की माला ले ले और एक एक दानेपर मंत्र बोलता जाय तो १०८ मंत्र की जाप्य हो जायगी।

अपवित्र पवित्रो वा सर्वास्था गतोपि वा।
य स्मरेत्परमात्मान स बाह्याभ्यन्तरे शुचि ॥

नमस्कार मंत्रका स्मरण करनेवालेकी बाह्य व आभ्यन्तर दोनों रूपोंमें पवित्रता—— बाह्यमे अपवित्र वा पवित्र किसी भी दशामे हो किन्तु परमात्माका स्मरण करे तो बाह्य और आभ्यन्तरसे पवित्र हो जाता है। मुनिका धूल-धूसरित शरीर भी रत्नत्रयकी पवित्रता से पवित्र ही कहलाता है जबकि विषयी और कषायी जीव शरीरको साबुनसे मल मल

धो ले तो भी मलिन ही है। वैसे तो शरीर मलिन रूप ही है बाहरी भागको साफ कर लेनेपर भी भीतर हाड मास लोहू विष्टा पीप और मूत्र भरा हुआ है, इन ही से बना हुआ है। उसकी पवित्रता और पूज्यता है रत्नत्रयादि गुणोसे, परमात्माकी भक्तिसे, दया दान और संतोषसे। इसीलिये कहा कि शरीरकी कैसी भी दशा हो यदि भगवान्का स्मरण, कीर्तन, पूजन, दर्शन, वन्दना कर कर रहे हो तो पवित्र ही हो, क्योकि आत्मा है इसलिये। रागी द्वेषी मोही आत्मा जब पुद्गलस्कन्धोको शरीररूप ग्रहण करता है तब वे पुद्गल जो पहिले अपवित्र नही थे पीछे अपवित्र होने लगते हैं उन्ही पुद्गलोका हाड मांस मल मूत्र बनने लगता है, तो यह विकारी आत्मा ही मलिन है, जिसके सयोगसे वर्गभावोमे मलिनता का दोष पैदा होता है। किन्तु परमात्माके ध्यानसे अन्तर और बाहिर पवित्र होता है।

परमात्मा दो तरहके है, १ कारणरूप परमात्मा और दूसरे कार्यरूप परमात्मा। कार्यरूप परमात्मा अरहत और सिद्ध भगवान हैं लेकिन कार्यरूप परमात्माकी पवित्रता जिस आत्मासे बनी वह कारणरूप परमात्मा है। ध्यानके लिए कौन परमात्मा मुख्य हैं जिसके ध्यानसे अरहत और सिद्ध बन जाते हैं वह कारणरूप आत्मा ही मुख्य है, क्योकि अरहंत और सिद्धका ध्यान तो मोक्षमार्गकी पहिली अवस्थामे होता है, प्रमत्त दशामे ही होता है, उसका ही ध्यान रहनेसे अरहंत सिद्ध अवस्था प्राप्त नही हो सकती। अरहत और सिद्ध का ध्यान विकल्प रूप है, निर्विकल्प रूपसे ध्येय रह जावे ध्यानकी यह मंसा है। परमात्मा के ध्यानके लिए अहकार और ममकारका त्याग होना चाहिये, यदि यह त्याग कर सके तो कार्यपरमात्माका ध्यान करके कारणपरमात्माका भी ध्यान हो सकेगा और फिर ध्यान ध्याताकी अवस्थासे ऊपर स्वय ध्येयरूप हो जायेगा।

अपराजित मन्त्रोय सर्वविघ्न विनाशन ।
मगलेषु च सर्वेषु प्रथम मगल मत ॥

णमोकार मंत्रकी अपराजितता—यह णमोकार मत्र अपराजित है, क्योकि इसमे सर्वोत्तम पदार्थ परमेष्ठीकी वाचकता है, परमेष्ठीसे बढकर कोई नही है। जो उसकी आरा-धना करता है वह किसी भी शक्तिसे पराजित नही हो सकता। वह हमेशा विजयशील, उन्नतपथगामी होता है। कोई विघ्न बाधाका अदेशा इसके आराधकको नही होता। जो बात या घटना वधू बनकर आती है वह साधकके लिये अधिक दृढताका कारण होती है। हाँ यदि साधकमे पूर्ण श्रद्धा और दृढता न हो और वह अपने पथसे विचलित हो, मूढता प्रलोभन और भ्रममे आ जाय तो यह आराधककी कमी है कि आराधक मन्त्र वा उनके वाच्यार्थ देवताओ स्वरूपकी बाह्य दृष्टिसे परमेष्ठीकी आराधना कही, लेकिन निश्चयसे अपने ही शुद्ध चैतन्य भावोकी ही आराधना है। जो अपने चैतन्य भावोकी आराधनामे लगा होगा

कदाचित् आराधकके सहायक होते हैं।

एसो पच णमोयारो. सव्व पावप्प णासणो।
मगलाण च सव्वेसिं पढम हवइ मगल ॥

पञ्चनमस्कार मंत्रकी सर्वपापप्रणाशकता—यह पच नमस्कार मत्र सब पापोका नाश करने वाला है और मागलादिक सब वस्तुओमे प्रधान मगल है। जिन्होने अपने चैतन्य दैवत्वको प्राप्त कर लिया अथवा उसको प्राप्त करनेमे लगे हुए है ऐसे अरहत सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी की आराधनासे हम अपने चैतन्यदेवको ही पूजते है, चैतन्य भावोको ही पूजते हैं, और इससे सम्पूर्ण पापोका नाश हो जाता है। उन परमेष्ठियोका ध्यान और अर्चन करते समय अपने चैतन्यदेव कारण अवलोकनका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। अथवा परमेष्ठियोके स्मरण अवलोकनमे अपने चैतन्यदेवका अनुभव हो जाता है। जितने समय तक पर आश्रय रहेगा उतने समय तक चैतन्यभावोका अनुभव न होगा। चैतन्यभावोके अनुभवके पहिले शुभ अनुभव होगा ही होगा। आज तक किसीको भी ऐसा नही हुआ कि अशुभ उपयोगसे एकदम शुद्ध उपयोग हो गया हो और बीचमे शुभ उपयोग न रहा हो। देव, शास्त्र और गुरुकी पूजा शुभ उपयोगके लिए मुख्य साधन है। लेकिन लक्ष्य शुद्ध अनुभवका रखे तब उस पूजनकी सार्थकता है। पूजामे बाह्य क्रिया पर उतना बल न देकर शुद्ध भावो पर पहुचनेका लक्ष्य बलपूर्वक होना चाहिये। शुद्ध भावोके पहिले आदर्शरूप परमेष्ठीका ध्यान जाता ही है, इसलिये उनकी आराधना अनिवार्य है। दूसरी वस्तुएं शुद्धतत्वके विपरीत हैं, अत चैतन्य भावो तक पहुचनेके लिए पहिले पच परमेष्ठीका ध्यान आता ही है। जिस समय परमेष्ठीका चिंतन मनन पूजन और अनुभव होता है उस समय तो अति शुभ परिणामोके होनेसे पाप होता ही नही, इसके अतिरिक्त पूर्वसचित पापोकी स्थिति और अनुभाग भी क्षीण होकर अल्प रह जाती है, आगामी काल के लिये भी पापका प्रबल और लम्बी स्थिति पूर्ण उदय होनेसे रुक जाता है, क्योकि वर्तमान ऐसा पाप बध किया नही, पूर्वका पाप निर्बल पड गया, तब जब तक कि अशुभतम भावोसे ऐसा पाप न बांधे तब तक वैसा उदयमे कैसे आ सकता है? नही आ सकता। लेकिन परमेष्ठियो की आराधना से जो सस्कार बनते है उससे यह कम सभव होता है कि घोर पापोके बध योग्य क्लिष्ट परिणाम हो क्वचित् कदाचित् तो हो सकते हैं, उनका निषेध नही है।

पञ्चनमस्कार मंत्रकी प्रथम मंगलरूपता—लौकिक सब मगलोमे पच परमेष्ठी प्रथम या प्रधान मगल है, क्योकि पापोको नष्ट होनेके लिए परमेष्ठी रूप मगल ही सर्वोत्तम साधन वा निमित्त है। पानीसे भरा कलश मगलरूप माना जाता है, वह इसलिये कि हम अपने

उद्यम और उसके फलमे भरपूर रहे अथवा आत्मा ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण है, बीचमे कही भी वह खाली नही है, ऐसा निजस्वरूपका बोध करानेके लिए कलश दृष्टान्त बना है। कन्याको मंगल कहा, वह इसलिए कि वह गृहस्थीके पापोसे रहित निर्विकार है, तो आत्माकी निर्विकारताकी दृष्टान्तता इसमे भी है। इसी तरह दही हल्दी आदि आत्माके शुभ भावोके द्योतक होनेसे मंगल रूप माने गये है। मतलब यह कि सम्पूर्ण मागलिक पदार्थोंकी मगलसूचकता आत्माके शुभ भावोके प्रतीक रूपमे है। अत मांगलिक वस्तुओमे परमेष्ठी आद्य मंगल है। वे हमारे स्वरूपके उद्बोधनमे उत्तम साधन रूप है। कहा भी है– जो जाणदि अरहंतं दव्वेदि गुणेहिं पज्जयत्तेहिं। सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्सलयं ॥ अर्थात् जो आत्माको द्रव्य गुण पर्यायरूपसे जानता है वह अपनी आत्माको जानता है, और ऐसे ज्ञानीके कर्म लय हो जाते हैं। अत परमेष्ठीका ध्यान अर्चन कराना करना श्रेयस्कर है।

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म-वाचकं परमेष्ठिन ।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वत प्रणमाम्यहम् ॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्त मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम् ।
सम्यक्त्वादिगुणोपेत सिद्धचक्र नमाम्यहम् ॥

सिद्धसमूहके सद्बीज और परमेष्ठिवाचक अर्हं मंत्रका प्रणमन—अर्हम्—यह शब्द ब्रह्म–परमात्मा, परमेष्ठीका वाचक है। सिद्धसमूह अथवा सिद्धभावोका उत्तम बीज है। अत. इसे मैं मन वचन कायकी सावधानी पूर्वक नमस्कार करता हू। वह सिद्धचक्र कैसा है? सो कहते हैं——सम्पूर्ण सिद्ध भगवान अष्टकर्मोसे रहित मोक्षलक्ष्मीके निवास स्थान सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोसे परिपूर्ण है, उनको मै नमस्कार करता हू। सिद्धोकी इस नमस्कार विधिमे हमे अपना ध्यान सामान्य चेतनाकी अनुभूति तक पहुचाना चाहिये। पूज्य पुरुषोकी आराधनासे हमे यह काम निकाल लेना चाहिये। जिन आत्माओने अपनेको निर्मल किया है उनके अवलम्बनसे हमारा काम सरलतासे बनता है, वैसे तो हर पर्यायोको आश्रय कर पुन उसके आधारभूत स्वभावकी दृष्टि करे तो भी निर्मलता आ सकती है, क्योकि निर्मलता होनी तो हममे ही है और हमारेमे से होती है। इस प्रकार यदि अन्य चेतन या अचेतन द्रव्यको भी भूतार्थदृष्टिसे विचारे तो वहाँ भी पहिले पर्याय तो ज्ञानमे आता है, किन्तु पश्चात् पर्यायदृष्टिसे हटकर द्रव्यदृष्टि होती है। पश्चात् आवातर सत्की भी दृष्टि छूटकर महासत्प्रतिभास होता है। तब महासत्की अनुभूति किसी अन्यका आलम्बन न रखनेके कारण निजानुभूतिरूप होती है। तब वहाँ निर्मलताका विकास स्वय होता है, उस निर्मलता मे जो पदार्थ उस समयसे पूर्व किसी भावके निमित्तरूप होते है, उन्हीको निमित्त कारणता प्राप्त हो जाती है ऐसा उपचार होता है, और ऐसी निमित्तता हर पदार्थमे बन सकती है।

लेकिन विशेष उपादान सिद्धिके निमित्त भी कुल विशेष हुआ करते हैं। आत्मस्वरूपके विकासके लिये आत्मस्वरूपको विकसित करने वाले, परमेष्ठी ध्यानके विषयभूत होनेकी दृष्टि मे विशेष सहायक है। क्योकि उनके नाम स्मरण स्वरूप चितवन और अनुभवनसे स्वात्म-स्मरण चितवन और अनुभवन होता है।

विघ्नौघा प्रलयं याति शाकिनीभूतपन्नगा ।
विषं निर्विषता याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥

जिनेश्वरके स्तवनका फल अनेक आपदाओंका निवारण—जिनेश्वरदेवके स्तवन करने पर विघ्नोके समूह तो प्रलयको प्राप्त होते है और शाकिनी भूत पन्नग आदि भी विघ्नोके करनेमे अक्षम हो जाते हैं तथा विष निर्विषपने को प्राप्त हो जाता है। जिस उपयोगमे विकल्पबहुलत्व नही है वहाँ विपदाका कोई स्थान कैसे हो सकता है ? वस्तुत. विपदा मात्र विकल्प है। परद्रव्यके द्रव्य क्षेत्र काल भावके अश भी किसी अन्यमे प्रवेश नही कर सकते, फिर मुझमे भी जब किसी अन्यकीय तत्त्वका स्पर्श भी नही होता तो पर-विपदा या विपदाका कारण कैसे हो सकता है ? प्रत्येक द्रव्यका असर स्वय उसही मे होता है। अत मेरी विपदा कल्पनाजालको छोडकर अन्य कुछ है ही नही। सो वह विकल्प जाल निर्विकल्प परमात्माकी दृष्टिमे अथवा निर्विकल्प धन एक स्वभाव अहेतुक निज चैतन्यतत्त्वकी दृष्टिमे कैसे स्थान पा सकता है ? इसीलिये जिनेश्वर भगवानके स्तूयमान होने पर कोई विघ्न होता ही नही है। तथा इस सुकृतके फलमे कल्पित लौकिक विघ्न भी स्थान नही पाते है। इस प्रकार उक्त प्रारम्भिक भूमिका पाठको पढकर निम्नलिखित पद बोलकर अर्घ चढाया जाता है—

उदकचदनतदुलपुष्पकैश्चरुसुदीसुधूपफलार्घकै ।
धवलमगलगानरवाकुले, जिनगृहे जिननाथमह यजे ॥

जल, चदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल—इन सबके समूहसे बनाये हुए अर्घके द्वारा उत्तम और मागलिक गीतोके शब्द जिसमे गूंज रहे हैं, ऐसे जिनमन्दिरमे जिनेन्द्र भगवानको उनके नामो व गुणोके स्तवनसे मैं पूजा करता हू। "ओ ह्रीं भगवज्जिन-सहस्रनामधारकजिनेन्द्रदेवाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।" अर्थात् पचपरमेष्ठी और २४ तीर्थंकरो का आदि जापपूर्वक भगवान जिनेन्द्रके हजार नामोके धारक जिनेन्द्रदेवके लिये मैं अर्घ चढाता हू। (उक्त अर्घवाला मत्र बोलकर अर्घ चढाना चाहिये) पश्चात् प्रस्तावनाका शेष पाठ इस प्रकार बोलो—

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवन्द्य जगत्त्रयेश, स्याद्वादनायकमनतचतुष्टयार्हम् ।
श्रीमूलसघसुदृशा सुकृतैकहेतु, जैनेन्द्रयज्ञविधिरेपमयाम्य धायि ॥

श्री जिनेन्द्रदेवका अभिवन्दन करके पूजा किये जानेका संकल्प—अन्तरंग बहिरग लक्ष्मीसे विभूषित, तीनो लोकोंके ईश, और स्याद्वादविद्याके स्वामी, अनत चतुष्टय से युक्त श्रीमूलसघ वाले सम्यग्दृष्टियोके पुण्यके प्रधान कारण भगवानको नमस्कार करके मैं भगवान की पूजा प्रारम्भ करता हू। यहा ऐसे नही समझना कि सम्यग्दृष्टि कोई मूल संघके आम्नायी है तो कोई अन्य सघके तथा उनमे से केवल मूलसघके सम्यग्दृष्टियोको यहाँ ग्रहण किया गया हो, विभिन्नताके कारण विविध नामके संघोका निर्माण हुआ हो और इसी लिये मूलसंघ भी पृथक रूढ हो गया हो तो ऐसा सघ यहाँ विवक्षित नही है। किन्तु जो जिनेन्द्र देवके प्ररूपित मूल तत्त्व—चैतन्य स्वभावके अनुभव करने वाले है वे ही सम्यग्दृष्टि है, उनके पुण्यका एक प्रधान कारण श्रीमज्जिनेन्द्रदेवकी पूजाका विधान है। वह मेरे द्वारा किया जाता है। यहाँ कर्तृवाच्यके वाक्यमे यह काम नही कहा गया है जिससे यह ध्वनित होता है कि पुजारी तो कर्तव्य बुद्धिसे पृथक है, उसके शुभरागवश जो बात हो जाती है उसे कर्मवाच्यके वाक्यसे कहा गया है।

प्रभुकी जगत्त्रयेशता—यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि भगवान तीन लोकके स्वामी कैसे है ? तो उत्तर है कि तीनो लोकोके इन्द्र उन्हे नमस्कार करते है इसलिये अधो-लोकके भवनवासी इन्द्र ४०, व्यन्तर इन्द्र ३२, मध्यलोकमे मनुष्योका इन्द्र चक्रवर्ती, पशुओ का राजा सिह, ज्योतिषी देवोके इन्द्र सूर्य, चन्द्रमा तथा ऊर्ध्वलोकमे कल्पवासी देवोके इन्द्र २४, ऐसे १०० इन्द्र भगवानके चरणोकी वन्दना करते है। जब इन्द्रोने स्वामियोने वन्दना की तब तीनो लोकोके ईश ही हुए। फिर कोई प्रश्न करे कि तिर्यंच तथा तिर्यंचोका राजा सिंह भगवानके समवशरणमे कैसे पहुच सकता है, जब कि मनुष्योको उनसे एक जगह मिलने बैठनेका सम्भवता नही है ? तो कहते है, यह बात नही है। समय समयकी बात है। आज सर्कस वगैरहमे शेर, चीता आदि पशु मनुष्योके साथ चतुराईके काम करते है। यद्यपि वे यहाँ भयमूलक स्नेहप्रकृतिके हो जाते हैं, परन्तु वीतराग भगवान्के समवशरणमे सिंह आदि पशु भी मुमुक्षा हितलिप्सासे जाते हैं और वहाँ आराध्यदेवके प्रसग प्रसादसे ममतापरिणामी हो जाते हैं। वहाँ मनुष्योका व पशुओका उद्देश्य प्रायः एक रहता है। इस-लिये भी सब परस्पर मित्र है।

प्रभुके अतिशय—तीर्थङ्कर जैसे महान आत्माका जहाँ आगमन होता है उसके चारो तरफ १००-१०० योजन याने ४०० कोसके इर्दगिर्दमे दुर्भिक्ष नही रहता, प्राणियोमे वैर विरोध और ईर्ष्या द्वेष नही रहता। रोग शोककी शाति हो जाती है। यही कारण है कि भगवानका विहार होकर जहाँ अवस्थान होता है, समवशरण रचा जाता है, वहाँ देव और मनुष्योके अतिरिक्त तिर्यंच भी पहुचते है। देव और मनुष्योके जानेका कोलाहल और

वातावरण जब ग्राम या वनवासी पशु देखते हैं तब उनके भाव भी भगवानकी वदनाके होते है, परिणामोमे अत्यन्त निर्मलता आ जाती है, वैयकको जातिका स्मरण हो जाता है। वे तिर्यंच और मनुष्य अपने बीचमे व्यवहारकी खाई को भूल जाते हैं। और समवशरण भी ग्राम, नगरोसे दूर बन, उपवन, बाग बगीचोमे होता है। जहाँका वातावरण शान्त पवित्र होता है, जहाँ हर एक मनुष्यको पहुचनेकी पूरी सुविधा है। आपसमे वैर विरोध तो होता ही नही। अत भगवानकी सभामे शेर वगैरा का पहुचना अस्वाभाविक नही हैं। समवशरणका वातावरण इतना पवित्र और सब जीवोके कल्याणका स्थान होता है कि वहाँ हरेकके लिये शरण प्राप्त होती है। सम् अर्थात् सम्यक् प्रकारसे अव समन्तात्—सब तरफसे सब लोकोसे, सब गति और जातिके जीवोमे से आये हुए जोवोको जहाँ शरण मिलता है उसे ही समवशरण कहते हैं। ऐसा समवशरण तीर्थंकरका ही होता है। दूसरे अधिकारी मुनियोका भी नही होता, और यहाँ तक कि सामान्य केवलियोके भी तीर्थंकरके जैसी समवशरणकी रचना नही होती। फिर भी सामान्य केवलीके निकट सब तरहके जीवोको भगवान्का उपदेश सुननेका अवसर दिव्यध्वनिसे प्राप्त होता ही है।

प्रभुकी स्याद्वादनायकता—भगवान् समग्र वस्तु स्वरूपके, पूर्ण ज्ञाता होनेसे स्याद्वाद के नायक होते हैं, क्योकि वस्तुका स्वरूप आपेक्षित है। कोई भी बात अपेक्षासे ठीक हो सकती है, जबकि अपेक्षा छोड देने से हर एक बात झूठ पड जाती है। हम किसीकी भी बातको जल्दीमे भी इतनी तो कह ही सकते हैं कि हो किसी अपेक्षासे, आपका कहना सत्य है। कोई कहे कि ईश्वर सृष्टिका कर्ता है या नही ? तो कह सकते हैं अपेक्षासे है भी, वह ऐसे ही अनन्त आत्माएँ चैतन्य सामान्यसे ईश्वर रूप है। किन्तु राग द्वेष और मोह आदि विकारोसे ससार बना रहे है, ये जीव स्वय एकोऽह होकर भी बहु स्याम्की विविध कल्पना-जालमे फस रहे है, तब रागद्वेष और मनुष्य पशु आदि ससारकी सृष्टि होती है। बिना चैतन्य आत्माके यह सृष्टि केवल जड नही है। इत्यादि रूप अपेक्षासे हर एक बातको अनेकात रूप घटा सकते हैं।

प्रभुकी अनन्तचतुष्टयार्हता—भगवान् अनन्त चतुष्टय मडित कहिये याने वे सच्चिदा-नन्दमय है। चाहे अनत चतुष्टयमडित कहिये या सच्चिदानन्दमय कहिये एक ही बात है। सच्चिदानन्दमे चार शब्द है—(१) सत्, (२) चित्, (३) आनन्द, (४) मय। सत्का अर्थ शक्तिसे समवेत है। चित्के प्रकार ज्ञान और दर्शन है। आनन्दका अर्थ सुख है, सुख भी नही, सुखसे उत्कृष्टभाव है। सुख और आनन्दमे अन्तर यह है कि सुख तो उसे कहते है जो भाव 'ख' कहिये इद्रियको 'सु' कहिये सुहावना लगनेसे भरा हो तथा आनन्दका अर्थ है, आसमन्तात् नन्दति इति आनद, जो भाव आत्माके सर्व ओरसे समृद्धिशाली बने सो आनद

है। यद्यपि इन अर्थोंकी अपेक्षावोमे आनन्दका भाव सुखसे उत्कृष्ट है तथापि लौकिक जनोमें सुखकी ख्याति है, अत आनन्दका नाम भी सुख रूढ हो गया। ये अनन्त चतुष्टय मुख्यता की अपेक्षासे कहे गये है। इनके अतिरिक्त और भगवान्मे क्या क्या गुण कहे जायें ? वे अनंत गुणोके स्वामी है। जिनकी पूजा सुकृतको एक ही प्रधानरूपसे कारणरूप है, मै ऐसे जिनेन्द्रदेवकी पूजा शुरू करता हू।

स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुङ्गवाय,
स्वस्ति स्वभावमहिमोदय सुस्थिताय।
स्वस्ति प्रकाशसहजोर्जितदृग्ममाय,
स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भुतवैभवाय ॥

त्रिलोकगुरु जिनश्रेष्ठ प्रभुको नमस्कार—तीनलोकके गुरु, जिनोमे भी पुङ्गव (महान्) स्वभावकी महिमाका जिनको उदय (प्रकाश) हो गया है अतएव उत्तमपदमे स्थित स्वाभाविक ज्ञान दर्शनसे प्रकाशमान तथा ललित और विलक्षण वैभवसे प्रसन्न (निर्मल) जिनेन्द्रदेव मेरे लिये कल्याणरूप हो, या स्वस्तिका अर्थ नमस्कार भी होनेसे ऐसे जिनेन्द्रदेवको मैं नमस्कार करता हू, ऐसा भी अर्थ हो सकता है। इस श्लोकमे जिनेन्द्रके जो विशेषण दिये गये है वे निश्चयत स्वात्माके ही है, आत्मा स्वभावसे स्वय गुरु है, तीनो लोकोसे सारे जड पदार्थ वे इसके गुरुपनेसे रहित है, अथवा और अनत सव आत्माएँ किसी एककी आत्माका गुरु नही है, तीनो लोकोमे प्रत्येक आत्मा अपना गुरु है, अतएव प्रत्येक आत्मा तीनो लोकोमे वही स्वय अपने लिये गुरु है और विकारोपर विजय पानेसे हमारी आत्मा ही जिन है। अत वह पुङ्गव है—पुङ्गवका अर्थ श्रेष्ठ है, इसका ही विगडा हुआ रूप पुङ्गा है। अल्प योग्यतावाले को पूर्ण योग्य महत्त्ववाला शब्द कहना गाली रूप इसलिये पड जाता है कि जनता उसे स्वीकार नही करती। जिससे कमजोर व्यक्ति उपहास समझने लगता है। लोकमे प्रसिद्ध गालीके शब्द प्राय ऐसे ही है जिनका कि अर्थ महत्त्वपूर्ण है। लोग उनका अर्थ न जानकर भले ही क्षोभमे आवें परन्तु अर्थ समझें तब क्षोभकी कोई बात नही। यहाँ पुगत्रका अर्थ हितरूप श्रेष्ठ है। श्रीमान् भगवान जिनेन्द्र पुङ्गव है। जिनका अर्थ सम्यग्दृष्टि, व्रती, यती और स्नातक है। दर्शनमोहके विजयी होनेसे जिन सज्ञा चतुर्थ गुणस्थानसे हो जाती है और बादमे अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण सज्वलन कषायके अभावसे उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण जिन सज्ञा होती जाती है। स्नातक देव तो प्रकट पूर्ण है उनमे प्रधान श्रीमान् जिनेन्द्रदेवाधिदेव तो महिमा के उदयसे सुस्थित है और आत्माके स्वाभाविक ज्ञान दर्शनके प्रकाशसे प्रकाशमान है। आत्माएँ ललित और अद्भुत ज्ञानादिवैभव सदा विद्यमान है। ऐसे चैतन्य गुणोसे परिपूर्ण आत्माको जो भेदरूपसे परमेष्ठी रूप और अभेदसे आत्मरूप है, उसके लिये नमस्कार करके

आराधक चैतन्यदेवकी आराधना करता है, क्योंकि परकीय अवस्थाके सम्पर्कमे जिस दृष्टिसे आत्मा अनादिकालसे अपनेमे अनादर और परमे आदर करता आ रहा था वह दृष्टि और प्रवृत्ति बदलकर अब स्वोन्मुख हो गई है। उसके लिये आदरणीय और रूप नजर आता है तो वही चैतन्यदेव व्यवहारसे परमेष्ठीरूप और निश्चयसे स्वात्मदेव।

स्वस्त्युच्छलद्विमलबोध सुधाप्लवाय,
स्वस्ति स्वभाव परभावविभासकाय।
स्वस्ति त्रिलोकविततैकचिदुद्गमाय,
स्वस्ति त्रिकालसकलायतविस्तृताय ॥

त्रिलोकज्ञ त्रिकालज्ञ प्रभुको प्रणमन——उछल रहा है निर्मल ज्ञानमय अमृतका प्लव-प्रवाह जिसमे, जो स्वभाव और परभाव भावका दिग्दर्शक है, जिसका ज्ञान चैतन्य तीनो लोकोको ज्ञेय बनानेसे व्याप्त हो रहा है और त्रिकालको समस्त पर्यायोमे जो व्याप रहा है, ऐसे अद्भुत ज्ञानमय भगवानको नमस्कार करता हू, अथवा वे भगवान् हमारे लिये कल्याण-रूप हो। यहाँ निर्मलज्ञान केवलज्ञानको सुधाप्लव बताया है जिससे यह ध्वनित हुआ कि ज्ञान सामान्य व्यापक और केवलज्ञान व्याप्यरूपसे हैं। केवलज्ञान प्रतिक्षण प्रवर्तमान रहता है और ज्ञान सामान्य हमेशा ध्रौव्य रूप है। जो व्यक्तिशक्ति वा शक्तिरूप परमेष्ठी और स्वआत्मामे घटित होता है, भगवान ज्ञानमे तीन लोकके पदार्थ जो जहाँ जैसे अवस्थित है, ज्ञात होते है, परन्तु उनके सम्बन्धमे यह विकल्प नही कि अमुक इतने लाख योजनका है अथवा अमुक अमुकसे इतने हाथ दूर है आदि, क्योंकि नाप या दूरी समीपता न तो द्रव्य है न गुण है, न पर्याय है। हाँ ज्ञानीके इस विकल्पका ज्ञान हो रहा है, क्योंकि यह विकल्प छद्मस्थका ज्ञान विकल्परूप पर्याय है। इसी प्रकार कालक्रमसे जो जब पर्याय होती है उस ऊर्ध्वता विशेषक्रमसे अवस्थित परिणमन ज्ञान होते हैं। परन्तु वहाँ यह विकल्प नही है कि अब यह भूत पर्यायमे शामिल है या भविष्यमे। इस विषयको प्रवचनसारमे देखकर भली-भाति आत्मसात् करना चाहिये। ऐसे ऐसे निर्विकल्प शुद्ध परिणमनका जिस चैतन्यसे उद्-गम है वह हमारा कल्याण करे अर्थात् उसकी दृढ दृष्टि बनी रहे।

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं,
भावस्य शुद्धिमधिगामधिगन्तुकाम।
आलम्बनानि विविधान्यवलंब्य वल्गान्,
भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥

शुद्धिपूर्वक भूतार्थयज्ञपुरुषकी पूजाका संकल्प—द्रव्यकी शुद्धिको प्राप्त करके, और अधिकसे अधिक भाव शुद्धिकी इच्छा रखता हुआ, तथा अनेक अवलम्बनोका अवलबन लेता

हुआ (वे अवलंबन है अष्ट द्रव्य, मूर्ति स्तोत्र और पूजा पाठ आदि) आराधक अपनी भावना व्यक्त करता है कि मैं यथार्थ यज्ञके अधिष्ठाता देवताकी मैं पूजा करता हूं। राग द्वेषके विषयभूत विविध भोगोपभोगादि सामग्रियोके अवलम्बनमे रहने वाला गृहस्थ श्रावक निरवलम्ब चैतन्यानुभवको स्थित करनेमे असमर्थ है तो अपनी आदतके बदलरूपमे यहाँ नाना शुभ अवलम्बनोका अवलम्बन ले रहा है। परन्तु यहा भी अपने ध्येयभूत निर्मलभाव और यज्ञ पुरुषके वैभवका स्मरण नही भूला है। सो जैसे भावमुनिके प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान शीघ्र परिवर्तित होते रहते है वैसे ही यह पूजक अन्तरात्मा व्यक्त परमात्मा और शक्त परमात्माके लक्ष्यमे परिवर्तित होता चला जा रहा है। अब वह पूजक अपने प्रयोजनसारको व्यक्त करता है —

अर्हन् पुराणपुरुषोत्तम् पावनानि, वस्तून्यनूनमखिलान्ययमेकमेव।
अस्मिन् ज्वलद्विमल केवलबोधवन्हौ, पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि ॥

सर्वस्व समर्पणके भावसहित प्रभुपूजाका उद्यम—हे अर्हन्, हे पुराण, हे पुरुषोत्तम ! ये समस्त पवित्र पदार्थ निश्चयसे एक ही हैं क्योकि जिस चैतन्यदेवको प्रसन्न अर्थात् निर्मल करना है उस चैतन्यदेवका ही नाना पदार्थोंके बाह्य अवलम्बनमे रहकर भी ध्यान किया जा रहा है। आराधक की दृष्टि अनेक अर्थोंके बाह्य अवलम्बनमे रहकर भी उस एक चैतन्य लक्ष्यपर ही पहुंच जाती है। जैसे ब्याह शादीमे सैकडो तरह की खटपट एक विवाहके प्रयोजनके लिये ही होती है, उसी तरह जिसे अपने चैतन्यदेवको प्रसन्न करना है उसे ज्ञाता दृष्टा एक चैतन्य आत्मा ही दीखता है। इस तरहके उच्च और महान् कार्यके करते हुये बाह्य कुछ बाधक कारण उपस्थित होने पर भी पूजकके मनमे क्षोभ या अन्य विकार नही आते।

प्रभुभक्तका समग्रपुण्यहवनका भाव——भक्तका अन्य प्रोग्राम ही नही। अत. भक्त कहता है कि मैं इस जाज्वल्यमान केवलज्ञान रूपी अग्निमे एकचित्त होकर, सम्पूर्ण पुण्यको स्वाहा करता हू। जैसे अग्नि कूडे कचरेको साफ कर देती है उसी तरह ज्ञानरूपी अग्नि राग द्वेष आदि मलोको साफ कर देती है। यहा अर्हंत सिद्धकी भक्ति पक्षमे उनके ज्ञानमें मनको लीन करके रागद्वेष हटानेका भाव है और आत्मपक्षमे, ज्ञेयरूपसे केवल ज्ञान जिसमे आया ऐसा वह अपना ही ज्ञान है जिसमे राग द्वेषके विकल्पोको दूर करना है रागद्वेषके विकल्पोको हटाना ही उसका स्वाहा करना है। भक्त यह भी कहता है कि मैं समस्त पुण्य उस ज्ञान अग्निमे अर्पित करता हू। लोगोको दिखनेमे आने वाला पूजन द्रव्य ही वहां सामने पुण्य (पवित्र) वस्तुएँ हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह तो अल्प मूल्यकी वस्तुएँ है। इनके त्यागमे आपकी उदारता ही क्या ? उत्तर—यहा भक्तका यह भी आशय है

कि धन, मकान आदि सर्व पुण्य वैभव आदिको भी मैं त्यागता हू, क्योकि सर्वसे प्रथम अपनी श्रद्धासे ही परमात्माका भक्त हुआ है। पुन प्रश्न हुआ कि सर्व वैभव भी तो अत्यन्ताभाव वाले भिन्न क्षेत्रवर्ती अचेतन पदार्थ है वे तो पहलेसे ही छूटे हुए है, उनको त्यागनेकी वात कहना रिपट पडे की हर गगाकी कहावतको याद दिलाना मात्र है। तव भक्तकी निर्मलता की दृष्टिने उत्तर दिया कि जिस पुण्यके उदयसे वैभव मिलता है उस मूलका भी मैं स्वाहा करता हूँ। इतने पर भी वही प्रश्न हो सकता है, क्योकि एक क्षेत्रावगाह होकर भी ये कर्म है तो अत्यान्ताभाव वाले पुद्गलपिंड। तव भावव्यक्ति होती है कि प्रभो! जिस मदकषाय रूप भावपुण्यके निमित्तसे द्रव्य पुण्यवन्ध होता है मैं उस चेतन पुण्यको त्यागता हू। इसमे समस्त शुभ भाव दान उपवास आदिसे लेकर अर्हद्भक्ति तक सभी सम्मिलित हैं।

जिनेन्द्रपूजकके मनकी स्वच्छताका दिग्दर्शन--देखो भैया! जिनेन्द्रकी पूजामे जिनेन्द्र भक्तिमे कषायके त्यागकी भावना है। जव अन्य कल्पितदेवोका यह आग्रह है कि हमारी ही सेवा करे जावो। अर्हन्तदेवका परमोपदेश है कि समस्त परोपयोग त्यागकर मात्र ज्ञाता द्रष्टाके परिणमन मात्र रहो। इस तरह यह पुजारी अपना अकिंचनभाव वनाता हुआ आशय रखता है कि मैं इस सर्व पुण्यसामग्रीसे उपयोग हटाता हू और पुण्यसे मिला हुआ चेतन अचेतन वैभव, पुण्यका उदय, पुण्यका वध कराने वाला भाव और यहाँ तक कि अरहत सिद्ध भगवान्‌की भक्ति जो सर्वोच्च पुण्य है, उसके कर्तव्य का भी मैं त्याग करता हू। और मेरे एक चैतन्यभाव ही लक्षग है। ऐसे पुण्यको नही चाहने वाला पुरुष पूजाका पात्र है। यदि पुण्यकी कामना लेकर पूजनका उद्यम किया है तो वह भगवानका आत्मदेव का पूजन न होकर बाह्य उन जड पदार्थोंकी पूजा होती जिसकी चाह उसके मनमे वस रही है, उसका आदर भाव इन्ही जड पदार्थोंमे हो रहा है। यदि पूज्य आत्मामे अनुराग और आदर होता तो अन्य जड पदार्थोंकी कामना क्यो रह जाती उस समय जब कि वह पूजाके लिये तत्पर हुआ है, हो रहा है।

परमात्मपूजाकी महिमा--अनादि कालसे जीवने एक बार भी पुण्यका आदर भाव छोडकर, आत्मा या परमात्माकी पूजा नही की। यदि की होती तो यह भ्रमण क्यो वना रहता? आत्मदेवमे आदर आने पर फिर ससारका वास अधिक नही रहता, क्योकि ससारमे आदर नही तो उसके काम रुचिसे कैसे करेगा? और रुचि न होने से वह उनका कर्ता और स्वामी कैसे कहलायेगा? जो जिसका कर्ता और स्वामी नही, वह उसका अधिकारी कैसे रहेगा? वह ससार और ससारीका अधिकारी नही, तो नियमसे वह मोक्षका अधिकारी है, ससारका कर्ता नही तो मोक्षका अथवा अपने ही भावोका कर्ता होगा। और अंतमे उस कर्तव्य कल्पनासे भी रहित, अकर्तव्य या कृतकृत्यके रूपमे उस चेतनकी स्थिति

हो जाती है, लेकिन अभी तक वह स्थिति नही पा सके। इसका कारण ही यह है कि हमने निष्काम भावसे पूजा नही की। अब इस जन्ममे कमसे कम कुछ समय तो ऐसी पूजा करनी चाहिये, अभ्यास इसका जीवनभर होता रहे। इसही बीच वह समय भी आता रहेगा और अंतमे आराधक कभी न कभी प्रसंग होकर समाधिमे लीन होता हुआ सहज सुखका अधिकारी बन जायेगा। अब प्रस्तावनामे २४ तीर्थंकरोका स्वस्ति पाठ इस प्रकार है—

श्री वृषभा न स्वस्ति श्री अजित, श्री संभव स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअभिनन्दन, श्री सुमति स्वस्ति, श्रीपद्मप्रभ स्वस्ति स्वस्ति श्रीचन्द्रप्रभ, श्रीपुष्पदन्त स्वस्ति श्रीशीतल, श्री श्रेयात्स्वस्ति, स्वस्ति श्रीवासुपूज्य, श्री विमल: स्वस्ति, स्वस्ति श्री अनन्त, श्रीधर्म स्वस्ति, स्वस्ति श्री शाति, श्रीकुन्थु स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअरहन्नाथ, श्रीमल्लि स्वस्ति, स्वस्ति श्री मुनिसुव्रत. श्रीनमि स्वस्ति, स्वस्ति श्री नेमिनाथ श्री पार्श्वो स्वस्ति श्रीवर्धमान ॥

श्रीवृषभ, अजित, संभव व अभिनन्दन जिनेन्द्रदेवका स्वस्तिवाचन—वृष या वृषभ धर्मको कहते है, श्री लक्ष्मीको कहते हैं, और ऋषभ नामके प्रथम तीर्थंकर हो गये हैं। सो अरहन्त वा वर्तमानमे सिद्ध पदको प्राप्त तीर्थंकर पक्षमे तो ज्ञान आदि लक्ष्मीसे पूर्ण ऋषभनाथ तीर्थंकर हमारे लिए कल्याणरूप हो, यह अर्थ होगा और निश्चयमे ज्ञानसे परिपूर्ण आत्मस्वभावरूप धर्म वा धर्मसे विशिष्टधर्मी स्वय हमारे लिये कल्याणरूप हो, यह अर्थ हुआ। आगे भी इसी तरह एक तीर्थंकर नाम पक्षमे और दूसरा अर्थ निश्चयसे आत्म पक्षमे लगाना चाहिये। यथा स्वस्ति अजित श्रीविविष्टअजितनाथ तीर्थंकर हमारे लिये कल्याण रूप हो। अथवा अजित माने जो दूसरे पदार्थोसे पराजित नही किया जा सकता, ऐसा शुद्ध चैतन्य स्वभाव हमारे लिये कल्याणरूप हो। तृतीय श्री सभवनाथ तीर्थंकर कल्याणरूप हो, अथवा सम्यक् प्रकारसे उत्पन्न होनेवाला नियमित रूपसे ध्रौव्यपूर्वक कराके साथ उत्पादन करने वाला चेतन परणतिज्ञान नाथ (आत्मा) कल्याण रूप हो। अथवा सभव ससार तृष्णा रूपी रोगके नाशक नाथ तीर्थङ्कर हमारे लिये कल्याण रूप हो। चतुर्थ श्री अभिनन्दन नाथ तीर्थङ्कर हमारे लिये कल्याण रूप हो अथवा 'अभि समन्तात् सब तरफसे नन्दतीति नन्दन समृद्ध शाति रहे, आनन्दित रहे। ऐसा आत्मा (क्योकि आत्मा आनन्द रूप है) कल्याण रूप हो।

श्री सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस व वासुपूज्य जिनेन्द्रदेवका स्वस्तिवाचन—श्री सुमतिनाथ भगवान् कल्याण रूप हो। अथवा सु—उत्तम गति—बुद्धि—ज्ञान केवल ज्ञान विशिष्ट नाथ और पूर्ण सुमति प्राप्त करनेका अधिकारी यह सुमतिनाथ आत्मा कल्याण रूप हो। श्रीपद्मप्रभ भगवान कल्याण रूप हो। अथवा पद्म—कमल—हृदय कमलमे प्रभ अर्थात् प्रकर्ष रूपसे शोभायमान होने वाले—अनुभवमे आनेवाले ऐसे स्वयं

आत्मदेव कल्याण रूप हो। सुपार्श्वनाथ भगवान कल्याण रूप हों। अथवा सुसुष्ठु प्रकारेण पार्श्व-निकटता है जिसकी ऐसा आत्मा कल्याण रूप हो। श्री चन्द्रप्रभ भगवान कल्याण रूप हो अथवा चन्द्रमाके समान प्रभावान शाति श्री चन्द्रप्रभ भगवान कल्याण रूप हो। श्रीपुष्पदन्त भगवान कल्याण रूप हो। अथवा पुष्प— प्रकाशमान और दत (दात,—दमन शील स्वरूपमे स्थित आत्मा कल्याणरूप हो। श्री शीतलनाथ भगवान कल्याण रूप हो। अथवा शीतल शांतस्वरूप आत्मा कल्याण रूप हो, शीतलाति शीतल श्रीश्रेयासनाथ भगवान कल्याण रूप हो, अथवा श्रेयासनाथ कल्याण रूप स्वयं आत्मा कल्याणकर हो। श्री वासु-पूज्य भगवान कल्याण रूप हो। अथवा इन्द्रोके द्वारा व इन्द्र पूज्यो द्वारा पूज्य आत्मा कल्याण रूप हो।

श्री विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व व वर्द्धमान जिनेन्द्रदेवका स्वस्तिवाचन—श्री विमलनाथ भगवान कल्याण रूप हो, अथवा निर्मल स्वरूप आत्मा कल्याण रूप हो। अनतनाथ भगवान कल्याणरूप हो अथवा अतरहित नाथ— चैतन्य आत्मा कल्याण रूप हो। श्री धर्मनाथ भगवान कल्याण रूप हो अथवा रत्न-त्रय धर्मके अधीश्वर आत्मदेव कल्याण रूप हो। श्री शातिनाथ भगवान कल्याण रूप हो, अथवा स्वरूपसे शात-आत्मदेव कल्याण रूप हो। श्रीकुन्थुनाथ भगवान कल्याणरूप हो, अथवा स्वरूपसे शान्त आत्मदेव कल्याणरूप हो। श्री कुन्थुनाथ भगवान कल्याणरूप हो अथवा कुथु कीडी आदि जीवोमे भी अर्थात् सर्वत्र व सर्वपर्यायोमे विराजमान देव आत्मा कल्याण रूप हो। श्री अरहनाथ कल्याणरूप हो, अथवा कर्म शत्रुओको हननेवाली आत्मा कल्याण रूप हो। श्री मल्लिनाथ भगवान कल्याण रूप हो, अथवा मोहकर्म आदि मल्लोको भी हराने वाली आत्मा कल्याणरूप हो। श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान कल्याणरूप हो अथवा मुनि अर्थात् ज्ञान और सुव्रत अर्थात् उत्तम व्रतके नाथ स्वरूप चरण त्ररित्र युक्त (रत्नत्रय युक्त) आत्माके कल्याणरूप हो। श्री नमिनाथ भगवान कल्याण रूप हो अथवा आत्मा कल्याण रूप हो। श्रीनेमिनाथ भगवान कल्याण रूप हो अथवा नेमि—धुरा— धर्मधुराको धारण करने वाली आत्मा कल्याण रूप हो। श्रीपार्श्वनाथ भगवान कल्याण रूप हो, अथवा पार्श्व निकटवर्ती अति निकटवर्ती स्वयं आत्मा कल्याणरूप हो। श्रीवर्धमान स्वामी कल्याण रूप हो अथवा ज्ञान चरित्र आदि गुणोसे वर्धमान आत्मा कल्याण रूप हो।

स्नातक अथवा केवली होनेका उपाय—इस प्रकार पूजक पूज्य पर आत्माओका आश्रय लेता हुआ भी स्वलक्ष्यमे अति सावधान होता है। परमात्मा आत्माओकी सन्मान वृत्तिके साथ साथ अपने स्वरूप स्पष्ट करता रहता है, यदि पूजकको आत्मस्वरूपका कदाचित् भी भान न होता तो उसे परमात्माका भी प्रतिभास नही हो सकता, क्योकि परमात्माका

स्वरूप स्वआत्माके हो अनुरूप है, तब यदि आत्माको न जाना तो परमात्माको क्या जानेगा ? अत वास्तविक पूजक आत्मज्ञानी और आत्मपूजक है, और ऐसे ही पूजककी पूजा सार्थक है मोक्षसाधिका है, अन्यथा सब क्रियाएं व्यवहार मात्र लोक व्यवहार साधिका है, अधिक कुछ नही। अब २४ तीर्थंकरोका स्वस्तिवाचन करनेके बाद अब साधुओका स्वस्तिवाचन करते है।

नित्याप्रकम्पाद्भूत केवलोघा, स्फुरन् मन पर्ययशुद्धबोधा ।
दिव्यावधिज्ञानबलप्रबोधा स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न ।

कषायविजय व इन्द्रियविजय—साधु ५ तरहके कहलाते हैं– १ पुलाक, २ वकुश, ३ कुशील, ४ निर्ग्रन्थ और ५ स्नातक। केवली भगवानको स्नातक साधु कहते है। केवल-ज्ञान स्वभावपर्याय है। वह पर्याय इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करने एव कषायके अत्यत अभाव करनेपर होती है। जो आत्मजयी है वही विश्वविजयी होता है। इन्द्रियोको जीतने का उपाय क्या है ? सो कहते है– इन्द्रिय विषयोमे तीन बातें विचारणीय है—

१–द्रव्येन्द्रिय, २–भावेन्द्रिय और ३–विषय अर्थात् वे पदार्थ जो इन्द्रियोके भोग उपभोगमे आते हैं। द्रव्येन्द्रिय विषयसेवनकी साधना है, भावेन्द्रिया उपभोगरूप है, इच्छा या विषयसेवनका अनुभव करने वाली है और विषय वे पदार्थ हैं जो व्यवहार दृष्टिसे भोगे जाते है, अवलम्बनरूप है। इन तीनोपर विजय पानेके लिये क्या इन्द्रियोको नष्ट भ्रष्ट कर दे या विषयभूत पदार्थोको नष्टभ्रष्ट कर दें ? नही, ये उपाय इन्द्रिय–जयके व्यर्थ है। इनपर विजय पानेका एक ही उपाय है कि इन द्रव्येन्द्रियो और भावेन्द्रियोसे अपनेको भिन्न देखो। भावेन्द्रियोके रंग ढगसे भिन्न चैतन्यस्वभाव वा स्वभावधान आत्माको भिन्न देखो। यही उनकी विजयका उपाय है। विषयोपर भी विजय पानेका यही उपाय है। उनको बिगाडने या तोडने से उनपर विजय न होगी, बल्कि भीतरके विकार बने रहनेसे कोई पदार्थमे द्वेष करेगा तो कोई राग करने लग जायेगा। इन्द्रियोके भी तोड फोडमे यही बात है। आँख फोड लेनेसे क्या होता है, यदि भीतर उसके द्वारा विषयसेवनके, सुन्दर पदार्थोके सेवनके भाव बने हुए है। तो इसी तरह दूसरी इन्द्रियोके भी बिगाड लेने पर उनके द्वारा भोगे जानेकी इच्छाओका अभाव नही होता। और वे इच्छाए भावेन्द्रियाँ भी तब तक प्राणीका पीछा नही छोड सकती जब तक कि उनकी निरर्थकता न जान ली जाय और उनकी निरर्थकता तब तक ध्यानमे नही बैठ सकती जब तक कि इच्छाओको भुलाकर आत्माको न जान जाय जो स्वभावसे इच्छारहित है। इच्छा आदि विकारोसे भिन्न आत्माके शुद्ध स्वरूपको न पहिचान लिया जाय तब तक इच्छा कैसे दूर होगी ? अंतस्तत्त्वको न जाना समझा जाय तो उसके महत्त्वसे अनभिज्ञ होकर बाह्य पदार्थोको ही महत्त्वकी दृष्टिसे देखेगा। और जब

महत्त्वकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंमे होगी तो रुचि वहाँ ही रहेगी, उनकी ही इच्छाए तरह तरह की पैदा होगी। अत इस तरहका अनुभव हो जाना जरूरी है कि आत्मस्वभाव परवस्तुओसे भिन्न है। और यही क्यो अपूर्ण मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि और पूर्ण केवलज्ञान भी जीवकी पर्यायरूप दशा है, अध्रुव है। केवलज्ञान भी सादि और प्रतिक्षणकी वर्तना वाला होनेसे शात है, समय समयवर्ती है। जब मेरा स्वभाव सामान्य शुद्ध ज्ञान है। इस सामान्य सत्तात्मक ज्ञानको परखना और उसका अनुभव करना ही इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करनेका उपाय है।

आत्मविजयमें सर्वविजयकी सिद्धि—एक राजा वडा वलवाव था, उसने अपने आस पासके राजाओ पर विजय प्राप्त कर ली थी, अत. उसका नाम सर्वजीत पड गया, और लोग उसको सर्वजीत ही कहे लेकिन उसकी माँ सर्वजीत न कहे। तो राजाने उससे इसका कारण पूछा। वह वोली वेटा तूने अभी सब पर विजय प्राप्त नही पाई है इसलिये मैं तुझे सर्वजीत नही कहती। राजा पूछता है कि विजय पानेके लिये कौन राजा वाकी रहा है ? माँ कहती है तुम्हारा खुद मन, जब तक तुम मन पर विजय पाकर आत्मजयी न बन जाओगे तब तक तुम सर्वविजयी नही हो। राजाको होश आया और उसने अपना वास्तविक कर्त्तव्य पहिचाना। यो तो साड भी कूडे करकटके ढेरको सीगोसे बखेर बखेर कर पूछ उठा उछलता कूदता गर्व और सर्वविजयीपने का अनुभव करता है और कुत्ता भी निर्वल कुत्तेको मार भगाने पर अपनी विजयका गर्व करता है लेकिन इस तरह झूठमूट विजयी बननेका गर्व व्यर्थ है, परद्रव्यमे आत्मदेवका कर्तव्य नही है फिर भी कर्तव्यका अहकार होना यह मिथ्या आशय नही तो और क्या है ? यही सबसे प्रमुख अपनी हार है।

बाह्यपरिणति करनेके विकल्पके गर्वकी व्यर्थता—इसी तरह अन्य ससारी प्राणी भी कुछ चीजोका सग्रह करके गर्व करते हैं, अपने पुरुषार्थी होनेका मान रखते है, लेकिन यह गर्व साडके द्वारा कूडा करकट उछाल कर गर्वके अनुभव करनेके तुल्य है। मोही जीव कूडा करकटके समान आत्माके लिये अनुपयोगी बाह्य पदार्थोंको इधरकी उधर करनेके गर्वका व्यर्थ दम्भ करता है। उसके गर्व करनेका स्थान तो तभी है जब वह आत्मजयी हो जावे। आत्मदर्शनमे गर्व नही रहता। यह दुर्लभ मनुष्य जन्म, उसमे भी उत्तम कुल और वैज्ञानिक सत्य जैनधर्मका आश्रय मिला है तो हमे आत्मस्वभावको पहिचाननेमे अपनेको पूर्णनिष्ठासे लगा देना चाहिये। सम्यग्ज्ञानको पैदा करनेमे परिश्रम करना चाहिये। व्यवहार होता है तो हो, किन्तु जब हम परमसमाधिके यत्नमे हो तब तो सर्वोपयोग निजमे ही रखें।

आत्महितकी सर्वोपरि कर्तव्यता—एक राजापर शत्रुने आक्रमण किया। उसका मुकाबला करनेके लिये सेनापतिको दलबलसे भेजा गया। सेनापतिने दिनभर खूब लडाई

लडो व जब शाम हुई तो हाथीपर ही बैठे बैठे सामायिक करने लगा, समस्त एकेन्द्रिय आदि जीवोसे भी अपने किये हुये अपराधोकी क्षमा मागते लगा। सैन्यके कई व्यक्तियोने यह खबर राजा तक पहुंचाई कि सेनापति तो तुच्छ एकेन्द्रियोसे भी क्षमा माँगता है, वह युद्धमे विजय कैसे करायेगा, लेकिन उसे युद्ध करनेका अवसर दिया गया और वह विजयी हुआ। जब उससे पूछा गया कि तुम क्षुद्रप्राणियोसे भी क्षमा मागने वाले शत्रुपर विजय कैसे कर सके ? उसने बतलाया कि महाराज सामायिकके समय हम सामायिककी ड्यूटी पूरी तरह बजाते हैं, इसी तरह जब युद्धस्थलमे उतरते है तो वहाँ भी पूरे ध्यानसे युद्धकी ड्यूटी बजाते है। यही हमारी सफलताका कारण है। मतलब यह है कि आपको भी आत्मकार्यके लिये कोई समय निश्चित रखना चाहिये जिसमे कि केवल आत्महितका कार्य किया जाय और चिंताए, इच्छाए और कल्पनाएं अलग ही रहने दें।

जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह स्नातकके केवलज्ञानकी महती ऋद्धिका स्मरण कर भक्तिमें स्वस्तिवाचन—तो साधु जितेन्द्रिय होकर जितमोह होते है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म लोभको भी जीतकर क्षीणमोह गुण स्थान पाता और फिर उसके एक ही क्षण बाद केवलज्ञान प्रगट कर लेता है। यहाँपर जो केवलज्ञान बताया जा रहा है वह सिद्ध भगवानके केवलज्ञानको लक्ष्य करके नही, किन्तु परम औदारिक शरीरमे स्थित अरहत भगवानका लक्ष्य करके कहा है। क्योकि यहाँ साधुका स्वस्तिवाचन चल रहा है, केवलज्ञान स्नातक साधुकी ऋद्धि है जिसका कि वर्णन किया जा रहा है। सिद्ध भगवानमे यद्यपि केवलज्ञान अरहतके ही समान है किन्तु वे साधु नहीं है। अरहंत स्नातक केवलज्ञानी वे है जिनके समवशरणकी भी रचना होती है। समवशरणकी रचना ग्राम, नगरोसे बाहर होती है। नीचे पहाड वृक्ष आदि भी हो तो ऊपरकी समवशरण रचनासे उनमे कोई तरहकी बाधा या विकार नही होता, क्योकि देव लोग अपनी ऋद्धिसे ऐसी रचना जिसे कि तत्क्षण कर देते है और जो अपूर्व होती है वहीके स्थित पुद्गल स्कन्धोसे करते है, और उसमे अनेक विशेषताए होती है। वह सब देवके द्वारा अपनी ऋद्धिके बलसे और भगवानके पुण्यको निमित्त पाकर निर्मित होती है। केवलज्ञान ऋद्धिकी बडी विशेषता है, उससे चराचर पदार्थ निर्विकारी भावसे अनुभवमे आते है। केवलज्ञानीकी आत्मा पूर्ण स्वभावोन्मुख होती है। उनके औदारिक शरीरमे कई अद्भुत बाते होती है, उसमे भूख, प्यास और रोग, शोक, उत्सर्ग आदिकी बाधा नही होती। दर्शनार्थीको हर दिशासे उनका दर्शन होता है, याने उनका मुख एक होकर भी चारो ओरसे दीखता है। केवल ज्ञानीकी दिव्यध्वनिमे द्वादशागके ज्ञानसे भी अनन गुना अर्थ समाया रहता है, लेकिन हम अल्पज्ञ अधिकसे अधिक उसको द्वादशांगश्रुत रूप ही समझ पाते हैं। समवशरणकी और भी विशेषतायें है जो पहिले बता आये है।

मनःपर्ययज्ञान ऋद्धिधारी परमर्षिका स्वस्तिवाचन—पूजक ऐसे केवलज्ञान ऋद्धि वाले स्नातक अरहत ऋषिसे कल्याणकी कामना करता है। फिर आगे कहता है कि मन पर्यय ऋद्धि वाले ऋषि हमारा कल्याण करे। ऋजुमति मन पर्ययज्ञानी दूसरेके मनकी सरल बातको जान लेते हैं और विपुलमती मन पर्यय ज्ञानी इतने निर्मल होते हैं कि वे मनकी कुटिल बातको भी जान लेते है और जो आगे पीछे विचारकी वस्तु है उसे भी जान लेते है। यहा यह न भूलना चाहिये कि पूजक ऋद्धिधारियोका पाठ पढता हुआ, उनके आत्मिक गुणोमे विभोर होता हुआ अपने स्वयके चैतन्यगुणोको अनुभव करने लगता है। वह अनुभव करता है कि ये सब ऋद्धिया और शक्तिया मुझमे भी शक्तिरूपसे विद्यमान हैं। वह पूज्य की महानताका अनुभव करता हुआ स्वयं अपनी महानताके अनुभवमे उतर जाता है। यही उसकी वास्तविक पूजा होती है। लक्ष्य उसका यही होता है। यदि यह लक्ष्य न हो तब ऐसा आत्मानुभव होना संभव न होगा और तब पूजाकी भी सार्थवता न रह जायेगी। जैसे एक शेरका बच्चा कुम्हारके हाथ पकडकर गधोके साथ पलने लगा। उसकी वृत्ति बहुत कुछ वीरताके कामोसे रहित गधोके समान रहने लगी, लेकिन जब एक दिन जगलमे शेरकी दहाड सुनी तब उसको अपनी सिंह जातिका बोध हो गया और दहाड मार उछलकर जगल मे विचरने लगा। उसी तरह हम लोग अपने स्वरूपसे अनभिज्ञ है, जिन्होने उसे प्रकट किया है उनकी स्मृति, स्तुति और पूजा करके अपने स्वरूपकी खबर करना चाहते है। यदि उस आदर्शसे हमे अपने स्वरूपकी खबर न हुई तो हमको कौनसा लाभ हुआ भगवान की पूजासे ? परम ऋषियोके विचारसे हममे परम बल प्रगट होता है। अत ऐसे ही कल्याणकी भावना की जाती है। 'न' से हम लोगोके लिये ऐसी जो बहुतोके कल्याणकी भावना है उसमे व्यापकता है, सर्व कल्याणकी भावना है और सबमे वही सदृश एक चेतन है, ऐसा ख्याल हो जानेपर केवल स्वका भी अनुभव हो जाता है।

अवधिज्ञान ऋद्धिधारी परमर्षिका स्वस्तिवाचन—आगे कहते हैं कि अवधिज्ञानी मुनि हमारे लिये कल्याण रूप हो। यहा अवधिज्ञानी क्षामोपशिक अवधिज्ञानीसे मतलब है अथवा अवधिज्ञानीके साथ मुनि शब्द जोडनेसे ही क्षामोपशिक अवधिज्ञानका ग्रहण हो गया, क्योकि उनके भवप्रत्यय नही, क्षामोपशिक गुण प्रत्यय ही अवधिज्ञान होता है। एक पुराण वार्ता है कि एक राजाके हाथकी अगूठी स्नान करते समय तालाबमे गिर गई, लेकिन राजाको इसकी खबर न पडी, पीछे जब ख्याल हुआ तब पुरोहितसे पूछा। पुरोहितने जगलमे जा मुनिसे पूछा। उन्होने उसका ठिकाना बता दिया। वह तालाब पर आया और मुनिके बताये अनुसार स्थानमे अगूठी खोजने लगा और वह मिल गई। अगूठी राजाको सोपी, वह मुनिसे बहुत प्रभावित हुआ, अत उनके पास गया और ऐसा जाननेकी विद्या सिखानेका मुनिसे आग्रह

किया । मुनिने कहा यह विद्या तब आयेगी जब हम जैसे ही हो जाओगे । उसने मजूर किया लेकिन स्त्रीसे सलाह लेनेके लिये घर आया तो स्त्री इसके लिये मजूर नही होती थी । उसने कहा कि केवल ६ माहके लिये मुनि होना पडेगा, पीछे विद्या सिद्ध होनेपर घर आ जाऊंगा । स्त्री इस बातपर मंजूर हो गई । तब पुरोहितजी मुनिके पास आये और मुनि हो गये । गुरु ने उन्हे तत्त्वज्ञान देना आरम्भ किया । ज्ञान बढाते-बढाते और ध्यान लगाते-लगाते उनको स्वरूपका ज्ञान होकर, स्वरूपमे इतनी स्थिरता बढी कि अवधिज्ञान हो गया । अब उनको उस विद्याकी चाह नही रही और वे घर लौटनेकी सुध भी भूल गये, सच्चे साधु हो गये । तो आदर्श आश्रय लेनेसे तत्सम होनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है, तत्सम होनेका सुयोग मिलता है । निमित्तका इतना स्थानापन्न महत्त्व है लेकिन निमित्त हठात् कुछ करा देता है । ऐसी स्वप्नमे भी लाना न होगा तो स्वय अपनेमे से ही अपने ही द्वारा, लेकिन स्वरूपको प्राप्त कल्पना पुरुषोसे हमे अपने विकासकी निमित्तता प्राप्त होती है । यदि हम अपना पुरुषार्थ करके स्वयंको पहिचाननेका यत्न करे तो वह लाभ मिल सकता है । बस शुद्ध चैतन्यको प्राप्त करनेका एकमात्र ध्येय होना चाहिये, तभी शुभ उपयोग अपने स्थानमे उपादेय बन सकता है ।

कोष्ठस्थधान्योपममेकबीजं सभिन्नसश्रोतृपपानुसारि ।
चतुर्विध बुद्धिबलदधान स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न ॥

चतुर्विध बुद्धिबल ऋद्धिधारी परमर्षियोंका स्वस्तिवाचन—कोठेमे रखे धानके समान, जो ज्ञान सुरक्षित रहता है ऐसा बुद्धि बल, १ बीजसे जैसे वृक्ष तैयार होकर अनेक फल प्राप्त होते है उसी तरह बीजरूप एक बातसे पदार्थका बहुत ज्ञान होनेवाला बुद्धिबल, एक ही समयमे भिन्न-भिन्न तरहके अनेक व्यक्तियोके शब्दोको सुनकर सबका ज्ञान हो जाना रूप बुद्धिबल ३, तथा एक पदको सुनकर आगे पीछेके प्रकरणका ज्ञान हो जाना रूप बुद्धिबल ४ । इस प्रकार चार प्रकारके बुद्धिबलको धारण करनेवाले परम ऋषि हमारे लिये कल्याण रूप हो । आत्मामे ज्ञानका अथाह सागर है, अथवा आत्मा ज्ञानमय है, लेकिन बाह्य पदार्थोमे ज्ञानका व्यर्थ उपयोग करनेसे वह ज्ञान लुप्त सा हो रहा है । बाह्य रूप उपयोग करनेसे वह ज्ञान पदार्थोके आश्रयसे अल्पज्ञानका प्रकाश साधारण ससारी जनोके होता है, लेकिन जब यह बहिर्व्यापार मद पडकर अन्त तत्त्वकी ओर मुडता जाता है, तब ज्ञानका विकास अधिक होता जाता है और उसमे भी विशेषता यह होती है कि बाह्यपदार्थों का ज्ञान इन्द्रियोका अवलम्बन लिये बिना ही होता है । ऐसी बुद्धिकी विलक्षणताको ऋद्धि कहा गया है । बुद्धि ऋद्धिधारी मुनीश्वरोका स्वस्तिगान करनेसे हमारी बुद्धिमे भी निर्मलता, विशेषता और विशालता आती है, अपनी विशाल बुद्धिका भरोसा पैदा होता है, और

उसके भी आगे ज्ञानका आधारभूत आत्मत्व अनुभूत होता है। आत्माकी ऐसी चैतन्य अनुभूति ही आत्माके लिये वस्तुत कल्याणरूप है लेकिन उसके लिये बाह्य अवलबन उस विकासको प्राप्त पुरुषोका ही उपयुक्त होता है। अत विकल्पमे ही निम्न दशामे बाह्यके अवलबनपूर्वक स्वकी अनुभूतिका लक्ष्य दिखाया। ये ऋद्धियाँ चाहसे उत्पन्न नही होती हैं। चाह तो ऋद्धियोका बाधक ही है। ऋद्धिस्मरणसे तो पूजक चैतन्यके महत्त्वकी ओर ही जा रहा है।

सस्पर्शन संश्रवण च दूरादास्वादन घ्राणविलोकनानि।
दिव्यान्मतिज्ञान बलाद्वहत स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न ॥

दिव्यमतिज्ञानवन्त ऋद्धिधारी परमर्षियोंका स्वस्तिवाचन—जो परम ऋषि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रियके द्वारा अस्पृष्ट बहुत दूरवर्ती पदार्थका स्पर्शन ज्ञान, स्वाद, गंध, चाक्षुषज्ञान और शब्दश्रवणज्ञान कर लेते हैं। ऐसे दिव्य पतिज्ञानी ऋद्धिधारी मुनीश्वर हमारा कल्याण करे। चक्षुको छोड शेष ४ इन्द्रियाँ पदार्थसे भिडकर अथवा बिना भिडे भी अपने विषयका ज्ञान करती है। यही कारण है कि वह ऋद्धिधारी मुनि दूरवर्ती पदार्थका भी स्वाद ज्ञान आदि कर लेते हैं। लेकिन हमारे इन्द्रिय ज्ञानसे उनके ज्ञानमे विशेषता यह है कि वे अतिदूरवर्ती पदार्थका भी ज्ञान उस प्रकारकी ऋद्धिके बलपर कर लेते है।

ज्ञानपरिणतिके स्रोतके लक्ष्यमें ज्ञानविकासका उद्भव—ऊपर जैसा कह आये है कि ज्ञानकी विशेषता अचिंत्य है, उसकी डिग्रियाँ अनन्त हैं। जिसकी जैसी निर्मलता होती है वैसा ही ज्ञान विकसित होता है तथापि ज्ञान, दर्शन और चारित्र अलग-अलग गुण हैं और उनको बताने वाले गुण भी अलग-अलग है। किन्तु एक गुणके प्रकट होने पर दूसरेमे या एक गुणके निर्मल होने पर दूसरेमे असर पडता है, क्योकि सब गुणोका आधार तो वही एक आत्मा है। इस तरह आत्मद्रव्य उसके अनतगुण और अनत उनकी परिणतिया इनके यथार्थ ज्ञानसे सम्यक्ज्ञान होता है। परिणतियाँ स्वद्रव्यसे ही प्रगट होती है, अन्यसे नही—बाह्य द्रव्यसे नही। जिस चीजसे परिणतियाँ प्रगट होती है वह ध्रुव और अचल है। और जो परिणतियाँ होती है वह अध्रुव और चल हैं। जैसे —एक अगुलीकी अनेक दशाए है वह टेढी है, मुडी है, सीधी है आदि। तो ये अनेक दशाए किसकी है ? एक अगुलीकी। लेकिन उस एक अगुलीको कहा जाय तो एक दशासे कहा जायगा। टेढी अगुली, सीधी अगुली लेकिन द्रव्य एक पर्यायवान नही है अत. अगुलीका वास्तविक परिज्ञान शब्दो द्वारा करना असम्भव है। यहाँ अगुलीका मात्र दृष्टात है। अत सामान्य दृष्टिको मुख्य करके द्रव्य कहा जाता है, उसे पहचान लेनेसे सम्यग्ज्ञान होता है, इसकी उपासना करनेवाले साधु है जिनके

ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती है। ये ऋद्धियाँ तो बीचकी चीज है, मनुष्य लोककी चीज है, आत्मसाधनाका फल तो परमार्थ प्राप्त होना है।

निर्विकल्पदृष्टि पानेके पौरुषमें मनुष्य जीवनकी सफलता—मनुष्य जीवनकी सफलता इसीमे है कि विषयकषायोको छोड परमार्थको प्राप्त किया जाय। विषय कषाय तो तिर्यञ्च भी करते है, और हमने भी किये है। लेकिन मनुष्य भवकी सार्थकता विषयसेवन आदिसे नही है। यह तो भाड झोकनेके समान हुआ और जैसे कोई देहाती आदमी कमाईके लिये दिल्ली जैसे शहरमे गया, लेकिन वहाँ कोई बडा व्यापार न कर भाड झोकनेका काम करता रहा। जब अपने घर वापिस लौटा तो लोगोने पूछा कि कहाँ गये थे ? वह बोला दिल्ली। वहाँ क्या किया ? तो बोला भाड झोका। तब लोगोने कहा कि भाड ही झोकना था तो अपने ही गाँवको ही क्यो छोडा ? उसे तो यहाँ भी कर सकते थे ? इसी तरह कहा जाता कि यदि विषयकषायमे ही जीवन बिताते रहे तो मनुष्यभव पानेकी क्या सार्थकता हुई, वह तो तिर्यञ्च आदि पर्यायोमे भी कर सकते थे। कल्पना करो कि लौकिक पदमे ऊँचेसे ऊँचा पद पा लिया तो उससे आत्माका क्या हित सधा ? हित तो एक निर्विकल्प दृष्टिमे है।

स्वोपयुक्त होनेके लिये आवश्यक पौरुषकी चर्चा—अपनी ओर दृष्टि आवे, इसके लिये मोटी बात यह तो आना ही चाहिये कि मैं सदासे हू और सदा रहूगा, मिटता नही हू पहिले था, अब हू और आगे रहूँगा, ऐसा तो मै हू। परन्तु पहिले और अब जो सयोगी अवस्था है वह मैं नही हू। शरीर आदिके सयोग सर्वथा पर है। जब इतना जान लेवे तो फिर आगे बढे कि सयोग मेरे आधीन नही है। मनपराद सारे संयोग मिल भी जाये तो वे हमेशा रहने वाले नही है, नियमसे उनका वियोग हो जाने वाला है और जब तक संयोग है तब तक भी उनसे मुझमे कुछ आने वाला नही है। अत पर मेरे सुखके साधक नही है। सयोग और वियोग दोनोमे पर दुखके निमित्त कारण है। फिर आगे बढ विचारे कि ये समस्त पदार्थ अपने चतुष्टयमे परिणमन कर पाते है और हम अपने परिणमनमे है। इससे भी आगे वस्तु स्वतत्र सत्ताका भान हो, बोलना और लिखना आदि व्यापार रुककर अभेद स्वकी अनुभूतिमे पहुचे, उस स्वकी अनुभूतिके पहिले कर्मोसे और कर्मोदयके निमित्तसे होने वाले रागादि भावोसे भिन्न आत्मा अनुभवमे आना चाहिये। तब फिर इन सबका भी विकल्प हटकर केवल स्वकी अनुभूति होने लगती है। वह अनुभूति द्वारा ही गम्य है। शब्दो द्वारा कुछ वर्णन किया जा सकता है, शब्दोसे वस्तुतत्त्वका अवलोकन नही कराया जा सकता। उस अनुभवमे अनादि, अनंत, अहेतुक, एक ब्रह्म रूपका ही भान होने लगता है। ऐसा अनुभव जब होता है, तब उपरोक्त शैलीसे ही होता है। ऐसे निर्मल उपयोगमे विचरने वाले ऋषीश्वर होते है, जिनके कारण उन्हे अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती है और निकट

भविष्यमे उन्हे वह स्वरूप अवस्था सदाके लिये भी प्राप्त हो जाती है। तब अरहंत और सिद्ध दशा प्राप्त हो जाती है। ऐसे ऋषीश्वर हमारे लिये कल्याण रूप हों। यद्यपि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नही करता लेकिन व्यवहार दशामे श्रद्धा निश्चयकी रहते हुए भी ऐसा कहते है। श्रद्धा यदि यथार्थ है तो व्यवहारकी ये प्रवृत्तियां पहली भूमिकामे हेय नही हैं, व्यवहारकी दृष्टिसे उपादेय भी हैं।

वस्तुस्वातन्त्र्यकी मीमांसा— प्रश्न – एक पदार्थका दूसरेपर असर होता है या नही ? उत्तर – नही होता, त्रिकालमे कभी भी नही होता। लेकिन असर होनेमे कहो या परिणमन होने मे, उपादानके साथ जिन पदार्थोंका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है वे निमित्त कहलाते हैं, वे निमित्त उपादानमे असर नही करते। असर तो उपादानका स्वय अपनेसे ही है। हाँ वह असर निमित्तकी उस स्थितिमे हुआ, सो कोई भी कार्य जब होगा तब वहाँ कोई न कोई निमित्त उपस्थित होगा ही। लेकिन निमित्तकी इस उपस्थितिसे उपादानमे पराधीनता न आयगी कि उसके निमित्तसे उपादानमे यह असर हो गया या यह परिणमन हो गया। हा यह बात अवश्य है कि नैमित्तिक अर्थात् औपाधिक भाव किसी अन्य द्रव्य उपाधिका निमित्त पाकर ही होता है, परन्तु प्रतीक्षाकी रच भी बात नही है। असर, कार्य, परिणति और पर्याय–ये सब समान अर्थवाची शब्द हैं। अब असरके सम्बन्धमे विचार करे। द्रव्य, गुण और पर्यायसे पृथक् किसीका अस्तित्व नही कहा जा सकता। तो असर जिसे हम कहते है वह कोई स्वतन्त्रद्रव्य नही है, किसी द्रव्यका गुण भी नही है। तब वह पर्याय ही हो सकता है।

एक उदाहरण द्वारा वस्तुस्वातन्त्र्यकी चर्चा—कागजको अगुलियोसे फाडा तो यह असर किसका है ? क्या अगुलियोका ? नही, कागज फटनेका कार्य अगुलियोमे नही, कागज मे हुआ है, हाँ अगुलियोका निमित्त है। निमित्त पाकर ही उपादान अपना विपरीत असर कर पाया है। इसमे उपादानके पराधीनताकी बात नही आती। उपादानकी योग्यता ऐसे ही है कि उस तरहके परिणमनमे उस तरहका निमित्त उसे होता ही है। कागजकी बात छोडो जब हम अगुलियोके कार्यको जो कि कागजके फाडनेके लिये हुआ है निश्चयसे तो वह क्रिया भी कागजके लिये नही, स्वयकी स्वयके लिये है, विचारेंगे तो वह अपने उपादानसे हुआ है उसमे उसका ही असर है। यहाँ तक कि प्रत्येक अगुली और प्रत्येक अगुलीमे अनन्त परमाणुओके परिणमनमे कागज निमित्त है, उपस्थिति मात्र है, जब कि कागजके असरमे अगुलियाँ उपस्थितिरूप निमित्त थी तो उसी समय अंगुलियोके उपादानके परिणमनमे कागज भी निमित्तरूप है। दोनो स्वतन्त्र है एकके लिये दूसरा उस कार्यके क्षणमे उपस्थित होनेसे निमित्त कहलाता है, पराधीनता किसीमे नही आती।

नोकर्मके आश्रयसे होनेवाले कार्यमें भी वस्तुस्वातन्त्र्यका निर्णय——इसी कागजके फाडनेके कालमे आत्मापर जो असर हुआ उस प्रकारकी क्रिया करनेके विकल्परूप वह भी उसका ही परिणमन है और जिस कर्मके उदयसे वह इच्छा हुई है वह उदयरूप कार्य उन कर्मरूप पुद्गलोका है। इस तरह एक ही कालमे जिस-जिस द्रव्यका जो जो परिणमन है वह उस उस स्वयंका है। उस कालमे जिस जिसकी उपस्थितिसे जिस-जिस कार्यमे निमित्तनैमित्तिक संबंध रूप सहायता प्राप्त हुई है उसे उस उसका निमित्त कहते है। अत. यह धारणा मिथ्या है कि अमुक पदार्थने अमुकपर प्रभाव डाल दिया। व्यवहारमे ऐसा कहनेमे आवे भी, लेकिन श्रद्धा तो उपरोक्त प्रकार ही होनी चाहिये। हमारे कहनेका आपपर असर हुआ और आपको पदार्थबोध हो गया। ऐसी श्रद्धा यथार्थ नही है। आपके ज्ञानका विकास आपमे से ही हुआ है। हमारे शब्दोकी उपस्थितिका संयोगका निमित्त पाकर हुआ, यह ठीक है। अत हमारे शब्दोकी निमित्तता कहलायगी। परन्तु असर किसीका किसीमे आता नही है। वस्तुत ये शब्द भी हमारी परिणति नही।

यदि ऐसा न हो तो राग द्वेष आदि भाव आत्माके न रह कर्मके हो जावेगे। जब कि कहा जायेगा कि ये कर्मके असरसे हुआ अथवा जीवके स्वभाव बन बैठेगे। कहा भी है—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्वा नान्यद्द्रव्य वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरतश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वभावेन यस्मात्॥

निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्यका वर्णन—ये विभाव आत्मामे विकार है सो स्वाश्रित हैं और पर-उपाधिको निमित्त किये विना नही होते, अत पराश्रित हैं। इस प्रकार वे कथंचित् स्वाश्रित भाव और कथचित् पराश्रित भाव कहे जाते है। लेकिन एक द्रव्यका दूसरा कर्ता कभी भी किसी भी प्रकारसे न होगा। एक द्रव्य द्वारा अन्य द्रव्यके कर्तृत्वकी पुष्टि जिन शब्दोसे हो, जिन संकेतोसे हो वह सब कथन यथार्थ नही है। बात तो यथार्थ यह है कि उपादानमे जिस तरहसे परिणमनकी योग्यता जिस निमित्तसे है वही परिणमन होगा, दूसरा कैसे हो जायगा ? चाहे दिखानेवालोको वह व्यवस्थित मालूम दे या अव्यवस्थित ऊटपटांग, क्रमपर्यायमे फर्क नही पड सकता। क्रमभावी पर्याय किसी निमित्तभूत अन्य द्रव्यके आश्रित नही है। उपादानकी स्वतन्त्रतासे है वह। हाँ विभाव वह उपाधिको निमित्त करके ही हुआ। केवली भगवानने ऐसा देखा है, इसलिये इस पदार्थकी वैसी परिणति हो जाती है, यह बात भी नही है। ज्ञानका परिणमन अपनेमे अपनेसे है। उसके परिणमनसे परमे क्रिया हुई, परिणमन हुआ, ऐसा मानना तो मोटा मिथ्यात्व हुआ। संसारी अनन्त जीवोका, मुक्त अनन्त जीवोका, प्रत्येक अनंत पुद्गल परमाणुओका तथा धर्म अधर्म द्रव्यका, प्रत्येक कालाणुका परिणमन स्वतन्त्र हो रहा है, होता आया है और होता रहेगा

और वह परिणमन प्रति समयवर्ती हो रहा है। प्रत्येक द्रव्यमे जो अनन्तगुण हैं उनके परिणमन भी स्वतन्त्र हैं। एक गुणका परिणमन त्रिकालमे भी रमगवादिरूप न होगा। इसी तरह अन्य द्रव्योके अन्य गुणोमे भी जानना चाहिये।

अन्तरोन्मुख होकर सहज आनन्द पानेके पौरुषका कर्तव्य—उपसहृत वात यह है कि अनादि कालसे इस जीवने जो मोटी भूलकी है वह यह है कि निमित्तको प्रधान करता आया, संयोगपर दृष्टि रखी, सयोगी अवस्थाको द्रव्यका स्वरूप माना, तव अपने द्रव्यसे अनभिज्ञ रहा या कहो अपनेको भूला रहा। यह भूल सबसे बडी भूल है जिससे अब तक धर्म का अकुर नही उग सका। क्योकि धर्म तो आत्मस्वभावका आश्रय करनेसे होता है। वाह्य शारीरिक क्रियाओमे धर्मका अनुमान गलत होता है। तो जब तक यथार्थ आत्मद्रव्य गुण और पर्यायका वोध न हो, ऐसा बोध जो यथार्थ श्रद्धासे पूर्ण हो तब तक मोक्ष दूर ही रहता है। अत जो मोक्षके इच्छुक है, ससारसे भयभीत है, आकुलताको खतम करना चाहते है वे आत्मस्वरूपको समझे, उनके गुणो और पर्यायोको देखें और फिर पर्यायोके स्रोत गुण मे पर्यायको लीन करके और गुणके अभिन्न आश्रय द्रव्यमे गुणोको लीन करके सत्यरूपमे ही लीन रहनेका लक्ष्य बनाकर पुरुषार्थ करते चले तो ऐसा सत्पुरुषार्थी नियमसे अपने लक्ष्य को पा लेगा। उसकी आकुलताए सर्वथा नष्ट हो जायेगी। उसकी ससारी पर्याय खतम होकर मोक्षपर्याय प्रगट होगा, वह ध्रुव सत्य है, हम सबको ऐसा ही पुरुपार्थ करना चाहिये। इस अन्तरोन्मुख चिन्प्रतिभासके मात्र योगीको ये ऋद्धियाँ मार्गमे सरलतया प्राप्त होती है।

प्रज्ञाप्रधाना श्रमणा समृद्धा प्रत्येकबुद्धा दशसर्वपूर्वै ।
प्रवादिनोष्टागनिमित्तविज्ञा स्वस्तिक्रियासु परमर्षयो न ॥

प्रज्ञाश्रमणादि ऋद्धिधारी परमर्षियोंका स्वस्तिवाचन—अभी यह बुद्धि ऋद्धियोका वर्णन चल रहा है, प्रज्ञाश्रमण प्रत्येक बुद्ध दशपूर्वित्व सर्वपूर्वित्व प्रवादित्व अष्टाग निमित्तविज्ञत्व इन ऋद्धियोके धारक परमर्षि हमारा कल्याण करे। यहाँ पूजककी श्रद्धा तो ऐसी यथार्थ ही है कि प्रत्येक द्रव्यका परिणमन स्वसामान्यसे ही विनिर्गत होता है। ऋद्धीश्वर महात्मा अपना ही परिणमन करते हैं, कल्याण करते है और उनके स्मरणरूप जो निजका ध्यान परिणमन है वह मुझ निजका कल्याण करता है तथापि जिनको ज्ञानका विषय बनाकर हम यह प्रसाद पा रहे है उनके प्रति बहुमान है, उसमे इस ही प्रकार विनय चल रहा है और आनन्दकी घोषणा हो रही है, परमर्षिदेव कल्याण करें।

जघावलिश्रेणिफलाम्बुतन्तुप्रसूनबीजाकुरचारणाह्वा ।
नमोऽगणस्वैरविहारिणश्च स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न ।

जंघावलिश्रेणिफलाम्बुतन्तुचारण ऋद्धिधारी परमर्षियोंका स्वस्तिवाचन—निज

चैतन्यप्रभुके अतुल लक्ष्यप्रसादसे जिन मुनिराजोको ऐसी शक्ति प्रकट हुई कि चार अगुल पृथ्वीको छोडकर आकाशमे घुटनेको मोडे बिना केवल हिला कर ही जो बहुत योजनो तक गमन करते है वे जघाचारण ऋद्धि वाले योगीश्वर हम सबका कल्याण करे। आवलिश्रेणि ऋद्धिके ईश्वर योगिराज आकाशकी श्रेणियोमे सीधे गमन करते चले जाते है, अगल-बगल कही नही डुलते, ऐसी ऋद्धिके धारी हमारा कल्याण करे। यहाँ सर्वत्र यह दृष्टि न भूलना चाहिये कि यहाँ ऋद्धि जिसके ध्यानसे होती है वह धर्म है, उस चैतन्य प्रभुकी दृष्टि धर्म है, वही आराध्य है। फलचारण ऋद्धिके धारी योगीश्वर वे है जो छोटे छोटे फलोके ऊपर गमन करते चले जाते है परन्तु फलोको व अन्य जन्तुवोको किञ्चित् भी बाधा नही होती है। जलचारण ऋद्धि ज्ञानजलमे अवगाहन करनेवाले योगीश्वरोके प्रकट होती है, जिससे समुद्र पर भी बहुत बीचो तक बिना खेदके थलकी भाँति चले जाते है और जल-जन्तुवोको किञ्चित् भी बाधा नही होती है। तन्तुचारणऋद्धिधारी ऋषीश्वर मृणालतन्तु जैसे सूक्ष्म तन्तुओपर विहार करे और वह टूटे भी नही। ऐसे चारण ऋद्धीश्वर हमारा कल्याण करे।

प्रसूनबीजांकुरनभश्चारण ऋद्धिधारी परमर्षियोंका स्वस्तिवाचन—प्रसून चारण-ऋद्धि—निज चैतन्य भावके दृढ लक्ष्यबलसे उत्पन्न हुए मुनीश्वरोके परिणामोसे ऐसी शक्ति प्रकट होती है कि वे योगीश्वर जिन्हे प्रसूनचरण ऋद्धि प्रकट हो गई है फूलोपर भी विहार करते जांय तो भी फूलोको व फूलोपर रहनेवाले किसी जन्तुको बाधा नही होती। ऐसे प्रसूनचारण ऋद्धिके ईश्वर परमर्षि हमारा कल्याण करे। बीजचारणेश्वर—बीजोपर विहार करते चले जाये तो भी बीजोको या अन्य जन्तुवोको लेश भी बाधा नही होती। ऐसे बीज चारणऋद्धिवाले परमर्षि हमारा कल्याण करे अर्थात् वे गुण हमारे सदा ध्यानमे बने रहे। अकुरचारण ऋद्धिवाले योगीश्वर अकुरोपर भी विहार करते जावे तो अकुरोको जरा भी बाधा नही होती, ऐसे परमर्षि हमारा कल्याण करें। नभश्चारण ऋद्धिवाले योगीश्वर आकाशमे पद्मासन अथवा खड्गासन या किसी भी प्रकार अवस्थित होते हुए भी आकाश मार्गसे चले जाते हैं ऐसे परमर्षि हमारा कल्याण करे। ये ऋद्धियाँ आत्मभावनाके दृढ प्रयत्न बिना प्रकट नही होती है। इन बलोसे यह मनमे पूर्ण श्रद्धा होती है कि अहो इन योगी-श्वरोने बहुत ही निश्चल आत्मोपयोग बनाया। ये साधु संत हमारे मंगल हो।

ज्ञानियोंके स्वावलम्बनका लक्ष्य—पूजक किन भावोसे पूजा करता है, वह प्रस्तावना मे दिया गया है। यद्यपि वह बाह्य अनेक वस्तुओके निकट है तथापि उसकी दृष्टि पूजनकी द्रव्य, जिनप्रतिमा और शुभोपयोगमे भी न रह शुद्ध चैतन्य भावोके अवलम्बनकी होती है। साधुओकी भी यही शैली होती है। वे भी अपने व्रत तप आदिका यही लक्ष्य रखते हैं, क्योकि उनको सर्वदा कल्पनागत परका यो अनुभव होता रहता है कि मेरेसे अन्य सब

पदार्थ मुझसे भिन्न है। यही नही, इस कल्पनासे भी आगे स्वकी अनुभूति हुआ करती है, वह अनुभूति स्वके लक्ष्य बिना नही हो सकती। श्रावक हो या साधु उसको अपने सिवा सब अशरण रूप प्रतिभासित होते हैं। व्यवहार दृष्टिमे कदाचित् पंचपरमेष्ठीको शरण मानता है, तब उनके स्वरूपको विचारता हुआ भी स्वके स्वरूपमे ही आ जाता है, क्योकि परमेष्ठियोकी जो शुद्ध आत्मा है उनका अनुभव करनेसे स्वकी शुद्धता प्रगट हुए बिना नही रहती। मतलब यह है कि स्वाश्रयके लक्ष्यपूर्वक उसमे ही स्थित रहनेके सिवा धर्मका कोई काम है ही नही करनेका। और दूसरे सब शुभोपयोगके काम इसीके लिये होते है। ऐसे शुभोपयोगोमे राग कुछ कम होने पर सावधानी जगती है।

अन्तः विराजमान प्रभुकी प्रसन्नता हेतु प्रभुभक्ति—हमारे खुदका भगवान रूठ गया है और वह खुदकी करतूतोसे ही रूठा है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' की मान्यताके अनुसार पर्याय की अनेक कल्पनाओको करता हुआ अपनी संसारकी सृष्टि करता है, मैं मनुष्य हू, पशु हू, दीन हूँ, दरिद्र हू, बलवान् हू, धनवान हू आदि पर्यायाश्रित मान्यताओसे अपने भगवानको भूला रहता है। उस निज भगवानको प्रसन्न करनेके लिये पूजक अपनी एक स्वभावकी दृष्टि बनाये हुए पचपरमेष्ठीकी शरण लेता हुआ पूजा करता है। कभी देखा होगा कि पिता मे अधिक श्रद्धा होने पर पुत्र उनकी फोटोका विशेष आदर करता है। यदि प्रेम विशेष न हो तो उस व्यक्तिके चित्रको भी विशेष आदर नही देता। इसी तरह भगवानमे श्रद्धा रखने वाले भक्तका उनकी मूर्तिमे भी विशेष आदर होता है। फिर भी वह मूर्ति और मूर्तिमानके अन्तरको नही भूलता। ऐसी तैयारी करके खडा हुआ वह पुजारी चौसठ ऋद्धि-धारी साधुओका स्वस्तिवाचन पढ रहा है।

अणिम्निदक्षा कुशला महिम्नि लघिम्निशक्ता कृतिनोगरिम्णि।
मनो वपुर्वाग्वलिनश्च नित्य स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न ॥

अणिमा ऋद्धिधारी परमर्षियोंका स्वस्तिवाद—साधु संसारकी समस्त वाछनाओसे रहित एक स्वभावकी दृष्टि और अनुभूतिमे अचल रहनेवाले होते हैं, जिससे उनकी आत्मा मे ऋद्धियाँ प्रगट होती रहती है, उन्हीका यहाँ वर्णन है। ऋद्धियोमे से कितनी ही ऋद्धियो का असर आत्मगुणोके परिणमनमे है और कितनी ही ऋद्धियोका असर आत्मसम्मुखी अन्य द्रव्योमे होता है। अणिमाऋद्धि—इस ऋद्धिसे इतना छोटा शरीर बना सकते है कि वह मृणालके छिद्रमेसे निकाला जा सकता है। ऐसे ऋद्धिधारी साधु हमारा कल्याण करे। उनसे कल्याण कहनेका उपचार है उनका आश्रयमात्र लेता हुआ यह पूजक अपने ही द्वारा अपने भावोसे शुभकल्याण करे। लेकिन परमेष्ठीरूप स्वाश्रयको ग्रहण करनेसे ऐसा भाव भगवानके प्रति भक्तोका होता है।

ज्ञानपरमर्षियोंकी भक्तिमें परमर्षिभक्तिव्यवहार—पहिले बता आये है कि पदार्थके विज्ञानमे हर जगह ३ बातें होती है—१ शब्द, २ अर्थ, ३ ज्ञान। मुनिमे भी ये ३ बाते लगाना। तब मुनिके ३ भेद होगे–१ शब्दमुनि २ अर्थमुनि और ३ ज्ञानमुनि, मुनि शब्दके कहनेसे जो 'मुनि' शब्द ज्ञात हुआ वह शब्दमुनि है। शब्दके द्वारा मुनिरूप जो वाच्यार्थ है उसे अर्थमुनि कहते है। अर्थमुनिका स्वरूप इस तरहसे बतलाया है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

जो भूत भविष्यत और वर्तमानकालिक विषय वासनाओ आशाओसे निर्वृत्त हो चुका है, इसी लिये जिसके आरम्भ और परिग्रह नही हैं तथा जो ज्ञान, ध्यान और तपमे लवलीन रहते है वे मुनि अर्थमुनि है। उनके लगने का सबसे बडा महत्त्वपूर्ण पहिला काम है ज्ञान, अर्थात् शुद्ध यदि ज्ञायकस्वभावमे स्थिर न रह सके, उस अवस्थाको प्राप्त न हो तो केवल पदार्थोंके ज्ञाता रहे। यदि यह भी अवस्था न हो सके तो धर्मध्यान करना और उसमे भी स्थिरता न हो तो तपोमे लगना। ये ही काम मुनिके होते हैं। ऐसे ही मुनि कहलाते है। यह अर्थमुनिका भेद है और ऐसे मुनिका हमारे हृदयमे जो ज्ञान लेता है वह ज्ञानमुनि है। हमको अर्थमुनिका ज्ञान होनेसे हम ज्ञानमुनि है। मुनि शब्द हम जो सुनते है वह शब्दमुनि और ज्ञानमुनि तो हममे ही है और अर्थमुनि मुनीश्वर है तो उनका ध्यान करते करते जो उपयोगमे मुनि हो जाते है उनमे निमित्तभूत अर्थमुनि है। यहा निर्मल भावका प्रधान कारण ज्ञानमुनि है। गृहस्थीमे भी ज्ञानसाधु होकर अपना कल्याण कर सकते है। तो ज्ञानसाधु बननेके लिये अर्थसाधुकी आश्रयमात्र आवश्यकता है। निश्चयत हमारा जो परिणाम है वह हमारे लिये कल्याणकारक होता है।

महिमा ऋद्धिधारी परमर्षियोंका स्वस्तिवाद—महिमाऋद्धिसे शरीर विशालकाय वन जाता है। यह ऋद्धिका कार्य इच्छा मात्रसे और प्रदेशोकी चंचलतासे होता है। अपने मनमे जैसे हाथ पैर चलाने आदिकी इच्छा होती है तब उन आगोपाङ्गोमे हलनचलन होकर वह क्रिया होती है, उसी तरह ऋद्धिधारी यति इच्छा मात्रसे शरीरको विशाल बना लेते है। परन्तु ऋद्धिकी योग्यता इच्छासे नही होती। इच्छायें तो ऋद्धिकी बाधिकायें है। धवलशास्त्रमे ६४ ऋद्धियोके ६४ सूत्र आये है। इन ऋद्धियोका वर्णन सुनते समझते यह ख्याल जाता है कि ये ऋद्धियां कैसे पैदा हो जाती है? तो इसके लिये एक ही कलाकी जरूरत है, वह कला है 'स्वानुभूति' की। जिसका भवितव्य उत्तम है उसकी तो बस यही कला प्रधानतया है। एक रगरेजको आसमानी रग रगना अच्छा आता था और उस रंग को वह दिलसे पसंद भी करता था। उसके घर जो व्यक्ति कपडा रंगानेको आते और वे

हेरा पीला गुलाबी आदि रंग करनेको कहते, तब रगरेज सबको हाँ कहकर पीछे यह जरूर कहता कि रगं तो आसमानी अच्छा होता है और वही ठीक रहेगा। तो जिनको जो अच्छा लगता है, उनकी रुचि उसीमे होती है।

स्वानुभवरुचिक संतोंके ऋद्धियोंका समागम—सम्यग्दृष्टियोकी रुचि एक ही है 'स्वानुभूति' की। उनका लक्ष्य और कार्य तो स्व-उपयोगका ही होता है और सब अवलबन तो छोड देनेके लिये होते है। जैसे ऊपर छतपर पहुचनेके लिये एक एक सीढी ऊपर चढन है लेकिन जिस सीढी पर चढते है उसको छोडते जाते है। सीढ़ीका अवलबन मानो छोडने के लिये ही होता है, नही तो छतपर नही पहुचा जा सकता, लेकिन कोई सोचे कि सीढो को जब छोडना ही पडता है तो उसे ग्रहण ही क्यो किया जाय ? तो ऐसे विचारसे वह छतपर ही न पहुच सकेगा। उसका अवलबन लेते हुए भी उसके छोडनेका भाव रखे, लक्ष्य ऊपर पहुचनेका रखे तो नीचेकी सीढी छूटती जायगी और इष्टस्थान प्राप्त हो जायगा। जो जीव अनादि कालसे परावलबनमे लगे होते है उन्हे स्वरूपकी प्राप्तिका लक्ष्य बनाकर शुभोपयोगमे आना ही पडता है। ऐसी ही इसकी शैली है। ऐसी परिणति बनाने वालो की ऐसी ऋद्धि प्रगट होनी है।

लघिमा व गरिमा ऋद्धिधारी परमर्षियोंका स्वस्तिवाचन—लघिमाऋद्धिसे शरीर हल्का रुईसे भी हल्के वजनका बन सकता है। आजकल भी ऐसे लौकिक कलाकार हैं कि धोती को चारो कोनोमे चार आदमी अधर पकड लेते है, और कलाकार उसके ऊपर जमीन जैसा चलता है शरीरको इतना हल्का बना लेता है। तो फिर अलौकिक आत्मादि शक्तियो के बारेमे तो कहा ही क्या जाय ? किसीके चलनेमे पैरोसे धम धमकी आवाज आती किसी के चलनेमे नही आती। किसीके चलनेमे कीडी आदि पैरके नीचे आ जानेपर उसका बचाव हो जाता है जबकि किसीके चलनेमे पैरके नीचे कीडी जन्तु आनेपर प्राय मर ही जाते हैं। इसमे सदयभाव और निर्दयभावका भी बहुत कुछ कारण होता है। जो साधु जीवोकी हिसा बचाने मे आत्मसावधान और निर्मलचित्त रहते है उनके ऐसी ऋद्धि प्रगट होती है कि पत्र पुष्प और जल आदि पर गमन करते हुए भी उनकी विराधना नही होती। लघिमाऋद्धिके बाद गरिमाऋद्धि बतलाई है जिससे शरीरको बहुत भारी बनाया जा सकता है। जन्मकाल से ही हराया गया प्रद्युम्नकुमार युवा होकर और विद्याओको प्राप्त कर जब द्वारकामे आया तो विद्याओके बलसे ऋद्धियोसे प्रगट होनेवाले जैसे अद्भुत कार्य दिखाये थे, उनमे एक कार्य यह भी था कि अपने शरीरको ऐसा भारी शरीर बनाकर सत्यभामाके द्वारपर पड रहा कि बडे-बड़े सामन्तोसे भी टससे मस न हुआ। वह तो विद्याबलका काम था। यह ऋद्धिका प्रकाश है।

मनोबली, वचनबली व कायबली ऋद्धिधारी ऋषियोंका स्वस्तिवाचन—मनोबल ऋद्धिसे अंतर्मुहूर्तमे सम्पूर्ण द्वादशाग पाठ चिंतवन किया जा सकता है और वचनबल ऋद्धि से अतर्मुहूर्तमे सम्पूर्ण द्वादशागका पाठ कर सकते है। कायबल ऋद्धिसे अनेक उपवास आदि होनेपर भी कांति, आवश्यक कार्य आदि शरीरकी विशेष चामत्कारिक बातें होती जा सकती है। कोई अन्तर नही होता। विषयकषायोसे मनको हटाकर दृष्टि जब ध्रुव चैतन्यमे लगाई जाती है जो कि सारभूत है तब आत्मामे अद्भुत शक्तियोका प्रादुर्भाव हो जाता है जिन्हे ऋद्धिया कहते हैं। किन्ही किन्ही तपस्वियोकी साधना इतनी गम्भीर होती है कि ऋद्धि प्राप्त होनेपर भी उनको यह मालूम भी नही पड पाता कि मुझे ऋद्धि प्रगट हुई है। क्योकि ध्यान आतमसाधनामे लगा रहता है। अन्य सबसे उपेक्षित भाव रहता है। जिसने हलुआका स्वाद दिया है उसे उसका वर्णन सुनते हुए बाते सरलतासे गले उतरती जातो हैं, लेकिन जिन्होने उसका स्वाद नही लिया है, वे उसका वर्णन सुनते हुए कहने वालेकी मुहकी तरफ देखते रहते है, भीतर उस बातको गले उतारनेकी चेष्टा करते हुए। इसी तरह जिन्होने अपने स्वरूपको देखा है ऐसे ज्ञानी जीवोको चैतन्यस्वभाव और चैतन्य-शक्ति शीघ्रतासे व्यक्त हो जाती है, जबकि अज्ञानी जीवोको चिरकालके परिश्रमसे भी व्यक्त नही हो पाता। तो आपमे (आत्मा) सारभूत चीज क्या है ? रागादि पर्याये ? नही। अनादि अनन्त अहेतुक ध्रुव स्वभाव रूप द्रव्य सार भूत और दृष्टि द्वारा उपादेय है। वह सारभूत तत्त्व सम्यग्ज्ञान द्वारा ही गम्य है उसकी सत्ता तो हमेशा है, लेकिन शुद्धदृष्टि बिन अव्यक्त ही रहता है। दृष्टिकी शुद्धता आने पर वह प्राप्त हुए बिना नही रहता और अनेक ऋद्धियाँ भी प्रगट होती जाती है, जो कि साधकके लिये गौण होती है, उपेक्षणीय होती है। यदि उनमे चित्त लुभा जावे तो पूर्ण शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेमे रुकावट पडती है।

सकामरूपित्ववशित्वमैश्य प्राकाम्यमन्तर्द्धिमथाप्तिमाप्ता ।
तथाप्रतीघातगुणप्रधाना स्वस्तिक्रियासु परमर्षयो न ॥

निरीहतामें ही इच्छानुसार रूप बना लेनेकी ऋद्धियोंकी प्राप्ति—इच्छानुसार रूप बना लेनेकी एक जो ऋद्धि है वह निरीहतासे प्राप्त होती है। इच्छाओंका जहा अभाव हो जाता है, वहा ऋद्धिया प्रगट हो जाती हैं। लेकिन ऋषीश्वर उन ऋद्धियोकी भी इच्छा नही करते। वे योगीन्द्र आत्मा और जड शरीरके भेदको स्पष्ट जानते रहते है, यो तो अविरती भी जड़ और चेतनको भेदरूप अनुभव करता है, लेकिन वह विषयोका त्यागी न होनेसे आत्मक्रियामे असावधान रहता है, जबकि योगी आत्माकी क्रियामे पूर्ण दत्तचित्त रहते हैं। यद्यपि साधु अवस्थामे भी अन्तर्मुहूर्तसे अधिक समय तक आत्मा अपनेमे उपयुक्त नही रह पाती तथापि उनका आत्मपुरुषार्थ इतना प्रबल होता है कि प्रमत्त अवस्था भी अन्तर्मुहूर्तसे

अधिक नही हो पाती और आत्मा अपनेमे आजाती है। ऐसे योगीन्द्रोमे भी जिनके विशेष निर्मलता होती है उनके ही ऋद्धियोका प्रादुर्भाव होता है। लोक व्यवहारमे भी ऐसा देखा जाता है कि घरका जो व्यक्ति निरीह हो जाता है वह उतना ही आदरणीय बन जाता है। दुखका कारण इच्छाए ही है अथवा इच्छाए स्वय दुख रूप हैं। दुखका लक्षण आकुलता दिया है और आकुलता इच्छाका ही रूप है, अत दुख निवृत्तिके लिये इच्छाओका निरोध करना पडेगा। इच्छाओसे होने वाले दुख उनके अभाव होने पर ही मिटेंगे और इच्छाओका अभाव वस्तुस्वरूपके परिज्ञानसे होता है। तब दुख निवृत्तिके लिये मूल बात यह है कि वस्तुके सत्यरूपको देखा जाय, अनुभवमे लाया जाय, जडको जड समझा जाय, चेतनको चेतन समझा जाय। जड परमाणुओके स्कन्धोसे जो यह शरीर बना है उसे परमाणुओके रूपमे भी ज्ञानमे अनुभव किया जाय। सयोगी अवस्थामे भी उस महत्त्वको परखा जाय जो कभी नष्ट नही होता, असयोगी और सयोगी दोनो हालतोमे अपने रूपको नही छोडता। यह अनुभव तब होगा जब सयोगी दृष्टि हटकर असयोगी एकत्वरूप होगी। सयोगी दृष्टिवाले वस्तुके उस सत्यरूपको देखनेमे असमर्थ रहते है वे अनेक तरहकी विडम्बनाओमे पड़े रहते हैं, जिससे उन्हे वस्तुका इस तरह स्वतन्त्ररूप नही दीखता। जब वस्तुका स्वतन्त्र रूप दिखने लगता है तब रागकी मदता जाती है, और क्रम क्रमसे अभाव भी हो जाता है।

मूढ़तामें ही कर्तृत्वबुद्धिकी उपज—हम लोग अपने भविष्यकी चिंतामे पडे रहते हैं किन्तु एक दृढ श्रद्धा हो जाय कि जो होगा सो होगा, होने वाला तो होगा ही, केवलज्ञानियोने जिसे बिल्कुल स्पष्ट देख लिया है वही होगा, तब हम उसके विषयमे चिन्ता क्यो करे ? कदापि नही। निमित्तोकी चिन्ता नही करनेसे शाति आयेगी। लोगोको कर्ता कर्मकी बुद्धि पेरती रहती है। मैंने घर बनाया, धन कमाया, शरीरको बडा किया, कुटुम्बको पाला, सस्था चलाई, आदि। अभिप्रायमूलक अपनी कर्ता कर्म बुद्धि लगाता है, लेकिन यह अभिप्राय भ्रामक है। किसी भी चीजके बनाने बिगाडने वाले हम कौन होते हैं ? हम एक धूलकणको भी पैदा नही कर सकते। समयको भी आगे पीछे नही कर सकते। वस्तु स्वतन्त्र है, इसका मोटा मतलब है कि एक वस्तु दूसरेका कर्ता नही है और कर्म भी नही है। सब पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायसे परिणाम रहे है। उन्हे बनाने और बिगाडनेका हम केवल विकल्प कर सकते है, पाप और पुण्य कर सकते हैं, किसीको बना बिगाड नही सकते। क्योकि जगतके सारे पदार्थ अपने आपमे परिणमन कर रहे हैं। हम अपनी चेष्टा अपनी कषायसे कर रहे हैं, आपका कुछ नही कर रहे। आप अपने आपमे विवेक करके कुछ ज्ञान कर लें। किसीको कोई सम्यक्त्व चारित्र या कषाय आदि नही देता।

संयोगीदृष्टि व एकत्वदृष्टिके परिणाम—समवशरणमे वा जिनालयमे भगवानकी

शांतमुद्राको देखकर अपने आप शान्ति लाते है उनसे कुछ नही मिलता, वे कुछ नही देते। लेकिन सयोगी दृष्टि वाले मोही जीवको परके सम्बन्धोमे ऐसा लगता है--यह चीज हमारी ही है। तब दुखी कौन होता है ? वही मोही जीव। परिणामोंमे जो मोह बसाया वही दु खका कारण है। जबूस्वामीको देखो ! जबूस्वामीको उनके घरवालोने, स्त्रियोने और दूसरे मित्रोने कैसा समझाया मनाया कि अभी आप दीक्षा न ले, किन्तु उनके मनमे उनकी एक न भाई, क्योकि उनकी दृष्टि अपने एक शुद्ध तत्त्वपर स्थित हो रही थी। जब पदार्थ स्वतन्त्र आने लगते है, और आत्मा अपने स्वतन्त्र रूपमे स्थित रहने के लिये तैयार हो जाता है तब उसे दुनिया की कोई दूसरी बात नही रुचती, लेकिन जिसे ऐसी समझ नही आई, चाहे वह ५० लाखका ही धनी क्यो न हो ? इतना ही क्यो ? राजा महाराजा सम्राट चक्रवर्ती और इन्द्र ही क्यो न हो, मोहके कारण वह दु खी ही रहेगा। अनाकुलता जब सुखका कारण है, तब आकुलता दु खका ही कारण है। माँ अपने बच्चेको किसी अनिष्ट वा दु खकारी प्रसंगमे गाली देती, और कहती 'मर जा' सो ऐसा वह अपनी मूर्च्छा वा कषायसे कहती है। उसके दु खको सहन नही कर सकती। तब इस तरहकी कषाय प्रवृत्ति करती है। कोई मां अपने विषयकषायमे बाधक होने से भी पुत्रको बुरा भला कहती होगी वह भी मोहके कारण पैदा हुई कषायका एक कर्म है जो कि दु खकारी कारण है। उस दु खको सहन नही कर सकती जिससे कि उस तरहके कषायपूर्ण उद्‌गार प्रगट किया करती है। प्रत्येक जीवोकी मोहके कारण ऐसी ही दु खकी अवस्था हो रही है। मोहकी बडी विडम्बना है।

मोहभावका एक नग्न चित्रण--सुकौशलकी माँ के मोहभावोपर विचार करो। सुकौशलके पिता कीर्तिधरको जब शिक्षा देनेके भाव हुए तब मत्री आदियोके इस शर्तपर कुछ समयके लिये दीक्षा लेना स्थगित रखा कि जब पुत्रका जन्म होनेकी खबर सुन लेंगे तब दीक्षा ले लेंगे। सुकौशल पुत्रका जन्म होनेपर भी मन्त्री आदि तथा सुकौशलकी माँ ने जहाँ तक और जब तक बने इस बातको गोप्य रखनेका ही उपाय किया ताकि महाराज जब तक बन सके गृहस्थाश्रम न छोडें। लेकिन जब उन्हे दीक्षा लेनेका सच्चा टाइम आया तब निमित्त वैसा मिल ही गया। वस्त्र धोनेवाली दासी अनुचरी व सुननेवाले ब्राह्मणके निमित्तसे अपने पुत्रजन्मके समाचार मालूम पड़ गये और वे तत्काल बनमे जा दीक्षित हो गये। रानी को इस वियोगका बहुत दु ख हुआ। लेकिन सुकौशल पुत्रमे अपना मन बहलाने लगी। सुकौशलके बारेमे निमित्त ज्ञानीने यह बतलाया कि जब वह दिगबर साधुके दर्शन करेगा तभी दीक्षित हो जायेगा। माताने इसका पूरा इंतजाम कर दिया कि महलमे किसी साधुका प्रवेश न हो। एक दिन वही कीर्तिधर मुनि चर्याके लिये उसी नगरीमे आये और सयोगकी बात

कि वे पहिलेके अपने ही महलमे भिक्षाके निमित्त प्राङ्गण तक प्रवेश कर गये। पूर्व अवस्था की स्त्री सुकौशलकी माँ को अपने पतिदेवके आनेका हर्ष नही हुआ, उनके उस उच्च पदके प्रति उसका आदर भाव जागृत नही हुआ। इतना ही नही वह साधारण शिष्टाचार और विनयको भी भूल गई और मोहमे मत्त विवेकमे अधी और पुत्रके दीक्षा लेनेका अवसर उपस्थित न हो जाय, इस आशङ्कासे विह्वल हो योगिराजको गालियोका प्रहार करने लगी। मोहके कारण उसकी धृष्टता चरम सीमापर पहुच गई। जिस योगीको इद्र और धरणेन्द्र पूजते हैं जिन्हे ससारके स्वार्थोसे कोई सम्बन्ध नही रह गया है, जिन्होने आशाओको पीछे धकेल दिया है ऐसे मुनिराज और जो कि दीक्षा लेनेके पूर्व उसके प्रिय पतिदेव थे, जिनके लिए दीक्षा नही लेकर घरमे ही रहनेके लिये अनेक षड्यत्र रचे थे वे ही पुरुष निर्दोष अयाचकवृत्तिसे घरमे पधारे और स्त्री उन्हे देखकर प्रसन्न न हो, झुझलाहटमे आवे, अपशब्द कहे यह सब क्या है ? मोह भावोकी महिमा है। अन्तमे जो होनेवाला था वह तो हुआ ही, कालातरमे सुकौशल दीक्षित हो बन चले गये। सुकौशल की माँ ने मरकर शेरनीकी पर्याय पाई, और उसी जगल मे पैदा हुई जहाँ कि सुकौशल ध्यान लगाते थे। एक दिन ध्यानस्थ सुकौशलको शेरनीने देखा और पूर्वभवके मोहसे उत्पन्न होनेवाली द्वेष कषायसे उनके ऊपर आक्रमण किया, क्योकि जहाँ जितना अधिक मोह होता है वहाँ उतना ही अधिक द्वेष भी हो जाता है। पर्याय जन्म स्वाभाविक क्रूरताके साथ पूर्वभवके अपने पुत्र सुकौशलको उसने विदीर्ण किया और भक्षण किया। संसारका यह नग्न चित्र है जिसने अपने शरीराशसे गर्भ मे पुष्ट किया, जन्म होने पर अत्यन्त गाढ अनुरागपूर्वक पाला पोषा, अपने दूधसे उसका खून माँस तैयार किया, आज उसे ही क्रूरतापूर्वक भक्षण कर रही है। हाय रे ससारका चरित्र ! ऐसा विलक्षण वीभत्स चित्र उपस्थित करने पर भी मोही प्राणी तुझसे विरक्त नही होते, धिक्कार है उनकी पर्याय बुद्धिको।

आत्महितकी ओर दृष्टि होनेमें आत्मप्रगति—उधर सुकौशल योगीका विचार करने पर दूसरे पक्षकी बात मिलती है कि इतना घोर उत्सर्ग आने पर भी उनको अपने तनकी सुध भी नही आई जिससे न शरीर भक्षणका दुख आया और न शेरनी पर रोष हुआ। ऐसी ध्यानकी ऊची अवस्था आनेपर ततकाल ही उन्हे केवलज्ञान ऋद्धि प्राप्त हुई, शरीरपातके ही साथ सारे कर्मोंका निपात हुआ। सुकौशल मुनि सिद्ध परमात्मा बन गये। पश्चात् माके जीव शेरनीको भी उद्बोध हुआ और उसे वस्तुस्वरूपकी पहिचान हुई। तब क्षणभरमे ही उसकी भी अवस्था बदल गई। अब वह पुत्रभक्षण करने वाली क्रूर शेरनी न रही, अन्तरात्मा व्रती बन गई। सारी क्रियाओमे भोजन और पानको छोड संन्यासमे स्थित हो गई और आयुके अन्तमे स्वर्गमे पैदा हुई। भावोके दो पहलू और तत्काल ही उनके भिन्न-भिन्न

विलक्षण अच्छे और बुरे फल इस कथानकसे बिल्कुल स्पष्ट होते है। इस समय भी यदि कोई पूर्व भावोको बताने वाला ज्ञानी योगी होता तो भावोके ऐसे विलक्षण रूप और उनका फल देखने सुननेको मिलता। फिर भी यदि हम अपनी समझको सही दिशामे लाना चाहे तो पद-पदपर इससे मिलते जुलते प्रसग हमारी आँख खोलनेके लिये काफी मिलेगे। ना सही पर-भवकी बात इस भवकी ही बहुत-सी घटनाएँ मोह की तुच्छता और विवेककी महानताको बतलाने वाली पर्याय मिलेगी। ससारकी इस विलक्षणताको देख परिणामोको निर्मल करो। वह निर्मलता आयेगी कैसे ? स्वरूपकी ओर दृष्टि करनेसे, शुद्ध स्वरूपका ध्यान करने से।

बाह्य पदार्थोंको असार जानकर उनकी उपेक्षा करके स्वोन्मुख होनेकी प्रेरणा—भाई अपने पुत्र धन और गृह शरीर और इनके विषयका ध्यान करनेसे वह निर्मलता न आयेगी। वह आयेगी अपनेसे भिन्न सबको भूलनेसे। सुध्यानकी सिद्धिके लिये प्रारम्भमे ध्यान करते हुए जो भी बाह्य पदार्थ उपयोगमे आवें उन्हे हटाते जाओ, उन्हे अपने स्थानपर अपनी हालतमे रहने देनेका जैसे कि वे रहते है भाव रखते हुए उनसे उपेक्षा करते जाओ। इस तरह समस्त बाह्य पदार्थोसे मोह हटाले तो वह निर्मलता अवश्य आयेगी। प्राणीको शरीर से मोह अधिक होता है परन्तु भैया! यह जड और सयोग वियोगके दु ख, रोग शोकके दु ख प्रत्यक्ष दिखाने वाला, नव द्वारोसे घृणित मलको बहाने वाला मलोसे बना स्पष्ट दीख रहा है इससे क्यो प्रीति लगाना चाहिये ? क्या कुछ दिनोके लिये सयोग हो गया इसलिये ? नही, यह सयोग तुम्हारे दु खके लिए है। शरीरका सयोग न हो तो सारे दु खोका अत हो जाय, लेकिन यह-शरीर ही है जो दु खका निमित्त होता है। और दु ख देनेकी परम्पराको जारी रखनेके हेतु है। संयोग करके भी वियोगकी अनिवार्यता नही छोडता। क्या इसमे बनी इन्द्रियोसे सुख मिलता है इसलिये इससे प्रीति करना चाहिये ? नही इन्द्रियोके द्वारा पैदा होने वाली इच्छाए तेरे दु खको बढाने वाली ही होती है। यदि इन्द्रियाँ न हो तो आत्मा अपने स्वाभाविक अतुल अक्षय सुखका उपयोग करे, क्योकि सुख इन्द्रियोमे नही भरा है। वह तो आत्मामे है। आत्माके स्वभावमे सुख गुण हमेशासे मौजूद है और कभी भी नष्ट न होगा। शरीरसे प्रेम करने का कोई उचित हेतु नही हो सकता, सिवा अपनी मूर्छा भावके। अत ऐसी मूर्छाका शीघ्रतासे परिहार करो। दु खसे पिंड छुडानेके लिये मूर्छाका परिहार करना ही पडेगा। सुखी तभी होओगे। इसके विपरीत जो प्रबन्ध कर सकते हो वह सब उल्टा ही है। ससारके कर्मोको छोड नही सकते तो उदासीनता अपनी बनी रहने दो और फिर उनमे उपादेय बुद्धिको न रखो। भ्रमण करते करते, दु ख उठाते उठाते अथवा उपदेश सुनते सुनते बहुत समय बीत चुका, अब समय अल्पपर्यायका थोडा

रह गया है, चेत जाना चाहिये।

शेष नरजीवनका सदुपयोग कर लेनेकी प्रेरणामें एक दृष्टान्त—एक बार एक नट नटनी एक कंजूस राजाके दरबारमे खेल दिखाने आये। नट ढोलक बजाता था और नटनी नृत्य आदि करती थी। बहुत समय बीत गया साझ होनेको आई लेकिन न राजाने, न दरबारके किसी अन्य व्यक्तिने उन्हे पुरस्कार दिया। तब नटनी कवितामे कहती है कि—पुरस्कार मिलनेकी तो कोई आशा नही दीखती, पैर थक गये है, ढोलक धीरे धीरे बजाओ अब जल्दी पैर नही उठने। तब नट कहता है—बहुत गई थोरी रही, थोरी हू तो जात। मत चूके ऐ नर्तकी, फल मिलनेकी बात। अर्थात्—बहुत बीत चुकी है थोडी रह गई और उस थोडीसी भी समयकी घडी बीतती जा रही है। अब इस थोडेसे भी बीतने वाले समयमे ही फल मिलने वाला है। हताश मत हो, निराश होकर भूल मत कर। इस गम्भीर और हृदयके कपाट खोल देने वाले रहस्य वाक्यको सुनकर राजपुत्र ने १ लाख रुपयेका हार, राजपुत्री ने लाख रुपयेके गहने और सन्यासी ने बहुमूल्य दुशाला नटको पुरुस्कारमे दे दिया। राजाने क्रमसे इनके इतना भारी पुरुस्कार देनेका कारण पूछा, क्योकि जिसके दान देनेका स्वभाव नही होता वह दूसरोको देते देख उसे दाता कुछ मूर्खसा मालूम पडने लगता है कि क्यो व्यर्थमे यह द्रव्य लुटा रहा है। इसका मगज ठिकाने नही है। हाँ तो राजपुत्र ने कहा—महाराज आप तो वृद्ध हो गये फिर भी राजसिंहासनका मोह आपका नही छूटता। तब मैंने विचार कर लिया था कि आपको मरवाकर मैं सिंहासनपर बैठूगा, लेकिन नटकी बात सुनकर समझ आई कि आपकी वृद्ध अवस्था है, थोडे दिनोमे आपकी मृत्यु होने ही वाली है क्यो पितासे विद्रोह कर कलक का भोगी बनू, पीछे तो मुझे राजा बनना ही है। इस समझकी खुशीमे मैंने लाख रुपयेका पुरस्कार दे दिया तो क्या बडी बात हुई? आपकी जान लाखो रुपये की बची और आपका तथा मेरा जो अपयश बचा वह अलग। राजपुत्रीसे पूछने पर उसने बताया कि—मेरा प्रेम मन्त्री पुत्र पर है, किन्तु आप उससे मेरा विवाह करना नही चाहते, मेरी अवस्था बडी हो गई है, तब विचार आया था कि कल आपको विष देकर मार डालेंगे, फिर भाई तो हमारे अनुकूल ही है और वह मेरा विवाह मेरी इच्छानुसार कर देगा। लेकिन नटकी बात सुन कर मुझे भी समझ आई कि आपकी आयु ही कितनी है, पीछे तो इच्छानुकूल विवाह होवेगा ही. ऐसी अमूल्य शिक्षाके उपलक्षमे मैंने अपना गहना पुरस्कारमे दे दिया। सन्यासी बोला, राजन! मैं दीर्घकालसे तपस्या कर रहा हू। कितना भारी परिग्रह मेरे पास है, और मेरी आयु पूरी होनेको आई। नटकी बात सुन विवेक आया कि अब मुझे इस बहुपरिग्रहसे मतलब नही, अल्प परिग्रह सादा रहन सहन, खान पान करके ही अंतिम जीवन बिताऊँगा। अत शरीरपर मौजूद बेशकीमती चादर

पुरस्कारमे दे दिया। राजाकी आँखे खुली और राजपुत्रको सिहासनपर आरूढकर पुत्रीका विवाह उसकी इच्छानुकूल कर आप विरक्त हो साधु बन गया।

शेष नरजीवनमें धर्मसाधना कर लेनेका अनुरोध—नटके द्वारा कही जानेवाली उक्ति को सब अपने ऊपर घटावे। आयुका भरोसा नही है। और जो वृद्ध हो गये है उनका तो अब इस पर्यायका अल्पकाल ही रह गया है। अब तो धर्मध्यानमे दृढतासे लग जाना चाहिये। मनुष्य भवको यो ही पूरा न कर देना चाहिये। जो मूर्च्छासे रहित परिग्रह रहित धर्म ध्यानमे समयका उपयोग करते है, उनके आत्मिक शक्तिका विशेष विकास होता है, जो ऋद्धिके नामसे कहा जाता है। जो लौकिक जनोको चमत्कार दिखने वाली चीज है, वह चमत्कार भीतरसे ही पैदा होता है, बाहिरके पुरुषार्थसे नही।

सकामरूपित्व, वशित्व, ईशत्व व प्राकाम्य ऋद्धिधारी ऋषियोंका स्तवन—ईशत्व-ऋद्धिसे साधुका प्रभुत्व प्रगट होता है। इन्द्रादिक सभी जीव उन्हे शीश नमाते है। सकाम-रूपित्वऋद्धि प्रकट हो जानेसे साधु मनचाहा सुन्दर रूप बना सकते है। वशित्वऋद्धि प्रगट होनेसे मुनिको जो देखता है वह उनके अनुकूल हो जाता है, उनके वश हो जाता है अथवा आत्माका बल ऐसा बढ जाता है कि इन्द्रियाँ वशमे ही रहती है, किञ्चित् भी अपना असर नही दिखा पाती। प्राकाम्यऋद्धिसे अनेक प्रकार शरीर बना लेते है। वे पृथ्वी मे धस सकते है, पृथ्वीमे जलावगाहकी तरह चुभकी ले सकते है। इस तरह अनेक प्राकाम्य वे मुनीश्वर कर सकते है, ऐसे ऋद्धिश्वर हमारा कल्याण करे।

इच्छाके रहते हुए ऋद्धि सिद्धिकी असंभवता—यह बात विलक्षणसी है कि जो चाहता है उसे नही मिलता और जो नही चाहते है उन्हे मिलता है। अच्छा मिल जानेपर भी क्या होता ? क्योकि मिलनेपर वैराग्य रहता है। एक कहावत है कि—जब दाँत थे तब चना नही थे, और जब चना है तब दाँत नही है। अर्थात् जब विषय भोगके योग्य शरीर था तब तो धन आदिका संयोग नही हुआ, जब वह हुआ तो शरीर वा पुत्रादिकी अनुकूलता नही रही। यही हालत संसारकी है। दोनो बातोका मेल बहुत कम बैठता है। यदि मेल नही बैठता है तो मत बैठने दो। ज्ञानानन्दके पुंज आत्मामे उपयोग लगाओ। इसके लिये किस चीजकी कमी है ? क्या बाहिरी बाधा है ? वह तो हमारी ही चीज है, हमारे ही आधीन है, बाहिरी लगावकी तो आवश्यकता ही नही है। और व्यर्थ ही जो लगाव लगा रखा है वस्तुत उसे ही हटाना है। दुख मेटनेके लिए यही रास्ता है इसे ही स्वीकार करके इस पर चलनेका उद्यम करना है। ससारका काम किया, धन यश और नाम कमाया तो क्या हुआ, आखिर उन्हे छोडना ही पडेगा। यश और नाम भी तो हमेशा किसीका नही रहता।

तुच्छकी चाहमें अतुल निधिका विलोप—ऐसे धनी और यशस्वी बनो जो अक्षय हो,

अव्याबाध और अनत हों। ऐसा चैतन्य धन अपने भीतर ही मिलेगा, लेकिन उसकी अपेक्षा करनेसे वह नही मिलेगा। उसकी सतत दृष्टि अपेक्षा रखने से वह प्राप्त होगा। अन्य कुछ की चाह नही रहना चाहिये। एक नाईने सेठकी हजामत बनाई। सेठने कहा हम तुम्हे कुछ देंगे, लेकिन सेठके मनमे आई कि पूरी मजदूरी न देना पडे तो अच्छा हो और नाईके मनमे आई कि अधिक माँगू तो अच्छा। हजामत बना चुकने पर सेठने चार आने दिये। नाई बोला—हम तो कुछ लेगे। १) दिया। नाईने कहा—कुछ लेंगे। अशरफी दी, हम तो कुछ लेंगे। अन्तमे सेठने कहा फिर देंगे, कुछ अभी हमे भूख लगी है सामने अलमारीमे दूधका गिलास रखा है उसे उठा देना। वह लाया जो देखा तो बोल उठा कि इसमे तो कुछ पडा है। सेठ बोला तो जो कुछ पडा है वह तू ले ले। देखा तो कोयला था। मतलब यह है कि मगता मत बनो। जो कुछ मागता है उसे कुछ नही मिलता। निरीह बनो। निरीह बननेके लिये स्वरूपकी सावधानीमे लगो। ऐसी सावधानी करने पर ऋद्धियाँ प्रगट होगी, लेकिन उनकी अभिलाषा तुम्हे न होगी।

अन्तर्ध्यान व आप्ति ऋद्धिधारी ऋषियोंका स्तवन—अन्तर्ध्यानऋद्धिसे शरीर ऐसा बना सकते हैं जिससे शरीर दूसरेको दीखे ही ना अथवा देखते देखते अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। अमूर्त आत्माके ध्यानसे शरीरको भी अन्तर्ध्यान करनेकी शक्ति प्रगट हो जाती है। जिस स्वभावकी उपासनासे ऐसा चमत्कार हो जाता है वह उपास्य आत्मदेव कैसा अलौकिक है इस बात पर ध्यान देना चाहिये। श्री वादिराज आचार्यने कहा है—इन्द्र सेवा तव सुकुरुता किं तथा श्लाघनं ते। तस्यैवेय भवलयकरी श्लाघतामातनोति॥ आदि। हे भगवन्! आपकी सेवा इन्द्र करते हैं इससे आपकी महत्ता नही है, प्रशसनीय बात तो यह है कि आपकी सेवासे इन्द्रका ससारोच्छेद हो जाता है। जिस चैतन्यस्वभावकी आराधनासे ऋद्धि प्राप्त हो जाती है वह कितनी महत्त्वपूर्ण और लौकिक जनोके लिये अद्भुत वस्तु है। हमे आश्चर्य हो सकता है कि दिवालमे से शरीर कैसे निकल जाता होगा, किन्तु यह आश्चर्यकी बात नही है। औदारिक वर्गणाओका ऐसा सूक्ष्म परिणमन हो जाता है कि वह मेरुको भी भेदकर गमन कर जाता है। आप्तिऋद्धिके प्रतापसे योगीश्वर एक स्थानमे स्थित होते हुए मेरु पर्वत, सूर्य, चन्द्र आदि इष्ट स्थानका स्पर्श कर लेते है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदिको अगुलि पर रख सकते है।

अप्रतीघात ऋद्धिधारी ऋषियोंका अभिवादन—जिस ऋद्धिके प्रभावसे शरीर द्वारा किसी जीवको बाधा न हो अथवा दूसरे जीवो या पदार्थोंसे ऋद्धिधारीको कोई बाधा न हो उसे अप्रतीघात ऋद्धि कहते है। प्रतिघात बाधाको कहते हैं। किसीको भी बाधा है तो विकल्पोंसे है, स्वभावसे नही। विकल्प रूप प्रतिघातके न होनेसे पर और आत्मस्वरूपकी

एकाग्र स्थिरता होने पर ही अप्रतिघात ऋद्धि प्रकट होती है। वस्तुत प्रतीघात मात्र विकल्प ही है। जब अतरग प्रतीघात नही है तो तपस्वीके ऐसी शक्ति प्रकट हो जाती है कि बाह्य प्रतीघात भी नही होता। योगीश्वर मेरु पर्वत आदिके अन्दर चले जावें तब भी उन्हे रुकावट नही होती है। स्वहित चाहने वाले बन्धुको विकल्प प्रतीघात मिटा लेना चाहिये, विकल्प ही महान् प्रतीघात है।

विकल्पकी परेशानीका एक दृष्टांत—एक सेठ धन कमानेको विदेश गये, उसी समय उनके घर पुत्रका जन्म हुआ। परदेशमे सेठ जी ने १४ वर्ष निकाल दिये। अब उनको घर आनेकी चिंता हुई और घरके लिये चल दिये। उधर घर पर उनका पुत्र १४ वर्षका हो गया था, माँ ने पुत्रसे कहा—बेटा तेरे पिता जी १४ वर्षसे (तेरे जन्म कालसे ही) विदेश गये हुये हैं, वे स्वयं अभी तक नही लौटे, तू जाकर लिवा ला। वह इधरसे चला, रास्तेमे एक जगह धर्मशालामे ठहरे लेकिन पुत्र और पिता दोनो एक दूसरेसे अपरिचित थे, जिससे एक दूसरेको पहिचान न सके पुत्रको पेटमे दर्द उठा, वह जोर-जोरसे चिल्लाने लगा, पास मे ठहरे हुये पिता जी ने धर्मशालाके मैनेजरको कहा कि मैंने १०) इनामका दिया है, इस लडके को हटाओ। खैर, ५ मिनटमे लडका मर गया। सेठके पास पेट दर्दकी अच्छी दवा भी थी, परन्तु सेठका तो वह शत्रु हो रहा था। दूसरे दिन सेठ घरको रवाना हुए। घर आकर स्त्रीसे मालूम हुआ कि पुत्र मुझे लेने गया है, तब वह पीछे उसे खोजने निकले और जब उसी जगह पहुंचे जहाँ दोनो अपरिचित हालतमे ठहरे हुये थे, तब धर्मशालाके मैनेजरसे अपने पुत्रके बाहिर निकलनेकी बात कही और उसका नाम ठाम बतलाया। मैनेजरने कहा एक लडका अमुक समयमे यहाँ आया था, उसको जोरसे पेटमे दर्द उठा जिससे वह मर गया। सेठको पुत्रके मरने का नाम सुनते ही मूर्छा आ गई। पहिले जब मिले थे तब अपने-पनका भाव नही होने मे उसके दु खमे भी सेठजी के सवेदनाके भाव नही हुए, किन्तु आज पुत्रत्वका मोह है जो उनकी आत्माको व्याकुल करने लगा, परेशान करने लगा।

दुःखकी कृत्रिमता व वास्तविक सुखकी सहजता—दु ख बनाया जाता है और सुख को बनाना नही पडता, वह तो अपने आप होता है। इन्द्रियसुखको भी बनानेकी चेष्टा की जाती है, यदि बाह्य इन दु ख सुखोको नही बनाया जाय तो जीवकी स्वाभाविक हालत सुखकी रहे, क्योकि वह तो कृत्रिम नही है परकी अपेक्षासे नही है। लेकिन इस भेदका पता नही होनेसे सच्चे सुखसे दूर रहकर, सुखाभासोकी चाहमे भटकता रहता है। तो भाई जब तक भ्रमबुद्धि न हटे, अपनी स्वतन्त्र सत्ताको न जाने, मोहको न छोडे तब तक दु ख ही रहता है। हैरानी की बात यह है कि इन्द्रिय सुख भी अपनेसे ही भोग रहे हैं लेकिन स्त्रीसे पुत्रसे और भोजन आदिसे सुख होना मान रहे हैं। तो इस भ्रमसे स्त्री पुत्रादिमे अति आसक्ति

करे, भोजन अधिक खा जाय तो दुःख बढेगा ही। अधिक सुखके लिये विकल्प किया और हो गया उल्टा, अधिक दुःखका कारण।

सर्वत्र अपने ही सुखका संवेदन––एक लडका गरीबी निकालनेके लिए फुआके यहा पहुंचा। उसने पूछा भैया भोजनमे क्या बनावे ? लडकेने कहा जो चाहे, भैया नहानेको बाहिर गये, फुआने उसका कपडा गिरवी रख और उस दामका घी शक्कर आदि खरीद अच्छे २ मिष्टान्न बनाये, लडका जब जीमने बैठा और तरह-तरहके मिष्टान्न परोसे गये तब खाते हुए मिष्टान्नोकी तारीफ करता गया। फुआ भी कहती जाती थी कि तुम्हारा ही माल तुम खा रहे हो। लडका समझता था कि यह अतिप्रेमके भावमे ऐसा कह रही है। लेकिन जब भोजन कर चुकने पर यथास्थान कपडे न मिले, और फुआसे पूछा तब उसने बताया कि गिरवी रख उसीके पैसेसे यह उत्तम भोजन तैयार किया गया है, इसीलिये तो मैं कहती थी कि तुम्हारा ही माल तुम खा रहे हो। जीव तो अपने आपसे ही सुखी है लेकिन मानता है पर से। क्योकि भ्रमसे परका अवलबन भी जो लिया जाता है उसीसे आगेका भ्रम पुष्ट होता है।

अन्तस्तत्त्वकी उपलब्धिकी उपादेयता—धन कमाना कठिन है किन्तु धर्म कमाना सरल है, उसमे किसीकी अपेक्षा नही करनी पडती, बाधा नही आती, जैसा कि अपना ज्ञानानन्दमय आत्मा है उसपर ध्यान दिया कि धर्म हुआ। बाधा देनेके लिये वहाँ तक किसी भी परपदार्थकी पहुच नही है। धन कमानेमे अनेक पराधीनताए है, कई बाधक कारण उपस्थित होते हैं। किन्तु भ्रमसे जो सरल है वह कठिन दीखता और जो कठिन है वह सरल दीखता है। मोहका माहात्म्य ऐसा ही है। उससे दृष्टि बाह्य हो जाती है नही तो कौन किसे धर्म करवाता, पुण्य वा पाप करवाता, सुख व दुख देता ? किसीपर दया आई और उसका दुःख दूर कर दिया, तो हमने तो अपने विकल्पोकी प्रतिक्रिया ही की। उसके प्रति जो वेदना हुई थी उस वेदनाको मेटनेका ही उपाय किया। हमने उसका दुःख दूर किया, यह जो कहा जाता है यह लोकव्यवहारकी भाषासे कहा जाता है, भाव उसका वैसा नही है अथवा वस्तुस्थिति वैसी नही है। तो किसीका भी जो भी प्रयत्न होता है वह अपनी शातिके लिये होता है। रागकी भाषामे कहा जाता है कि हम आपके सुखमे सुखी और दुःखमे दुःखी है, लेकिन जब बिगाड हो जावे तब एक दूसरेकी सूरत भी नही सुहाती। यथार्थ बात यह है कि ससारके सब पदार्थ स्वतन्त्र हैं, अपनेमे परिणम रहे है, कोई किसी का शरण नही है, परपदार्थको या परपदार्थके सयोगको अपना मान बैठे है, यह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वसे कोई कुछ और कोई कुछ पर्यायरूप अपनेको मान बैठे हैं और नाना तरह की कल्पनाए करते है और दुःखी होते हैं। चेतन वस्तुके स्वभावमे, चैतन्य जातिके सिवा न

कोई जाति हैं और न कोई सम्प्रदाय, न कोई गरीब है और न कोई धनी, न कोई पुरुष है और न कोई स्त्री।

पर्यायबुद्धि न होनेमें सिद्धि—रुडकीमे जैनियोसे अजैनोकी संख्या सभामे दूनी रहती थी। वहाँ एक अजैन महिलाने प्रश्न किया कि हम भाग्यसे स्त्री हुए हैं, हमारा उद्धार कैसे हो ? मैंने उत्तर दिया कि तुम अपनेको स्त्री न मानो। सो कैसे ? आत्मा न स्त्री है और न पुरुष, वह तो ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्तिका पुंज अमूर्त है। तो चैतन्य स्वभाव वाले उस अमूर्त आत्मद्रव्यको देखो। आजसे अपनेको ऐसा देखनेका अभ्यास करो। इस बातसे उस महिलाको भीतर बहुत सन्तोष हुआ, और भारी निर्मलता व्यक्त की। चेतन स्वभावकी परख करके जब उसका अनुभव आने लगता है तब पहिले विकल्पोका निषेध हो जाता है और वह अपने आप हो जाता है। आत्मा अपने स्वरूपको जानकर जब अपनेमे ठहर गई तब निम्न दशाके विकल्प स्वय मिट गये। यदि अपनेको पुरुष और स्त्री आदि पर्यायरूप ही देखते रहे तो ससारका भ्रम न मिटेगा। लेकिन जो स्वभावमे रम जाते है उनके अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती है। प्रतिघात रहित आत्माकी आराधनासे ऐसी आत्म-शक्ति प्रगट होती है कि जिससे शरीरको भी अप्रतिघात रूप बनाया जा सकता है, औदा-रिक शरीर होकर भी वह मेरुके आरपार सरलतासे शीघ्रतापूर्वक जा सकता है। स्थूल शरीरका सूक्ष्म रूपसे परिणमन करना यह आत्माके द्वारा नही हुआ, किन्तु वह सूक्ष्म परि-णाम स्वय उस स्थूलस्कंधसे सूक्ष्मरूप उसीका ऋद्धिधारी आत्माके निमित्तसे हुआ।

प्रभुभक्तिमें अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका संदर्शन—ऐसे आत्मरत योगीन्द्र जो कि उक्त ऋद्धियोके धनी है वे हमारा कल्याण करे। पूजक ऐसे भक्ति रूप भाव प्रगट करता है। फिर भी अन्तरगमे भगवानकी उस वाणीकी प्रतीति होती है कि कल्याण हमारेसे ही होगा। क्योकि उसे भगवानकी दिव्यध्वनिमें जो कहा गया है उसका भरोसा होता है। भगवानकी दिव्य ध्वनिमे यह कहा जाता है कि जब समस्त विकल्पोको छोड चैतन्यकी अभेद उपासना करोगे तभी तुम्हारा कल्याण होगा। भगवान द्रव्योको अपने शरणमे आनेकी बात नही करते जैसा कि अन्य पौराणिक ग्रन्थोमे देवताओंकी ओरसे भक्तको अपनी शरणमे आनेकी बात कही जाती है। वीतराग जिनेन्द्रने तो यही कहा कि रागमात्र संसारका कारण है। मेरे प्रति भी जो राग है उसे छोडने पर ही मुक्ति मिलेगी। वे अपनी भक्ति करानेका उपदेश कदापि नही देते। क्योकि अपनी भक्ति करानेके भाव तो देवत्वसे रहित अति जघन्य भाव है, ऐसे भाव तो रागी देवोमे ही हो सकते है। वीतराग देवके तो रागके सूक्ष्मतम अशो का भी अभाव हो जाता है, जिनेन्द्र आशिक वीतरागी नही होते, सर्वांश या कहिये पूर्ण वीतरागी होते हैं। जिस देवका ऐसा दिव्य उपदेश है और जो स्वय तद्रूप बन गया,

भक्तका उसके प्रति कितना अनुराग होगा ? सो सोचे ।

विषयरागवश उत्तम अवसरसे लाभ न उठा पानेकी मूढ़ता—ऐसी जिनेन्द्र वाणीको पाकर चेतना चाहिये । कोई राजा का एक मित्र गरीबीमे आ गया, उसने राजासे मददको कहा । राजाने स्वीकारता दे दी, और रत्नोके कमरेमे २ घटे तक जो लिया जा सके लेनेकी आज्ञा मिली । वह नियत समय पर रत्नोके कमरेमे गया, वहाँ कई ऐसे विचित्र खिलौने रखे थे कि वह व्यक्ति उनको देखनेमे दत्तचित्त हो गया, उसने पहिले सोचा था कि २ घटे का समय तो बहुत वडा समय है, रत्नोको ले जानेमे कितना समय लगेगा ? इस वातके फेरमे उसने २ घंटोका समय पूरा कर दिया और खाली हाथ वापिस आना पडा । उसको २ घन्टेका समय सोनेके कमरेमे से इच्छित सोना लेनेकी आज्ञा मिली । वह उसमे घुसा तो हाथी, सिह आदि विविध मोहक वाहनोको देख उसमे लुभा गया और उनको देखनेमे ही २ घन्टे पूरे कर दिये और खाली हाथ कमरेसे बाहर हो जाना पडा । तीसरी वार चाँदीके कमरेमे से चाँदी लेनेके लिये २ घण्टेका समय मिला । उसमे विषयभोगकी अनेक सामग्रियाँ थी और अनेक चित्र सुगधित पदार्थ और ऐसी अनेक लुभावनी चीजे थी । अबकी वार उसमे लुभा गया और उन्हीमे २ घन्टे पूरे कर खाली हाथ वापिस आ गया । चौथी बार २ घण्टे ताबे के कमरेके लिये दिये गये । वहाँ सोने बैठने और आराम करनेकी अनेक कोमल शय्या पलग आदि थे । अबकी वार उसने कोमल शय्यामे आराम करते हुए सोकर २ घटे पूरे कर दिये और खाली हाथ वापिस आया । आगे राजाने किसी प्रकारकी सहायता देने से इकार कर दिया कि समय रहते जब तुममे वस्तुग्रहण करनेकी योग्यता ही नही है तो हम क्या करे ? हमने तो ४ बार अवसर दिया, लेकिन तुम उससे लाभ न उठा सके, इसमे हमारा नही तुम्हारा ही दोष है । इसी तरह हमे मनुष्य भवकी ४ अवस्थाए मिलती हैं बाल्य अवस्था रत्नके समान है । यदि इस अवस्थामे विद्या धनको प्राप्त किया जाय तो इसके समान अमूल्य कोई अवस्था नही । दूसरी किशोर अवस्था है जिसमे कितना ही महान् पुरुषार्थ किया जा सकता है लेकिन इसमे आदमी सैरसपाटेमे समय निकाल देता है । प्रौढ अवस्था चाँदीके समान है, इसमे वह विषयभोगो और उनसे होने वाले परिवारके परिकर मे इतना आसक्त हो जाता है कि धर्मरूप धनका वहाँ भी सग्रह नही कर पाता । चौथी अवस्था बुढापे की मिलती है, जिसमे खटिया पर पडे पडे समय निकाल दिया जाता है ।

मोहमे कर्तव्यकी सुधका अभाव—जैसे राजाके द्वारा रत्न आदि लेनेके अवसरको पाकर कुछ न कुछ उसने क्यो न लिया अथवा एक अवसरमे धोखा खाकर दूसरे, तीसरे आदि अवसरमे वह क्यो न सभल गया ताकि गरीबीके दुखको दूर कर सके ? यह प्रश्न किया जा सकता है । उसी तरह इन अवस्थाओमे मिलने वाले सुअवसरोको खोने वाले

प्रत्येक मनुष्यसे प्रश्न किया जा सकता है। लेकिन उसका एक ही उत्तर है कि अज्ञानी या मोही प्राणीको अपने कर्तव्य पालनका मान नही रहता। वह प्राप्त हुए सुअवसरका लाभ नही ले पाता। और इस बातको प्रत्यक्ष देख रहे है, स्वयं अपना अमूल्य समय निकलता चला जा रहा है, और धर्म संग्रहके लिये आगे आगे शक्तिका भाग कम कम होता जा रहा है और इस तरह पूर्ण जीवन व्यर्थ ही खोकर मृत्युके मुखमे जाते हुए अनेको को देखते है, अपनेको तो इस हालतमे अभी नही मृत्युके समय ही देख पावेगे, लेकिन कितने समझदार पुरुष है जो सचेत होकर अपनी रत्नत्रय ही गरीबीको दूर करते है, और दु खी जीवनसे पल्ला छुडा सुखी जीवनमे आते है ? प्राणी की भूलको कहाँ तक कहा जाय, जैसी भारी भूल वह दुहराता रहता है उसके कडवे और विषैले फल भी वह चखता रहता है। मोहकी उन्मत्ततामे वह उन्हे भोगता हुआ भी नही सम्भलता, लेकिन जिनकी मोहनिद्रा टूट जाती है वे मनुष्यजीवनके एक एक समयका लाभ लेते है। ऐसे आदर्श पुरुष पूजकसे पूज्य बन जाते है। हमे भी अपनी निम्न दशाको पार कर अपनी उस उच्च दशाको प्राप्त करना चाहिये।

दीप्त च तप्त च तथा महोग्र, घोर तपो घोर पराक्रमश्च।
ब्रह्मापरं घोर गुणाश्चरन्त, स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न ॥

दीप्त, तप्त, उग्र, महोग्र ऋद्धिधारी ऋषियोंका अभिनन्दन—दीप्तऋद्धि के धारी ऋषीश्वर अनेक अनशनादि तप करते हैं, तो भी शरीरमे काति बनी रहती है। शरीर सूख कर काटा क्यो न हो गया हो फिर भी शरीरकी दीप्ति द्विगुणित रहती है, मुखसे सुगन्धि निकलती है, दीप्तऋद्धिका ऐसा प्रभाव है। शरीरकी ऐसी अद्भुत स्थिति जिससे हो जाती है, उस आत्मस्वरूपकी साधनापर ध्यान दीजिये। पूजकका ध्यान ऐसी साधनामे लीन साधक आत्मापर ही जाता है, जिन्होने कि सकल्प विकल्पोसे रहित शुद्ध आत्माकी स्थिति को प्राप्त किया, ऐसी अवस्था अथवा ऐसी अवस्थापर विचार पहुचाना ज्ञाता दृष्टाकी दृष्टि बनानेसे सभव होता है। तप्त ऋद्धिके वलसे किया हुआ सम्पूर्ण आहार रक्त आदि शरीररूप परिणम जाता है उसका खल, मल, मूत्र आदि नही बनता। ऐसा होनेसे आहार रूप पुद्गल स्कन्धोका नही आत्मस्वरूपकी उपासनाका चमत्कार प्रगट होता है। महाउग्र-तप ऋद्धिसे ज्ञानकी विशेष व्यक्तता होती है, विशेष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ही नही अवधि ज्ञान मन पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान तक प्रगट हो जाता है। मंदकषायकी बडी विशेषता है, उससे लौकिक वैभव यश और सुगति की प्राप्ति होती है, यह तो तुच्छ लाभ है, किन्तु लौकिक वैभव और शाति प्राप्त होती है, उसका यह वास्तविक लाभ है। किसीको क्रोध आदि कषायके बलसे अनुकूल नही किया जा सकता, लेकिन परिणामोकी निर्मलतासे ऐसा

सहज हो जाता है। किसी विद्वेषीके प्रतिकूल विचारोको एकाएक प्रकट न करके प्रेमपूर्वक शातिसे उसे कर्तव्य सुझाया जावे तो वह शीघ्र सुमार्ग पर आ जायगा। इसके विपरीत कठोर व्यवहारसे ऐसा होना कदापि सभव न होगा। मदकषायसे अन्य कार्य भी सहज हो जाते है। ऋद्धियाँ अतिमद कषायसे तो प्रकट होती ही हैं। उग्रतऋद्धिकी विशेपता यह है कि बहुत उपवासादि करनेपर भी शरीरमे क्षीणता नही आती, अशक्तता नही आती।

उपवासका परिचय—उपवासका लक्षण इस प्रकार कहा है— कषायविषयाहार त्यागो यत्र विधीयते। उपवास स विज्ञेय शेष लघनकं विदु ॥

उपवासमे सर्वप्रथम क्रोध मान माया और लोभ आदि कषायोका परित्याग होना चाहिये, फिर उनकी मदतासे विषयोकी प्रवृत्तिका निरोध होना चाहिये, इतना होनेपर आहार पानका जो त्याग होता है उसे उपवास कहते है। यदि पहिलेकी दो विशेषताए न हो और केवल आहार पानका त्याग किया गया हो तो उसे उपवास न कहा जायगा किन्तु वह लघन करना कहलाएगा। बहुतसे उपवासोमे ऐसा लघनका ही रूप देखा जाता है, जिसमे साधारण समयकी अपेक्षा कषाय बढती हुई भी देखी जाती है। यदि विधिपूर्वक उपवास हो तो उससे बडा भारी काम होता है। उसमे ध्यानरूपी अग्नि प्रज्वलित होती है जिससे मोह आदि कर्म जड मुलसे नष्ट हो जाते है। कई लोग मोहकी महिमाके गीत गाते है, लेकिन अपनी उस ज्ञान ध्यान रूप शक्तिकी महिमाका भी ज्ञान करना चाहिये जिससे ४८ मिनिटके भीतर भीतर मोह आदि सारे कर्मोंको जड मूलसे उखाड कर फैंक दिया जाता है। उप अर्थात् समीप—आत्माके समीपमे वास अर्थात् निवास करना सो उपवास है। अर्थात् आत्मप्रवृत्तिमे विशेष रूपसे लगनेको उपवास कहते हैं। तो फिर उपवासमे आहारका त्याग करना क्यो जरूरी है? वह इसलिये जरूरी है कि उसके तैयार करने करानेमे, ग्रहण करनेमे बाह्य प्रवृत्ति विशेष होती है। आहार कर लेने पर आत्मचितन और स्वाध्याय आदि उतनी निर्मलता और एकाग्रतासे नही होते। दूसरी बात यह है कि उपवास रूप आत्मप्रवृत्ति हो जाने पर इन्द्रियोके विषय स्वयमेव रुक जाते है, क्षुधा आदिकी वेदनाए ही नही होती। उसमे भोजन करनेकी इच्छा ही नही होती, अत. उपवासमे आहार पानी का भी त्याग होता है। किन्तु कषाय और विषयोसे निवृत्ति हुए बिना जो आहारका त्याग होता है, उसमे आत्मशक्तिका विकास ऋद्धिका प्रादुर्भाव होना तो दूर रहा, उल्टी कषायोकी तीव्रतासे शक्तिकी क्षीणता होती है, निर्मलता की बजाय कठोरताकी तह पडती है। प्रारम्भ अवस्थामे यदि विषयकषायोका विशेष परिहार न हो सके तो भी निराहार रहकर धर्मध्यान मे लगनेके उत्साहको कम न करना चाहिये। क्योकि उपवासकी विशेषता महान है। अभ्यास करते करते कभी उसमे वह निर्मलता आ सकती है कि जन्म-जन्मातरोके पाप

क्षीण हो जाएं। आजकल जब कि खाने पीने आदिकी लोलुपता अधिक बढ़ती जा रही है, उपवासकी बडो विशेषता है। पर्वके दिनो इसे अवश्य करनेकी भावना और प्रवृत्ति रखना चाहिये।

घोर, घोरपराक्रम ऋद्धिधारी ऋषियोंका अभिवादन—घोरऋद्धिके प्रगट होनेसे बडी आपदाएं उपसर्ग वेदना और बाधाए होनेपर भी ध्यान नही टूटता, ध्यानसे विचलित होने की क्षुब्धता व कमजोरी प्रगट नही होती। ऋद्धिसे ऐसी शक्ति बनी रहती है कि बाहरी विघ्न बाधाओका रोग और संयोग वियोग आदिका आत्मापर कुछ भी असर नही होता। घोरपराक्रमऋद्धि वह है जिससे उपद्रव और उपसर्ग होते ही नही। इस ऋद्धिके मुनि जहाँ होते है वहाँ आसपासके स्थानमे सुभिक्षता हो जाती है, सब ऋतुओके फल फूल जाते हैं। हाँ एक प्रश्न हो सकता है कि क्या यह ऋद्धि तीर्थंकरोके नही होती ? यदि होती है तो पार्श्वनाथ भगवानपर उपसर्ग क्यो हुआ ? इसका उत्तर इस प्रकार है। इस ऋद्धिमे भी तो उपसर्ग हो यदि तो भी विचलितता न हो, इसकी ही प्रधानता है। अब बात रह गई पार्श्वनाथजीको उपसर्ग क्यो हुआ ? सो भाई इसे हुडावसर्पिणी कालकी एक विचित्र बात कही गई है। वैसे तीर्थंकरोको मुनि अवस्थामे भी कोई उपसर्ग नही कर सकता।

योगिसत्सङ्गकी महिमा—आत्मसाधना और शक्तिसे सम्पन्न ऐसे योगी ही जगतके सच्चे बन्धु हैं। उनसे कभी अहित नही होता, अहितकी सलाह उनसे कभी नही मिल सकती, जबकि मोही कुटुम्बी ठीक इसके विपरीत होते है, वे मोह और रागको ही पुष्ट करते है। यदि उनमेसे कोई निकलना चाहता हो तो उसमे वे बाधक होते हैं, आत्महितकी सलाह मिलना उनसे असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। मोही जीव अपने परिचितोसे अपने दूषित स्वार्थोकी विषय और वाछाओकी पूर्तिकी ही भावना रखते है। जब अपने ही कल्याण की भावना नही तो दूसरेके लिये कहाँ तक सहयोग दे सकेगे ? अत रागियोका सग अहित-कर ही है, दु खकर ही हैं। यदि हित और सुख शाति पानेकी सलाह लेना हो तो विरा-गियोसे ही लेना चाहिये। विरागियोके दर्शनमात्रसे हेय उपादेय बुद्धिका विवेक जागृत होता है। जैसे कि उदयशकरका बहनोई वज्रभान अपनी स्त्रीमे बडा आसक्त था, जब उसकी स्त्री अपने भाईके साथ मायके जाने लगी तब उसका वियोग उसे सहन नही हुआ और वह भी अपनी स्त्री और सालेके साथ हो लिया। रास्तेमे जङ्गलके बीच एक दिगबर योगीको ध्यानकी मुद्रामे देखा, उदयशकरकी आँखे उस मुद्रामे गढ गईं। उसे इस स्थितिमे देख सालेने मजाक किया कि क्या आप भी ऐसा बनना चाहते है, विषयासक्तिकी तीव्रता देख ऐसा मजाक किया गया था, लेकिन उसे यह कल्पना उस समय न उठी कि मन बदलते देर नही लगती। निमित्त भी समय समयका विलक्षण परिवर्तनका रूप प्रदर्शित

करता है। बहनोईने कहा हाँ क्या आप भी होना चाहते हैं ? उसने भी कहा, हाँ। तब वज्रभान विलासी वज्रभान न रह दिगंबर शकर होकर हो गया। साले ने भी अपने वचन की पूर्ति की और स्त्री भी आर्या बनी। तो निमित्तकी महत्ताकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो विरागियोका दर्शन भी महान कल्याणकारी होता है। वीतराग भगवानकी स्थापनापन्न मूर्ति असख्योको कल्याणपथ पर लगा चुकी और लगाती रहेगी। विरागियोका क्षणमात्रका सहयोग और थोडेसे भी शब्द हृदयपरिवर्तनके लिये पर्याप्त होते हैं। अत यह श्रद्धा अडोल होना चाहिये कि वीतरागी देव साधु और धर्म ही हमारा सच्चा वन्धु है।

घोरपराक्रम व अघोरब्रह्मचर्य ऋद्धिधारी ऋषियोंकी महिमा—घोर पराक्रम ऋद्धिधारी मुनिको यदि कोई सतावे तो वहाँ भारी उपद्रव आ दुर्भिक्ष तथा मरी आदि आपत्तियाँ आ जाती है। मुनि ऐसा नही करते, किंतु ऐसे महान् तपस्वी ऋद्धिधारीके ऊपर उपसर्ग करनेसे महान् पापका बन्ध होता है जिससे कि ऐसा हो जाता है। उनकी शक्तिकी उपेक्षा परिहास और तिरस्कार करनेका उस रूप कुफल तो मिलेगा ही। अघोरब्रह्मचर्य ऋद्धिधारी तपस्वी जहाँ हो वहांके दुर्भिक्ष और मरी आदि रोग शात हो जाते है। आत्माकी शक्तियोका कुछ प्रभाव ऋद्धियोके रूपमे हम जान सकते हैं। आत्मामे अनन्त शक्तियाँ है, यदि आत्माको बाहिरकी तरफसे खीच अपने ही उपयोगमे लगाया जाय तो उन शक्तियोके प्रादुर्भाव होनेमे देर नही लगती। हमे अपनी शक्तियोको जगाना चाहिये।

तपका निर्देशन—तपऋद्धिके प्रकरणमे १२ तपोंके विषयमे कुछ कहा जाता है। संकल्पोका त्याग कर देनेपर इच्छामात्रके अभाव हो जाने मात्रको तप कहते है। इसमे और रहस्य कुछ नही है। तप १२ होते है, उनमे ६ बाह्य तप और ६ अतरग तप होते हैं। जिनमे ६ बाह्य तप ये हैं—१ अनशन, २ अवमौदर्य, ३ वृत्तपरिसख्यान, ४ रस परित्याग, ५ विविक्त शय्यासन और ६ कायक्लेश।

अनशन तप—अनशन उपवास करनेको कहते है, अनशन अर्थात् भोजनका त्याग करना अनशन है। अनशन करने वाले के भोजनका त्याग क्यो हो जाता है ? जब ज्ञानीके मनमे यह बात आई कि बाह्यका ग्रहण तो होता ही नही, मेरा स्वभाव अशन ग्रहणका नही है। जब ज्ञानमे ऐसा विचार आता है तो भोजन करने की इच्छा ही पैदा नही होती, तब भोजनके लिये पैर उठना, हाथ उटना आदि क्रिया नही होती, भोजनकी क्रियामे वह आलसी हो जाता है। जैसे किसीको अपनेके अलावा दूसरेके काममे आलस हुआ करता है उसी तरह आत्मज्ञानी अशनको जब आत्मस्वभावसे पृथक् दूसरा समझता है तो उसमे शिथिलता होवेगी ही। अशनका स्वभाव मेरा नही, ऐसी बार बार भावना होना और चैतन्यस्वभावमे भाव जाना सो वह अनशनअन्तरग तप हुआ और बाह्यमे भोजनका नही

करना सो बाह्य तप है। अनशन बाह्यतप इसलिये है कि इसे ज्ञानी अज्ञानी सभी कर सकते है। तो निज चैतन्य स्वभावके समीप बसना सो अनशन तप है। जो ऐसा तपते थे उन्हे ऋद्धियाँ प्रगट होती थी।

अवमौदर्य तप—२ दूसरा तप अवमौदर्य है—जिसका मतलब है पेटसे कम खाना, इसीलिये इसको ऊनोदर भी कहते है। भूखसे कम खानेमे कई गुण है, शरीर निरोग रहता है, हर काममे उत्साह रहता है, चित्तमे प्रसन्नता रहती है, आलस्य नही घेरता, इसलिये जीवनमे अकर्मण्यता नही रहती, ज्ञानाभ्यासमे मन खूब लगता है, बुद्धि प्रखर होता है। ध्यानकी सिद्धिके लिये अल्पाहार होना परम आवश्यक है और मोक्षमार्गमे ध्यानकी अनिवार्यता आवश्यक है, इसलिये अल्पाहार मोक्षमार्गका एक बाह्य साधन है, अत मुमुक्षु जीवोमे अनिवार्यरूपसे पाया जाने वाला यह महत्त्वपूर्ण गुण है। किन्तु अल्पाहारसे चित्तमे संतोष न आवे, केवल दिखावेके लिये अथवा आज मैंने अल्पाहारका नियम लिया है इसलिये थोडा खाना चाहिये आदि अभिप्रायसे थोडा भोजन करना अवमौदर्य तप नही है यदि अल्पाहार करके संतोष न हो तो। बच्चा जैसे थोडा भोजन करके खेलकूदकी धुनमे बच्चा भाग जाता है इसी तरह मुनिको आत्मक्रीडाकी धुनमे जो कुछ जैसा शुद्ध भोजन मिले उसे थोडा-सा खाकर चल देता है संतुष्ट होकर। उसे मनमे यह ध्यान नही आता कि मैं भूखा रह गया हू, आगे जल्दी भोजन करनेकी सुविधा मिल जाय। तब उसे अवमौदर्य तप कहते है।

वृत्तिपरिसंख्यानतप—३—तीसरा व्रत परिसख्यान तप है। भोजनके विषयमे कुछ अटपटी प्रतिज्ञाएं लेनेका व्रत परिसंख्यान तप कहा है। जैसे कि आज इतने घरोमेसे आहार-विधि मिलेगी तो ही लूगा, अमुक स्थितिमे दातार होगे तो ही आहार लूंगा। बनमे आहार मिलेगा तो लूंगा आदि। ऐसी प्रतिज्ञाओके करनेका प्रयोजन क्या है ? ऐसी प्रतिज्ञाए आहार के विषयमे निर्लोलुपताकी परिचायिका है। आहारमे लोलुपता घटे बिना ऐसी प्रतिज्ञाए नही ली जा सकती। रसना इन्द्रियकी तीव्रता घटे बिना व्रतपरिसख्यान नही हो सकता। इस हालतमे भोजन मिले तो लें अन्यथा नही ले, इस प्रकारकी भावनामे भोजन और शरीरकी निस्पृहताका उत्साह है। दोष और अन्तराय टालकर भोजन लेनेकी दृढता आती है, अन्तराय हो जानेपर खेद न आनेकी भावना पुष्ट होती है, क्षुधा और तृषा परीषह जीतनेका अवसर प्राप्त होता है, समताकी प्रबलता आती है, भोजनविषयक इच्छाओका दमन होता है। ऐसी अटपटी प्रतिज्ञाए लेनेपर भी उनके लाभान्तरायके क्षयोपशमसे वह विधि मिल जाती है। लेकिन कभी नही मिलती तब वे निराहार रहकर अपनेको धन्य मानते हैं कि अच्छा हुआ भोजन नही करना पडा, ध्यान और स्वाध्याय निर्विघ्न होगा, प्रमाद नही फटक पावेगा, क्षुधा परीषह जीतनेका सुअवसर प्राप्त होगा। जिनके आहारलाभके अभावकी भावना है

उनके यह तप होता है। लेकिन जानी मानी ३–४ प्रतिज्ञाओको अदल बदल करके लेते रहना और आहारके पहिले या पीछे उन्हे प्रगट कर देना व्रतपरिसख्यान तपको रुढि मात्र चलाना है। क्योकि इसमे बाह्य आडबर बढनेका ध्येय रह जाता है। हमारे मनमे तो उतने दरजेका वैराग्य नही है, यह तो अतिविरक्त तपस्वियोके ही होता है। जिनको आहारके विषयमे राग नही रह गया है।

रसपरित्याग तप—४–चौथा बाह्यतप है– रसपरित्याग— १ दूध, २ दही, ३ घी ४ तेल, ५ नमक और ६ मीठा इन छहो रसोका या कुछका त्याग करना रसपरित्याग तप है। जो खानेमे आते ही नही ऐसे तेल आदि नही खानेका त्याग त्याग नही है। जिह्वा जिसपर ललचावे या जो रस सुलभतासे और बहुलतासे मिलता हो निरीहितापूर्वक उसे त्यागना ही रसपरित्याग है। बाह्यमे रसोका त्याग लेकर अन्तरङ्गमे रसनेन्द्रियजनित स्वादके विकल्पका भी त्याग होना चाहिये। स्वाद कौन लेता है ? चेतन आत्मा तो लेती नही, वह अमूर्त जड पुद्गलका क्या स्वाद ले, यह तो उससे अस्पृष्ट ही है। तो क्या भोजन रूप पुद्गल स्वय अपना स्वाद लेता है ? सो भी नही, उसमे स्वादरूप अनुभवन करनेकी चेतना नही। जिसमे चेतना है उसमे रस नही और जिसमे रस है उसमे चेतना नही। पुद्गलका त्याग तो बाह्यरूपसे उपचारसे है। इन्द्रियोके द्वारा स्वादरूप जो कल्पना की उस कल्पनाका ही वास्तवमे त्याग किया जाता है। विषय "ज्ञानरस" का त्याग होना ही रसत्याग है। यह सुस्वादु है, इस तरह स्वादमे उमग रूप परिणामोको विकल्पोको त्यागना रसपरित्याग है। जैसे—नमकका त्याग किया तो सीरा पुडी बना लेना, विडम्बना ही है। यह तो डबल रस ग्रहण हुआ। उदासीन जन साधारण रूपसे इस तपको निभाते हैं, विरक्त पुरुषोकी प्रवृत्ति अद्भुत होती है। वस्तुत बाह्य पुद्गलके रसोको ग्रहण कौन करता ? उन कल्पनाओका ही त्याग किया जाता है। अलौकिक लगनमे त्याग सहज हो जाता है। प० टोडरमलजी जब किसी ग्रन्थका निर्माण कर रहे थे तो ६ माह तक यह मालूम नही पडा कि भोजन अलोना बन रहा है, ६ माह बाद जब ग्रन्थ रचनाका कार्य समाप्त हो गया तब भोजन करते समय कहते हैं—माँ आज भोजनमे नमक नही है। माँ कहती है बेटा मैं तो ६ माहसे ऐसा ही अलोना भोजन बना रही हू, पर तू तो ग्रन्थ बनानेकी धुनमे तल्लीन रहता है कि अलोना खाराका भेद ही नही करता। जब हम इटावासे फिरोजाबाद आये तब सह जानन्दगीताकी रचनामे लग गये, तब कभी-कभी हमे ख्याल होवे कि हम भोजन कर आये या नही ? पेट भरा या नही ? तब विशुद्ध आत्मज्ञानमे जिनका उपयोग है फिर उनकी तो कथा ही क्या ? भोजनादिके विषयमे ऐसी उपेक्षा लाभकारी है जिसमे लालसाका उदय न हो।

विविक्तशय्यासन तप—५ एकान्त स्थानमे सोना बैठना यह विविक्तशय्यासन नाम का तप है। वह इसलिये कि एकान्त स्थानमे उपयोगकी स्थिरता रह सकती है। यह बाह्य रूपसे विविक्तशय्यासन तप हुआ। अन्तरंग विविक्तशय्यासन तप क्या है? जैसे--भीडमे भी बैठे हो फिर भी आत्मस्वरूपमे ध्यान रहे, परका ख्याल ही न जावे, तो वह एकान्तवास निश्चयसे है। पुण्यडाल मुनि एकान्त वनमे रहकर भी वहुत समय तक घरका ख्याल दौडाते रहे तो उनका वह एकान्तवास तप नही हुआ। और जब श्री वारिषणके बताये दृश्यको निमित्त पाकर शान्त हुये तो वे जमघटमे भी एकान्तवासी थे।

कायक्लेश तप—६ छटवां बाह्य तप कायक्लेश है। जहाँ आत्मा ही साधना बन रही हो ऐसे प्रसंगमे कायको क्लेश होनेपर भी उसमे ध्यान न जाना कायक्लेश तप है। और कोई उपद्रव या उपसर्ग आ सकते है उनको सहन करनेके लिये ज्ञानसाधनामे रहते हुए शरीरको कष्ट देना, आतापन योग करना, अनेक आसनोंसे लम्बे समय तक ध्यान करना, दीर्घ काल तक एक ही आसन बैठे रहना आदि भी कायक्लेश तप है। कायक्लेश तपमे शरीरको सुखाना ध्येय नही होता बल्कि शरीर आत्मसाधनाके योग्य सहिष्णु और अनुकूल रहे, उसमे सुखियापन आकर मोक्षमार्गकी साधनामे शिथिलता न आवे इसलिये तथा उपसर्ग आदि की उपस्थितिमे आत्मा अपने कर्तव्यसे च्युत होनेकी कमजोरीमे ना आ जावे, इसलिये पहिलेसे ही धीरताका अभ्यास करनेके लिये यह तप होता है। बाह्यमे लोगोको कष्टमय अवस्था दीखने पर भी साधकके अन्तरंगमे आत्मानुभव करनेसे अपूर्व आनन्द रहता है, यदि ऐसी स्थिरता नही आती तो भी उस स्थितिको लानेके लिये अभ्यासरूपमे यथायोग्य प्रति समय इस प्रयोग को किया जाता है। जो मुनि कायक्लेश तपके अभ्यासी हो जाते है वे ही मुनि अपने गुरुके द्वारा सफल विहारी होनेकी अनुमति पा सकते है ऐसा आगममे कहा गया है। शरीरसे उपेक्षा भाव होनेपर कायक्लेश तप हो ही जाता है। ऐसे तपके होते रहते कोई कोई तपस्वी को ऋद्धि प्रगट हो जाती है, जिससे बाधा करने वाली परिस्थिति हो नही आ पाती। ऐसे योगिराजसे भक्त चाहता है कि वे हमारा कल्याण करे। योगिराज तो वीतरागताकी ओर ही बढे चले जाते है लेकिन उनकी तरफ आत्मझुकाव होनेसे भक्तके स्वय कल्याणमय अवस्था प्रगट हो जाती है।

अन्तरङ्ग तपोंमें प्रथम प्रायश्चित्तनामा तप--अन्तरंग तप ६ तरहके है—१ प्रायश्चित्त २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग और ६ ध्यान। प्राय. अधिकतरके लिये आता है किन्तु दूसरा अर्थ उसका अपराध भी है यहाँ अपराध अर्थ ही लेना। और चित्त का अर्थ शुद्धि करना है तो अपराधोकी शुद्धि करना प्रायश्चित्त तप है। अपराध शुद्धि किस तरह होती है कि आगे उस अपराधको न किया जाय। अपराधोको बार-बार करता रहे

और उनसे छूटनेके लिये अमुक पाठ पढ ले, उपवास जाप आदि कर ले, रसोको छोड दे तो ऐसा व्यक्ति प्रायश्चितका अधिकारी नही है। प्रथम तो ऐसा ध्यान रखना चाहिये—भावना रहना चाहिये कि व्रतादिमे कोई दूषण ही न लगे, यदि कदाचित लग भी जाय तो उसका दंड लेकर आगेके लिये ऐसा सावधान रहे कि दोषकी पुनरावृत्ति न हो सके।

प्रायश्चित्तशास्त्रके अध्ययनका अधिकारी—प्रायश्चित शास्त्र पढनेका सबको अधिकार नही है। साधुओमे भी आचार्य ही इसके पढनेके अधिकारी है और प्रायश्चित्त देने के भी वे ही अधिकारी है। यदि हर कोई प्रायश्चित्त शास्त्र पढने लगे तो दोप लगानेमे वह निर्भय हो जायगा, क्योकि उसे पहिले से ही मालूम है कि अमुक दोप लगानेका यह प्रायश्चित्त होगा, उपवास एकाशन या जाप्य आदि सो कर लेंगे। देखो यदि और किसी बडे चरित्रवान ज्ञानी पुरुषसे प्रायश्चित लेनेकी बात रहेगी तो व्रतादिमे अतीचार लगाने से भय खायगा कि इसका नही मालूम क्या दंड मिलेगा? और साथ ही लज्जा और सकोचका भी भाव सोचकर हिचकता है कि गुरुके पास यह अपराध कहना पडेगा, उनके समक्ष हमे अपराधीके रूपमे जाना पडेगा, गुरुकी निगाहमे मैं अयोग्य शिष्य समझा जाऊगा आदि विचार उसके मनमे आते हैं तो वह अपराध न करेगा। प्रायश्चित्तोका ज्ञान पहिलेसे कुछ न रखे, वडोसे जाकर प्रायश्चित ले ले। सिद्धान्त शास्त्र और आध्यात्मिक शास्त्र भी गुरुमुख से ही पढना चाहिये क्योकि इनके गहन स्थलोको गुरु बतावे प्राय तभी यथार्थ बोध हो सकता है अन्यथा कुछका कुछ समझ अपना व दूसरोका अहित भी कर सकता है, आगेकी परिपाटीको सदोष बना सकता है।

प्रायश्चित्तका पात्र—प्रायश्चित लेने वालेको चाहिये कि अपनेसे वडे ज्ञानवान चरित्रवानके समक्ष अपने अपराधोको व्रतादिमे लगे अतीचारोको जैसाका तैसा प्रगट कर दे, कोई बात छुपावे नही। उसका दड लेनेसे भय न खावे कि नही मालूम क्या प्रायश्चित दे देगे? फिर गुरु जैसा प्रायश्चित दे स्वीकार करना चाहिये और आगे ऐसा अवसर न आवे ऐसी भावना दृढ करना चाहिये। प्रायश्चित तपका यह बाह्य रूप है। इस तपमे प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रायश्चित्त तीनो शामिल है। मेरे पाप मिथ्या हो—यह भावना करना प्रतिक्रमण है। तो जो पाप किये हैं वे मिथ्या क्यो हो, झूठे क्यो हो जब कि वे किये गये हैं? तो मिथ्या होनेका भाव यह है कि आत्मा व द्रव्यमात्र सामान्यविशेषात्मक है। सामान्य वह है जिसके अनत विशेष (पर्याय) होती हैं, सो जो वह एक सामान्य, विशेष-समय २ के परिणमनमे हैं वह सर्वदा है। विशेष सर्वदा रहनेवाला नही होता। ज्ञानी विशेषमे (पर्यायमे) अहपनेका अनुभव नही करना चाहता, सामान्यमे करना चाहता है, तो वह सामान्य कैसा है? न प्रमत्त है, न अप्रमत्त, न शुद्ध है, न अशुद्ध, न मुक्त है, न ससारी।

मै इन भेदोसे रहित अभेद चित्सामान्य स्वरूप हू। जब आत्मस्वरूपका ऐसा ख्याल आता तो पुण्य पाप आदि जो (विशेष) है उन्हे अपना नही मानता। ऐसा सामान्य अनुभव करने वालेकी आवाज है कि ये सब किये गये शुभ अशुभ मिथ्या हो। विशेषमे रहते हुए भी उसमे दृष्टि नही रखता। इसी एक सामान्यके विचारमे १ प्रतिक्रमण २ आलोचना और ३ प्रत्याख्यान ये तीनो हो जाती है। जो उदयमे आ रहे विभावपरिणामोसे अपनेको लौटा लेता है उसके आलोचना हो गई, प्रायश्चित्त हो गया, पूर्वकृत पाप निष्फल होकर निर्जीर्ण हो गये, इसलिये प्रतिक्रमण भी हुआ। आगामी कर्म जो नही बधे वह प्रत्याख्यान हो गया। ऐसा प्रायश्चित्त मुनि जन निरतर करते रहते है। आप कहेगे कि व्रतसमिति आदि पालने वालेको प्रायश्चितका सर्वदा अवसर क्यो ? तो उत्तर है कि दोष सर्वदा होते रहते है, दोष जब सर्वदा हैं तो उसका प्रायश्चित भी है। कषायोकी सत्ता सूक्ष्मतम रहने तक दोष होते ही रहते है। बुद्धिपूर्वक नही तो अबुद्धिपूर्वक। अत प्रायश्चित्त भी समय-समयपर करना पडता है।

विनय तप--२–दूसरा विनय तप है–यह तप इतने महत्त्वका है कि जिसका वर्णन नही किया जा सकता। विनयके बिना जीवन ही नही, उन्नति नही, लौकिक सिद्धि नही और परमार्थ भी नही। जितने भी सन्मार्गी है वे सब विनयशील है। अविनयी जगमे रुलता रहता है और विनयवान् संसारसे छूट जाता है। विनयसे विद्याकी प्राप्ति होती है, इह लोक सुधरता है और परलोक भी सुधरता है। विनयशीलता नही रहनेके ही कारण घर घरमे लडाई होती है। समाज समाजमे विद्वेष चलता है। और एक राष्ट्र दूसरेको हडपनेकी फिकरमे रहता है। यदि विनय हो तो सुख शाति रहती है। क्योकि विनयसे सुबुद्धि जागृत रहती है। जो प्रतिभाशील छात्र होता है वह प्राय विनयवान भी होता है, प्रतिभा भी उसकी विनयसे ही चमकती है। अविनयी प्रतिभाशालीका अपवाद बहुत कम मिलेगा। मोक्षमार्गमे भी विनयके बिना आगे नही बढ सकता। मानी रहकर मोक्षमार्गपर कैसे चल सकेगा ? कभी नही। परमार्थकी बात तो विनय विना चलती ही नही। विभावसे रुचि हटाकर स्वभावकी रुचि किये बिना क्या कर सकता है ? देव, गुरु और धर्म इनके आयतन और उपकरणमे विनय आये बिना धर्ममे बढना कैसे सम्भव हो सकता है ? मोक्ष-मार्गीका जीवन सयमी और साधु जीवन है, उसमे कोमलता, सहृदयता, दयालुता और नम्रताका भरा छलकता रहता है। कठोरता और उद्दण्डता मानो उसके जीवनका साथ छोड चुकी होती है। वह अपने कर्तव्यके प्रति कठोर होकर भी दूसरोके प्रति तो कोमल और सरल ही होता है। किसीको अच्छा बनना हो तो विनयशील बने। विनयवान पुत्र पिताके द्वारा जहाँ तक संभव होता है सुखी जीवन बिताता है, पिता तकलीफ भोग कर भी

उसको सुविधा और सुखका ख्याल रखता है। तो क्या यह अच्छा है कि विनयकी पोलसीसे पिताको दुःखी भी होनें दे और स्वय सुखी होवे ? विनय वह हृदयका स्वच्छ भाव है उसके कारण वह जिसके प्रति विनय किया जाता है मर मिटनेके लिये तैयार रहता है फिर भी अपनेको सुखी अनुभव करता है। विनय करने वाला और जिसके प्रति विनय की जाती है ये दोनो सुखी रहते है, वह हथियार नहीं जो परका प्रतिघात करे वह तो फूलकी माला है, जिसकी सुगन्धि और कोमलता पहिनाने वालेको और पहिनने वालेको गुदगुदी पैदा करती है। विनयमे वह गुण है कि पत्थर भी मोम वन जाता है। शत्रु भी मित्र हो जाते हैं और महापापी महान् धर्मात्मा महात्मा वन जाते है।

झूठे मानकी झूठी शान—कोई वढिया भोजन खिलानेके वाद यह कह दे कि कहो क्या वढिया भोजन खिलाया। तुम्हारे वापने भी न खाया होगा, तो वह भोजन खिलाना उल्टा विद्वेष और दुःखका कारण वन जायेगा। तो मानकी शान छूटती क्यो नही ? यदि सुखी वनना चाहते हो तो झूठी शानको छोडना ही पडेगा। एक वार किसी राजाके दरवार मे--उपस्थित एक कविसे सुन्दरतम कविता करनेको कहा गया। उसने कोरे कागज पर कुछ लिखनेका वहाना करके कोरा कागज राजाको दे दिया और कहा कि यह कविता अति उत्तम है, लेकिन उसीको दिखेगी जो एक वापका पैदा होगा। राजा कागजको हाथमे लेकर असमंजससे पड गया और सोचने लगा आखिर उपस्थित सभासदोसे कविताके वारेमे क्या मतव्य जाहिर करूं ? आखिर यह सोचा कि यह कहकर कि 'मुझे नही दिखता क्या कैसा लिखा है' दोगला संतान वनना ठीक नही। अत वोला कि कविजीने वहुत सुन्दर कविता लिखी है। इसके समर्थन पानेके लिये अन्य कवियोको भी वह कोरा कागज देकर अनुमति ली गई, तो क्रमश उन सवने राजाके जैसे विचारोके फेरमे झूटमूट कोरे कागजमे–वहुत सुन्दर कविता लिखनेकी बातको पुष्ट किया। अन्तमे वह रहस्य प्रगट होनेपर सवको शर्मिन्दा होना पडा। तो झूठी शानमे तथ्य कुछ नही केवल हैरानी के सिवा। कितना ही वनावा बनाया जाय और अपने को वडा दिखाया जाय, लेकिन सच्ची बात कभी न कभी सामने आ ही जाती है और बडेकी जगह छोटा वनना पडता है, क्योकि प्राकृतिक नियममे यही बात है कि जो अपनेको बडा दिखाना चाहता है, आत्म-प्रशसा करता है, दूसरेको हल्का समझता है, ओछा बताता है वह स्वय बडा न रह छोटा ही होता है। इस मान और शानने ससारको डुबो रखा है। लेकिन जिन्होने उसे त्यागा और वे विनयशील हुए, लोकके अग्रणी बन गये। विनय गुणका अवलंबन लेनेपर ज्ञानवान, चारित्रवान और निष्ठावान बननेमे कोई कठिनाई नही है। इसमे भारी गुण भरे हुए हैं। जिनका वर्णन करना कठिन है।

विनयहीनता भविष्यकी बुराईके लक्षण—हमको व्याकरण कई विद्वानोने पढाया,

एक कपिलेश्वर जी थे उन्होने भी पढाया है । उनकी टाँग टूटी थी । जब हम उनके पैर दबाते तो टूटी टाँगको दबानेमे बडा आनन्द आता और गुरु जी को इष्ट था । मनमे यह नही आता कि लगडे पैर को क्यो दबाया जाय ? लंगडेपनसे विद्यागुरुसे अनादर नही होता था । अब जमाना बडी तेजीसे बदल रहा है कि विनय गुण भी हीन और हीनतर होता जाता है । पहिले गुरुको साष्टाग विनय होती थी, फिर पंचाग होने लगी, पीछे हाथ जोड शिर नवाकर करने लगे । फिर शिर नवाना रह गया और केवल हाथ जोडना रह गया, अब हाथ जोडना भी मिट रहा है और मुंहसे ही कुछ कहकर अभिवादन किया जाता है और साधारण अपने समान वालोमे तो पाँच उंगली मस्तकको लगाकर अथवा १ उगली लगाकर अथवा मुंहसे कुछ भी न बोल केवल हंसकर और यहाँ तक कि घूंसा मुक्का आपसमे लगाकर पैरमे पैर मारकर अभिवादन करनेकी परिपाटी चल निकली है । ये अच्छे भविष्यके लक्षण नही है ।

विनयसे गुरुप्रसादका लाभ--एक गुरु अपने सब छात्रोमे से एकपर विशेष प्रेम रखते थे क्योकि वह विनयवान बहुत था । तब गुरुजीका झुकाव हो ही जाता था । एक बार गुरु जी की स्त्रीने कहा कि आप एक छात्रपर ही विशेष प्रेम क्यो रखते है ? उन्होने उसका कारण समझानेके लिये एक प्रसंग बनाया । भुजामे आमका फल बाँधकर छात्रोको यह मालूम कराया कि बडे जोरोका दर्द करने वाला फोडा उठा है । तब सब छात्रोमे से कोई डाक्टरको लानेकी बात पूछता, कोई वैद्यको लानेकी और कोई कुछ कोई कुछ । लेकिन गुरुजी ने कहा, इस फोडेमे मवाद है वही तकलीफ दे रही है यदि कोई मुहसे उसे चूस कर निकाल दे तो ठीक हो सकता है । एकको छोड सारे छात्र बगले झाँकने लगे । लेकिन उस विनयशील छात्रने तुरन्त लपककर पीब चूसनेकी आतुरता दिखाई और मुह लगा ही रखा था कि गुरुजीने कहा- बस रहने दे, मिट गया फोडा । इतना ही देखना था और अपनी श्रीमती जी को कहा कि इस कारणसे इसपर स्वाभाविक अधिक प्रेम है । विनय ऐसी चीज है जो हर तरह समृद्धिशाली बनाता है । ऊपरी विनय दंडवत करना और हाथ जोडना आदि है और अन्तरग विनय है अपने मन वचन कायको सरल रखकर निश्छल स्वअनुराग करना ।

जो मिलते बहुत कम हो लेकिन एक दूसरेका हित चाहे, अनुकूल वृत्ति करे तो वे आपसमे विनयशील कहलायेगे, सच्चे मित्र कहलावेगे। इसी तरह परमार्थके विषयमे भी समझना चाहिये। जिसकी विनय करते है उसकी अनुकूलताका ध्यान विनयमे अवश्य होता है।

वैयावृत्य तप—३–तीसरा तप वैयावृत्य है। वैयावृत्य भी बडे महत्त्वका तप है। धर्मात्मा पुरुषोकी सेवा करना, उनके कष्टोको दूर करना वैयावृत्य है। वैयावृत्य शब्दके अर्थसे उसका भाव समझिये व्यावृत्य भाव वैयावृत्य—निर्वृत्त पुरुषको व्यावृत कहते है। उस पुरुष का जो परिणाम है उसे वैयावृत्य कहते है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि–विरक्त पुरुषके भावको वैयावृत्त कहना कुछ ठीक सा मालूम नही पडता ? सो नही। जो सेवा टहल आदि ऊपरी वैयावृत्य है यह विरक्तताके परिणामसे ही होता है। अर्थात् वैयावृत्ति करने वालेके परिणाम विरक्त, धर्ममय होते है तभी वह धर्मात्माकी सेवा टहल करता है अन्यथा दिखावे के लिये स्वार्थके लिये जो सेवा है, वह वैयावृत्य नही है। आत्मवञ्चना है वह। बच्चे का नाक मलमूत्र मातापिता साफ करते हैं और टहल वे बच्चेकी करते है किन्तु उसे वैयावृत्य नही कहेगे, क्योकि वह विरक्ति परिणामोसे हुई सेवावृत्ति नही है। वह तो मूर्च्छा परिणामोसे होने वाली वृत्ति है। विवेकरहित सेवा भी वैयावृत्ति नही है। दो शिष्य अपने गुरुके पैर दबा रहे थे। एक एकको, दूसरा दूसरे पैरको। एक शिष्यने अपना दबाया जाने वाला पैर दूसरेसे छुवा दिया तो उस पैरको दाबने वाला बिगड पडा कि हमारे पैरको क्यो तुमने अपने पैरसे दबा दिया ? उसने अपना पैर दूसरेपर दे मारा। मतलब यह है कि वैयावृत्ति तो आराम पहुचाने के लिये होना चाहिये, किन्तु अविवेक और कषायसे दु ख देने वाली बन गई। यह तो मात्र बच्चोका दृष्टान्त है। ईर्ष्या या स्वार्थसे वैयावृत्य नही होती। सच यह है कि वैयावृत्य विरक्त पुरुष ही कर सकते हैं। वैयावृत्य स्वय करे दूसरोसे करावे, वैयावृत्यकी सराहना करे उसकी व्यवस्था बनावे ये सब उसके विविध रूप हैं। स्त्री सब मनुष्योके सामने अपने बीमार पतिकी सेवा करनेमे सकोच करती है, दूर खडी है, फिर भी उसके सेवाके भाव हैं तो भी उस भावको वैयावृत्यके भाव न कहेगे, क्योकि वह विरक्त-भावोका रूप नही है। स्वय दु ख भोग ले, धर्मात्माके दु खको दूर करदे, ऐसी वृति वैयावृत्य करने वालेके होती है। और उसके करनेमे भले ही उसे श्रम करना पडता है, दूसरो के दिखनेमे कष्ट उठाना पडता है लेकिन उसे उस कष्टका अनुभव नही होता, प्रत्युत अपूर्व आनन्दका अनुभव होता।

स्वाध्याय अन्तस्तप—अन्तरङ्गतपोका चौथा भेद स्वाध्याय तप है—स्वाध्याय इस लिये अन्तरङ्ग तप है कि उसका आत्मासे सम्बन्ध रहता है। जहा स्व–आत्माका अध्याय–मनन होता है उसे स्वाध्याय कहते है। कोई सोचे या कहे कि चलो एकाध मिनिटमे कुछ

कायोत्सर्ग अन्तस्तप——६ कायोत्सर्ग–शरीरके ममत्वका त्याग करना, शरीर मैं नही हू ऐसा मानना अथवा शरीरकी दासता छोडना यही कायोत्सर्ग है। अगुलियोके चलाने मे व मत्र पढनेमे ही ध्यान रहनेसे कायोत्सर्ग नही होना। हाँ मत्र पाठ आदि उसकी एक पद्धति अवश्य है। निश्चयसे काममे ममबुद्धि नही होना कायोत्सर्ग है, यह खडे होकर होता है और बैठकर भी हो सकता है। शरीरका लक्ष्य बिल्कुल न रहे और एक ध्रुवस्वभावको देखे इसे कायोत्सर्ग कहते है। ऐसे तपोकी साधनामे निरन्तर रहनेवाले योगियोके कई चमत्कारिक शक्तियोका प्रादुर्भाव हो जाता है जो ऋद्धि कहलाती हैं। ऐसे ऋद्धिधारी साधु हमारा कल्याण करें।

आमर्ष सर्वोषध यश्तथाशी विपविषादृष्टि विष विपाश्च।
सखिल्ल विड्जल्ल मलौषधीशा स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न ॥

औपधिऋद्धियोंमें आमर्पौपधि ऋद्धिधारी ऋषिवरोंका अभिवन्दन—उपर्युक्त औपधि ऋद्धिधारी योगीश्वर हमारा कल्याण करे। वे हमारा कल्याण करनेके लिये नही आते, यदि वे इसीमे फस जाये तो वे मोही हो जावेंगे और यहाँ तो कुछ होने जानेका नही। आमर्षऋद्धि किसे कहते है? जिनके अङ्ग उपाग और उसमे लगी हुई धूलके लगते ही रोगियोके रोग दूर हो जावे ऐसे यो ीकी चमत्कारिक शक्तिको आमर्षऋद्धि कहते हैं। देखो तो सही आत्मासे पवित्र हो जानेसे शरीर और उसमे लगी हुई धूलमे कितना असर हो जाता है? वास्तवमे तो वह शुद्ध आत्मा ही परम औषधि है। किसी साधुके शरीरमे वात कुष्ट आदि भयानक रोग हो जावें और वे ध्यानकी निर्मलतासे इस औषध ऋद्धिको प्राप्त कर लें तो शरीरके वे रोग तत्क्षण विलय जाते हैं, शरीरमे अपूर्व कातिको भी मन्द करने वाला ओज शरीरमे प्रगट हो जाता है, दिव्य केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। अति बीभत्स रोगको दूर करके शरीरको परमऔदारिक बनाने वाली आत्माकी निर्मलताको विचारो। जिससे ऐसी ऋद्धि प्रगट हो जाती है।

निष्काम तपश्चरणकी महिमा—शुभचन्द्राचार्य और भर्तृहरि भाई भाई थे। शुभचन्द्राचार्य बडे और भर्तृहरि छोटे। इन दोनो राजपुत्रोको बचपनसे ही वैराग्य हो गया। इनके बलको देख कौटुम्बिक ईर्षा बढी, जब उन्हे मालूम हुआ कि राजलोभसे हमारे प्राणोके ग्राहक तैयार हैं तो ससारकी असारता और तुच्छता देख घर छोड चले गये। शुभचन्द्राचार्यको दिगबर साधुका आश्रम मिला, अत वे दिगंबर दीक्षा ले तप तपने लगे और भर्तृहरिको कोई अन्य तापसीका सहयोग मिला और वे तापसी दीक्षासे दीक्षित हुए। अपने-अपने रास्तेसे तप तपते हुए वे अपनी पद्धतिकी तरक्की करने लगे। भर्तृहरिके गुरुने खुश हो दो तूम्बी ऐसा रस दिया जिससे धूल पत्थर सोना बन सकता था। अब भर्तृहरिने अपने बड़े भाईकी सुध और

उनकी खबर लेनेके लिये अपने शिष्योको भेजा। पता लगाते लगाते वे एक अटवीपर ध्यान लगाये मिले। तापसी शिष्योने सोचा कि कपडा तनपर नही, खाने खिलानेको भोजनका ठिकाना नही, शरीर सूखा जा रहा है। बडी गरीब हीन हालत है गुरुके भाई की। यह दशा शिष्योने जा अपने गुरु भर्तृहरिको बतलाई। उन्होने दुःख माना और एक तूम्बीरस उनके पास भिजवाया जिससे कि सोना तैयार कर गरीबी दूर कर सके। रसकी तूंबी ले जाकर आचार्यजी को दी गई और उसका गुण बखाना गया। उसकी तारीफ सुन आचार्यने तूंबी को उलट दिया और रसको व्यर्थ कर दिया। भर्तृहरिके शिष्य उनकी यह क्रिया देख पेशोपेशमे पडे और विचारा कि इनका मस्तक ठिकानेपर नही है। वापिस यह खबर मिलने पर वे कुछ शिष्योके साथ स्वय भाईके पास गये और मिलजुलकर साथकी दूसरी रस तूंबी छोटे भाईने बडे को दी, तो आचार्यने उसे भी उडेल दिया, भर्तृहरिको बडा पश्चाताप हुआ और इसका दुःख प्रकट किया। शुभचन्द्राचार्यने उन्हे सम्बोधा, यदि मायामे ही फसे रहना था तो आपने घर क्यो छोडा ? जिस साधनाके लिये निकले थे उसको भूल गये और कुचक्र मे पड गये। यदि सोना ही चाहिये तो लो कहकर पैरके नीचेकी धूल पासकी शिलापर डाल दी। वह शिला तत्काल ही स्वर्णकी हो गई। भर्तृहरिको भाईकी इस अलौकिक साधनाके चमत्कारको देख चेत आया और वह अपनी तुच्छतापर लजाये। सच है वास्तविक वस्तुसे बहुतसे प्राणी अनभिज्ञ ही रहते है और बाह्यपदार्थमे ही सब कुछ पानेके लिये लगे रहते है, भटकते रहते हैं। लोग अपनेसे भिन्न अत्यन्त भिन्न पदार्थके लिये इतने मरे जा रहे है। संग्रहकी बुद्धि नही हटती। एक बार भी अपनेको सासारिक भारसे रहित अनुभव नही कर पाते। लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा अनुभव करता रहता है। जिससे वह ऋद्धि प्रगट हो जाती है कि नख केश तथा शरीरकी स्पर्श की हुई धूल रोगीके शरीरमे लगते ही उसे चगा कर देती है।

सर्वौषधि आशीविष, दृष्टिविष ऋद्धिधारी ऋषीश्वरोंका अभिवन्दन——सर्वौषधिऋद्धि वह है कि जो शरीर मात्रको औषधि रूप कर देती है। उस शरीरके स्पर्शसे बहती हुई हवा रोगीके शरीरको मिल जाय तो रोग लक्षण दूर हो जाय, भूत प्रेत और सर्पादिक भय भाग जाय। आशीविष या आशीर्विषऋद्धिके प्रतापसे कितनी ही अद्भुत बाते होने लगती हैं। कोई व्यक्ति मूर्छित पडा हो और उससे ऐसे योगी कुछ कह दे, आशीर्वाद दे दें तो बेहोशी भाग जाती है। खाया हुआ विष भी ऐसे योगीको अमृत रूप परिणमता है। दृष्टिविषऋद्धि जिनके प्रगट हुई है वे यदि किसी मूर्छित प्राणीकी तरफ दृष्टि कर ले तो उसकी मूर्छा दूर हो जाती है। कोई तरहके विषका असर किसी पर हो गया हो और उसकी तरफ इस ऋद्धिके धारी योगी दृष्टिपात करे तो वह विषका भाव नष्ट हो जाय। यदि कोई दुष्ट ऐसे

योगीश्वरोपर उपसर्ग करे तो भी वे अपनी शक्तिका प्रयोग नही करते । फिर भी किसीके कदाचित् कषायका आवेग आजाय तो उसकी ओर कठोर दृष्टिपात करने से उसका बुरा हो जाता है । लोकके साधारण व्यक्तियोमे भी ऐसा सुना जाता है कि किसी की दृष्टिसे भला और किसीकी दृष्टिसे बुरा हो जाता है । छोटे बच्चेको इसीलिये डठूला (काला-टीका) लगानेकी रूढि कि बच्चेको नजरका दोष न लग पावे । ऋद्धिधारी योगीश्वरोके दर्शन और वचन दुर्लभ होते है । जहाँ वे रहते हैं वहा अपूर्व शाति रहती है । ऐसे ऋषीश्वर हमारा कल्याण करे ।

सखिल्ल, विड, जल्ल, मल औषधि ऋद्धिधारी ऋषीश्वरोंका अभिवन्दन—सखिल्ल-ऋद्धि—जिस योगीके होती है उसका थूक वा खकारका स्पर्श हो जानेपर रोग दूर हो जाते हैं । यह सब वर्णन द्वादशाग शास्त्रमे आया हुआ है । षट् खडागमके आठवें अध्यायमे इनका वर्णन है । चित्स्वभावकी उपासनासे ऐसी ऋद्धि प्रगट हो जाती है कि उनके थूक और खकारमे भी रोग दूर होनेका प्रभाव आ जाता है । अब भी यहाँ यह देखा जाता है कि सयम पालनेवाले उपवास करनेवालेके खकार आदिमे बदबू नही आती । इतने परसे अनुमान कर ले कि जो निरतर आत्माके समीप—आत्मस्थ रहते हो उनके शरीर और मलादि पर कैसा प्रभाव पडता होगा ? ऐसे साधकके आत्मप्रदेशोसे स्पष्ट पुद्गलमात्र औष-धिरूप हो जाता है । विड ऋद्धि—वह है जिसके प्रभावसे योगियोके मलमूत्र आदि मलका स्पर्श हो जानेपर रोगियोके रोग दूर हो जाते है । भागवतमे जहा ऋषभदेवका वर्णन किया है वहाँ बतलाया है कि उनके शरीरमे की सुगन्धि कोसो दूर तक जाती थी तो आत्माकी पवित्रतासे शरीर और शरीरके सयोगी पदार्थोमे अपूर्वता आ जाय, इसमे कोई विस्मय नही है । वह पवित्र आत्मा उन पुद्गलोको ऐसा परिणमा देता हो यह बात नही किन्तु ऐसी पवित्र आत्माके शरीरमे ऐसे ही विलक्षण पुद्गलोका आवास और परिणमन होता है, उनका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा ही है । जल्लऋद्धि वह है जिससे इस ऋद्धि-धारीका पसीना या पसीनासे लगी हुई धूलका स्पर्श होनेपर रोग दूर हो जाते है । मल्लौ-षधि ऋद्धि -वह है जिससे कान आदिके मलके स्पर्शको निमित्त पाकर रोग दूर जाते हैं । ऐसे अनेक औषधि ऋद्धिके धारी ऋषीश्वर हमारा कल्याण करे । जिनकी आत्मा ऐसे वैभव से पूर्ण है वह आत्मा वैभव आत्मनिर्मलता हमारी हममे प्रगट करें । अब रस ऋद्धिधारियो से कल्याणकी कामना पूजक करता है—

> क्षीर स्रवतोऽत्रघृत स्रवतो, मधुस्रवतोऽप्यमृतस्रवंत ।
> अक्षीणसवासमहानसाश्च, स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न ॥

क्षीरस्रवि ऋद्धिधारी ऋषीश्वरोंका अभिवन्दन—क्षीरऋद्धि—के धारी ऋषि रूखा भी

आहार कर ले तो वह दूधरूप मिष्ट और पुष्टिकारक हो जाता है अथवा उनके वचन आत्मसाधक होते है। आत्माको भी दूधके समान पुष्ट करनेवाले होते है। आप सोचे कि यह बडे आनन्दकी बात है। यदि हममे ऐसी ऋद्धि हो जाय तो अच्छा हो। सो भाई ऐसा होना असंभव है, इच्छामे वह योगसाधन कहाँ रहा जिससे ऐसी ऋद्धि हो जाय। इच्छा करनेवालोंके ऋद्धियाँ नही हुआ करती। संसारके इस वैभवका यही हाल हे कि इच्छा करनेसे नही मिलता और इच्छाओका त्याग करनेमे पीछे लगता है। छायाकी तरह वैश्यके सेवकको यह दोहा बडा पसन्द था—होगे दयाल तो देगे बुलाके। कौन जायेगा लेने देगे घर आके॥ इस दोहेको वह हमेशा बोला करे और उसके मनमे यह विश्वास जमा कि—जब भगवान ही हमारी फिकर करने वाले है तो हमे क्यो किसी बातकी परवाह करना? एक समय उस वैश्यके घरमे चोर औंडा लगाने लगे, सो औंडा नौकरकी जगह पर लग गया। नौकरको चोरोका हाल मालूम पडा तो उसके मुहसे कह आया कि अमुक जगह अमुक वृक्षके नीचे अशर्फियोका हंडा गडा है वहाँसे क्यो नहीं लाते? हमारे यहाँ क्या रखा है? एक बार उस जगह किसी चोरको एक अशर्फियोका हंडा गाडते हुए उसने देख लिया था, लेकिन यह बात उसने किसीसे न कही और न उस धनको स्वय ले लेनेका भाव किया। लेकिन इस प्रसगमे उसे यह एकाएक कह आया। चोर उसके घरका औंडा करना छोड़ उस भाडकी जगह पर गये जहा अशर्फियोका हंडा गडा हुआ था और निर्दिष्टस्थानको खोदने लगे, खोदते खोदते हंडा निकल आया, लेकिन ज्यो ही उसके मुंहको खोला कि उसमे से ततैया उडने लगी। चोरोने सोचा बनियाने तो अपने साथ बडी चालबाजी चली है, चलो इस हंडेका मुंह बन्द करके इसे उसके घर पर ले चले और इसमे भरी हुई ततैयां उसके घर पर छोड दे। ऐसा ही किया। हंडाको लाकर उसी औंडेके मुहमेसे जिसमेसे कि चोरीको भीतर जाना चाहते थे हंडेका मुह करके उसे उड़ेलने लगे। भाग्यकी बात उस हंडेमे से खनाखन अशर्फियां उडल पडी. जो अशर्फिया चोरोके लिये ततैयोके रूपमे थी।

जो कि आत्मादि अनेक वैभवोसे परिपूर्ण है उन्हे ध्यानमे लाकर आत्माकी निर्मलताको बढाया जा रहा है।

घृतस्रावि, मधुस्रावि व अमृतस्रावि ऋद्धिधारी ऋषीश्वरोंका अभिनन्दन—घृतस्रावि-ऋद्धि—जिनके प्रगट हो उनके हाथमे आया हुआ आहार घृतरूप परिणमा जाता है, अर्थात् रुखा सूखा भी आहार घीके समान स्वादिष्ट और पुष्टिकारक हो जाता है और वचन भी जिनके घीके समान मिष्ट और पुष्टिकारक होते हैं। आत्मचिंतनासे, रागद्वेष हटानेसे ऐसा चमत्कार जिनके प्रगट हो जाता है ऐसे वे ऋषीश्वर हमारा कल्याण करे। मधुस्राविऋद्धि—वह है जिससे रूखा आहार भी मिष्टान्नके समान मीठा हो जाय, वह पूराका पूरा आहार जिसमेसे कि उन ऋषिको आहार कराया गया है अतिमिष्ट हो जाता है। इस ऋद्धिधारीके वचन भी अतिमिष्ट और मिष्टान्नके समान शरीरको सतुष्ट करनेवाले होते है। देखो भक्ति-पूर्वक नीरस भी आहार बनाओ तो उस दातारके घर उस दिन आहारमे मिठास आ जाता है, विशेष रुचिपूर्वक खाया जाता है। जबकि साधारण दिनोके आहारमे वह मिठास नही आता चाहे जितना ही मीठा क्यो न बनाया गया है। जब आजके साधारण पात्रोकी ऐसी विशेषता है तब प्राचीन कालके तपस्वियोकी विशेषताका तो कहना ही क्या ? तो पात्र और दातारके गुणोसे आहारमे भी विशेषता आ जाया करती है। अमृतऋद्धि—से विषके समान कडुवा अथवा विष भी खाया जानेपर अमृतके समान हो जाता है। इस ऋद्धिसे ऋद्धिधारी के वचनोमे भी ऐसी विशेषता होती है कि वह अमृतके समान प्रिय और गुणकारी होता है।

अक्षीणसंवास व अक्षीणमहानस ऋद्धिके ईश्वरोंका अभिवन्दन—अक्षीणसवासऋद्धि—वह है कि जिस साधुके यह प्रगट हो जाती है वह जिस जगह हो वहाँ यदि चक्रवर्तीका कटक भी पहुच जाय तो भी जगहकी कोताई नही पडती। ऐसे ऋद्धीश्वरोको हमारा अभि-वन्दन हो। अक्षीणमहानसऋद्धि— जिन मुनिके हो वे जिसके घर भोजन करें, उसके घरका उस दिनका आहार इतना अटूट हो जाता है कि कितने भी भोजन करने वाले आवे कमी नही पडती। चक्रवर्तीका कटक भी उसमे आसानीसे भोजन कर सकता है। ऐसी ऋद्धियाँ जिन योगीश्वरोके ध्यानके प्रतापसे प्रगट हो जाती है वे ऋषीश्वर हमारा कल्याण करें। यहाँ तक प्रस्तावनाका प्रकरण हुआ। प्रस्तावनाके बाद वर्तमान पूजन करनेकी पद्धति यह है कि पहिले देव शास्त्र गुरुकी पूजा करते हैं। सम्यग्दर्शनके लक्षणमे भी व्यवहारसे देव, शास्त्र और गुरुके श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यथा—रत्नकरड श्रावकाचारमे—श्रद्धान परमार्थानामाप्तागम तपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ अर्थात तीन मूढता रहित अष्ट मद रहित और अङ्गोसे सहित परमार्थ आप्त आगम और तपस्वी

इनकी श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

प्रत्येक कार्यमें उसके अनुरूप देव शास्त्र गुरुकी उपयोगिता--देखिये व्यवहारके काम मे भी इन तीनके बिना काम नही चलता। जैसे--सगीत सीखने वालेको उसका आदर्श उस विषयक पुस्तक और उसको सीखाने वाले शिक्षककी आवश्यकता पडती है। इसी तरह व्यापार आदिमे भी ऐसी तीन चीजोकी जरूरत पडती है। धर्म धारण करनेमे भी तीन चीजोकी जरूरत पडती है। पहिले वह कि जिनकी आत्मा अत्यन्त निर्मल हो गई हो, आदर्श रूपमे मानने के लिये उङ्गली जिसपर उठती है वह है देवाधिदेव अरहंत सिद्ध परमात्मा। जयपुरमे दरोगाजीके मन्दिरमे काले पाषाणकी मूर्ति सबसे पहिले मिलती थी, उसका दर्शन करते थे तो मानो वह हमसे कहती हो कि तुम कहाँ भटकते हो सुख शाँति तो यहाँ है। ऐसा मालूम हो कि साक्षात् कोई निर्मलात्मा महापुरुष बैठा है और कह रहा है कि सुख शातिके लिये अपने आपमे लीन रहो। तो देवके स्थानापन्न स्थापित उनकी मूर्ति भी हमारी आराधनाका अवलम्बन है और शास्त्र वह जो रागद्वेष हटानेकी शिक्षा देता हो। गुरु वे है जो भीतर और बाहिरके परिग्रहसे रहित हो तथा ज्ञान ध्यान और तपमे लीन रहता हो। धर्मात्माओको धर्मके लिये आत्माके सिवा बाह्यमे इन तीनका अवलम्वन लेना आवश्यक है और इसीलिये वह इन तीनकी पूजा करता है।

विद्यमान तीर्थंकरोंकी उपासना—देव शास्त्र गुरुकी पूजा कर चुकनेके बाद बीस तीर्थंकरोकी पूजा की जाती है। वर्तमानमे भरतक्षेत्रमे तीर्थंकर नही है किन्तु कुछ क्षेत्र आगे बढकर विदेहक्षेत्रमे कमसे कम २० तीर्थंकर मौजूद है। कभी अधिक भी हो सकते है लेकिन कमसे कम जम्बूद्वीप धातुकी खंड और पुष्करवर द्वीपके ५ विदेहक्षेत्रोमे मिलाकर कमसे कम २० तीर्थंकर तो हमेशा मौजूद रहते है। स्थानका केवल फर्क है। तीर्थंकर तो अभी भी मौजूद है। यदि हमारी भावना उनसे मिलनेकी, उनके दर्शन करनेकी अथवा उनकी दिव्यध्वनि सुननेकी प्रबल हो तो हम उनसे मिल सकते है। आवश्यकता केवल इस बातकी है धीरतापूर्वक १०, २० वर्ष या मुहूर्तमात्र भी धर्मकी आराधना करते हुए अतमे प्राणोको छोड़ें, उनके ध्यानमे अपनेको न्यौछावर कर दें, समवशरणमे स्थित अरहतका जैसा वर्णन किया है उसी तरह अलौकिक विभूति सहित समवशरणको ध्यानमे लाकर श्री मण्डपमे आठ प्रातिहार्योसे युक्त कमलपर अन्तरीक्ष ५०० धनुष प्रमाण उत्तुंग परम औदारिक शरीरमे स्थित राग द्वेषादि विकारोसे रहित पूर्णज्ञानी चित्स्वभावमे सदा लीन अमूर्त अनन्त शक्ति सुख सम्पन्न अरहतको अनुभवमे लावें। ऐसा अनुभव करनेके लिये बार बार अभ्यास करे। सामायिकमे एकाग्रतापूर्वक ऐसे अरहंत प्रभुका दर्शन करनेका ध्यान जोडे। उस समय केवल उन्हीके दर्शनके लिये लालायित होकर और सब कुछ भूलकर केवल उनका दर्शन अनुभव

पानेका एकमात्र लक्ष्य रखकर यदि हम अपना ध्यान जोडे तो अवश्य ही उसका अनुभव आयगा और आत्मा (स्वात्मा) के भी दर्शन होगे। क्योकि कहा है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लय ॥

अर्हत्स्वरूपके ध्यानमें आत्मप्रभुताका दर्शन—द्रव्य गुण और पर्यायोसे जो अरहत को जानता है वह अपनी आत्माको जानता है क्योकि अरहंतकी शुद्ध आत्मा जैसी है स्वरूप से हमारी आत्मा भी वैसी है, उसमे लेश मात्र भी फरक नही है। अत अरहतको जानना अपनी आत्माको ही जानना है। और अपनी आत्माको जानना सो अरहंतको जानना है। सो ऐसे अरहंतको मनमे विचारकर यह ध्यानमे लावे—मानो समवशरणमे बैठे साक्षात् तीर्थ-करके दर्शन हो रहे हैं, उनकी दिव्यध्वनि हो रही है और मैं सुन रहा हू, वही और अनेक ऋद्धिधारी ऋषीश्वर उत्तम मध्यम जघन्य भव्य श्रावक श्राविकाए भी बैठी हुई भगवानकी दिव्यध्वनिका पान कर रही हैं। इस विचारमे दो तरहकी वृत्ति आत्माकी होगी—एक तो यह बाह्य दिव्यध्वनि आदि रूप और दूसरी वह जहाँ न समोशरण है और न परमऔदारिक शरीर, किन्तु वही एक चेतना पुंज आत्मा है जिसमे परम वीतरागता है, पूर्ण ज्ञान है। इस तरह बाह्य और आभ्यन्तर रूपसे जब हम विदेह क्षेत्रमे स्थित तीर्थंकरदेवका परोक्षमे अपने हृदयमे ही दर्शन करनेका आनन्द लेने लगेंगे तब हमारी आत्मामे वह निर्मलता आयगी कि जिससे हमे सम्यक्त्व न जगा होगा तो सम्यक्त्व होगा और मरण करके हमे उत्तम देवो की योनियोमे वह स्थान मिलेगा जहाँसे हम प्रतिदिन चारो कालोमे दिव्यध्वनि सुननेके लिये विदेह क्षेत्र पहुच सकेंगे। सम्यक्त्व होनेपर देवायुकी आयु बन्धती है। अत कोई सम्यग्दृष्टि चाहे कि मनुष्य होकर हमे विदेह क्षेत्रमे भगवानके समागमका अवसर मिले सो नही हो सकता। हाँ यदि सम्यक्त्व न हो पावे या छूट जावे और हमारी भावना और ध्यानका अभ्यास उपर्युक्त प्रकारसे उनके समागमका चलता रहे तो विदेहक्षेत्रमे जन्म लेना कुछ भी कठिन बात नही है। भक्तने ठीक ही कहा है कि 'तुम्हे ढूंढ ही लेगे कही न कही' कौन चीज दुर्लभ है पुरुषार्थसे ? कोई नही। यही आत्मा जो अनन्त कालसे कर्मोंकी चोटें सह रहा है वही अरहत और सिद्ध बनता है, अनत जितने भी अरहत और सिद्ध हुए हैं वे ऐसी ही दुखमयी ससारी पर्यायको पार करके हुए है। पूजकको बीस तीर्थंकर पूजा करते समय विदेह क्षेत्रमे स्थित सीमधर आदि तीर्थंकरोको अपने हृदयमे स्थापित करके, और जिसकी तदाकारताको दिखानेके लिये सामने मूर्तिका अवलबन है, उस मूर्तिका अवलंबन लेते हुए भगवानमे तन्मय होकर पूजा करना चाहिये, मानो विदेह क्षेत्रमे नही मेरे हृदयमे ही सीमध-रादि तीर्थंकर मौजूद हैं। अथवा मैं यहाँ भरतक्षेत्रके जिनालयमे नही किन्तु विदेहक्षेत्रके

समवशरणमे स्थित भगवानकी पूजा कर रहा हू। ऐसी पूजा करने वाले भक्तको कहिये भगवानके दर्शन क्यो न होगे ? अवश्य होगे। इस भवमे परोक्षमे तो उनका आभास ही आवेगा किन्तु आयुका अन्त होनेपर अवश्य ही उनका सत्समागम मिलेगा और हम अपने को कृतार्थ करेगे। बीस तीर्थकरोकी पूजाके बाद अकृत्रिम चैत्यालायोकी पूजा की जाती है अथवा अर्घ चढाते है पश्चात् सिद्ध पूजा करते है। स्थापनामे बोलते है—

ऊर्ध्वाधोरयुतं सबिंदुसपरं ब्रह्मस्वरावेष्टित,
वर्गापूरितदिग्गताम्बुजदल तत्सन्धितत्त्वान्वितम्।
अत पत्रतटेष्वनाहतयुतं ह्रींकारसंवेष्टितम्,
देव ध्यायति य स मुक्तिसुभगो वैरीभकण्ठीरव ॥

सिद्धस्वरूपकी चित्तमें स्थापना—सिद्ध भगवानमे प्रदेशवत्त्व गुणके कारण अमूर्त आकार है, फिर भी मूर्तिमान कोई आकार उनका नही है, क्योकि मूर्तिकपना पुद्गलका ही गुण है, अशुद्ध दशामे जब आत्मा रहता है तब शरीरके सयोगसे उसका भी कुछ न कुछ शरीराकार आकार व्यवहारसे कहा जाता है। निश्चयसे तो संसारी दशामे भी आत्माके प्रदेशोमे मूर्तिकपना नही आ जाता, शरीराकार रह कर भी अमूर्त ही रहता है। और फिर सिद्ध दशा प्राप्त कर लेने पर तो शरीरका भी सग छूट जाता है। अत. सिद्ध भगवानके कोई मूर्तरूप नही है, अरहत जैसे प्रातिहार्य आदि कोई औपाधिक रूप भी नही है। अत उनका वर्णन मूर्त बीजाक्षरो द्वारा करते हैं—क्योकि व्यवहार बहुत गृहस्थोके अमूर्त आत्माके अवलम्बनमे मन ठहरता नही, अत कोई मूर्तरूपका आलबन लेना पडता है, जिसके विचारते विचारते उस चित्स्वभावमे भी दृष्टि पहुच जावे—उन बीजाक्षरो द्वारा इस प्रकार वर्णन है—जैसा कि उपर्युक्त श्लोकमे कहा है। ऊपर और नीचे "र" से सहित तथा बिन्दु सहित सपर अर्थात् स से आगेका अक्षर "ह" यह तो मन्त्रके बीचमे है, जिसका आकार ऐसा बना ह्र्ं फिर वह बीजाक्षर ब्रह्मस्वरोसे वेष्ठित है अर्थात् उसकी दक्षिण परिक्रमा करते हुए 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ' ये स्वर लिखे जावे। फिर ५ पाखुडी बनाई जावे, उन पाखुडियोकी सधिमे णमोकार मन्त्रका एक एक वाक्यपद लिखे और दलोमे क्रमश वर्गाक्षर लिखे। अन्त पत्रतटोमे अनाहत युत और ह्री कर सहित लिखे। इत्यादि विधिसे यन्त्रको पूरित करे। इन अक्षरोसे वाच्य देवका जो ध्यान करता है वह मुक्तिलक्ष्मी से सुशोभित होता है। जैसे कि हाथियोको भगाकर सिह सुशोभित होता है, इसी तरह सिद्ध भगवानका ध्यान करनेसे कर्म शत्रुओको भगाकर आत्मा अपने स्वरूपमे सुशोभित होता है। उक्त कथनानुसार स्वरो और व्यंजनोके द्वारा सिद्ध भगवानकी स्थापनाका संकल्प किया गया है। आगे उस सिद्ध परमात्माके स्वरूपको स्मरण किया जाता है—

निरस्तकर्मसम्बन्धं, सूक्ष्मं नित्यं निरामयं। वन्देऽहं परमात्मानममूर्तमनुपद्रवम् ॥

निष्कर्मा सिद्ध भगवंतका अभिवन्दन—जिन्होके कर्मका सम्बन्ध छूट गया है यद्यपि अरहतके पूर्वमोह कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय निमित्त दृष्टिसे ये ४ सीधे आत्मापर असर करने वाले कर्म नष्ट हो चुके होते हैं फिर भी आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय ये ४ कर्म अपनी सत्ता रखते ही है। जिससे शरीर और आयुकी स्थितिमे रहना पडता है। योगो को चचलतासे अव्याबाध गुणकी पूर्ण स्थिति नही होती, अगुरुलघु गुण भी व्यक्त नही होता। यद्यपि इन स्थितियोसे आत्मामे कोई वीतरागता की हानि नही होती तो भी जली हुई रस्सी की गौडेरी (ऐंठ) के समान निरर्थक किंतु सत्तामे बैठे हुए कर्म अपना अस्तित्व रखते ही है। किंतु सिद्ध भगवानके इन शेष चार कर्मोका भी सम्बन्ध छूट जाता है अत आत्माका वह सूक्ष्म अमूर्त रूप प्रगट हो जाता है। कर्मोके सम्बन्ध छूटनेसे सिद्ध आत्मा सर्वदा अनन्त काल तकके लिये हर तरहकी व्याधियोसे उन्मुक्त रहते हैं। ऐसे अमूर्त और मोह क्षोभ आदिके निमित्तसे उठने वाले उपद्रवोसे सर्वथा रहित शुद्ध आत्माको मैं नमस्कार करता हू। अमूर्त आत्माका शुद्ध रूप हृदयमे विचारनेसे भावनमस्कार हुआ और उसके कारण शरीरकी नम्रतारूप चेष्टा द्रव्य नमस्कार हुआ। लेकिन यहाँ भाव नमस्कार की प्रधानता है क्योकि सिद्धपूजा शुद्ध आत्माको स्पर्श करने वाले भावोसे ही होती है।

निजमनोमणिभाजनभारया, समरसैकसुधारसधारया।
सकलबोधकलारमणीयक, सहजसिद्धमहं परिपूजये ॥

सहजसिद्ध ज्ञायकस्वरूपकी अभ्यर्चना—सिद्ध पूजाका यह भावाष्टक परम रहस्यसे भरा हुआ कल्याणसे ओतप्रोत है। मैं सहज सिद्धकी पूजा करता हू। किसकी पूजा की जा रही है? सहज सिद्धकी। कौन सहज सिद्ध है? कर्मोको नष्ट करने वाले सिद्ध तो सिद्धालयमे है जिसको और लोग सदामुक्त कहा करते है। जो स्वभावसे निष्पन्न है पूर्ण शुद्ध है ऐसा आत्मा सहजसिद्ध है, जो कि सामान्य स्वभाववान अनादि अनन्त और अहेतुक है। साधकको सिद्ध बननेकी कोशिश नही होती, परमात्मा तो निज आत्मा स्वभावत है, किन्तु रागद्वेष आदि जो सब लगे हुए हैं उनको दूर करनेकी कोशिश होती है। जो मनुष्य है वही बालक, वृद्ध और युवा है अथवा जो बालक युवा और वृद्ध है वह मनुष्य ही है। यह वही मनुष्य है जिसे १० साल पहिले देखा था। यह लौकिक दृष्टात बना रहा है कि बालक युवा आदि सब दशाओमे एक मनुष्यत्वके समान जो सब दशाओमे एक रहा वह एक क्या है? उसको कोई दिखा सकता है क्या? नही। जैसे मनुष्यको हम दिखाना चाहेगे, जानना चाहेगे तो वह कोई न कोई दशामे ही मिलेगा, दशासे अतिरिक्त उस सामान्यको देखनेमे हम असमर्थ है, लेकिन उसके बिना दशायें नही। क्योकि यदि बालकको

ही मनुष्य मान ले तो बालकपन खतम होते ही मनुष्यपना नष्ट हो जाना चाहिये, सो होता नही। इसी तरह युवा और वृद्धको ही मनुष्य मान लें तो दूसरी अवस्थाओमे मनुष्यपना नही रहना चाहिये, सो होता नही। जैसे बालयुवा आदि सब अवस्थाओमे मनुष्य एक है इसी प्रकार जीवकी पर्याय मनुष्य तिर्यञ्चादिके रूपमें होती रहती है किन्तु जो मनुष्य है, देव है, नारकी व तिर्यञ्च है वह आत्मा नही है किन्तु जो सब दशाओमे रहता है वह एक आत्मा है। यह द्रव्यसे बताया, अब गुण और पर्यायसे बताते है।

गुण व पर्यायापेक्षया सहजसिद्धकी अभ्यर्चना—जीवका असाधारण स्वभाव ज्ञान सामान्य है और पुस्तकको जाना, मूर्तिको जाना, भगवानके शरीरको जाना आदि पर्यायज्ञान हैं, ये ज्ञानगुणकी पर्याये है। आत्मा अनात्मा आदि जाना सो ये किसके परिणमन है ? ये एक सामान्य ज्ञानस्वभावकी पर्याये है। जिस एक ज्ञानकी विभूतिया चलती है वह ज्ञान सहज सिद्ध है। यह सहजसिद्धता गुणकी अपेक्षासे है। अब पर्यायापेक्षया सहज सिद्धता देखिये—गुप्ति समिति सयम पालकर सर्व विकल्पोसे अतीत होकर जो कर्मोसे रहित हो गये, निर्मलदशाको प्राप्त हो गये वे पर्यायकी अपेक्षा सहज सिद्ध है। तो पूजककी कमी पर-परमेष्ठी पूज्यकी ओर दृष्टि जाती तो कभी स्वकी ओर जाती। तो सारे विकल्पोको हटाकर पूजक ध्रुव स्वभावके लक्ष्यमे पहुच रहा है। जिससे उस सामान्यस्वभावकी पूजा करता है। असली चीज जो सहजसिद्ध भगवान है उसमे दृष्टि न लगा, स्त्री, पुत्र और धन आदिमे ही मन लगा रहे तो ऐसी पूजा भक्तिकी सार्थकता क्या ? भगवानकी भक्तिसे संसारके सारे द्वन्द फन्दोसे रहित स्वभावकी दृष्टि और प्रवृत्ति आनी चाहिये। प्रतिदिन पूजन करके भी अपनेको सिद्ध बनाने की भावना नही होती तो उसे क्या कहा जाय ? दृष्टिकी फिरन आत्मा की ओर जरूर आना चाहिये, पूजाकी यही सार्थकता है।

समरसैकसुधारसधारासे सहजसिद्ध प्रभुकी अभ्यर्चना--पूजक अपनी भावनाको व्यक्त कर रहा है कि मैं समतारसरूपी अमृतकी एक धारासे सहज सिद्ध भगवानकी पूजा करता हू। यह दृष्टि स्वभावकी है। सुष्ठु दधाति इति सुधा, उत्तम पदमे जो धारण करे वह सुधा है। और रस्यते इति रस, अनुभवनमे जो आवे वह रस है। उत्तम पदमे धारण कराने वाला कौन है ? समता। सुधारस तो एक ही है, समग्र है, सहज सिद्ध भगवान स्वरूप है उसकी धारा अशरूप है, विकल्परूप भी है। मीठी चीजसे थोडा-थोडा झरना सो धारा है। सो हे भगवन्! आप तो समरसमे डुबे है, और मैं तो उसके एक अशमे रहने वाला हू। वह धारा कैसी है ? अपने मनरूपी मणिके भोजनमे, पात्रमे भरी हुई है। आपकी पूजाके योग्य मेरे पास क्या है ? कुछ नही। तब अपना हृदय ही आपको समर्पित करता हू (यह है भी, सर्वोत्कृष्ट, धन पैसा दे देना उनकी समता नही कर सकता) क्योकि सर्वोत्कृष्ट चीज

है ही क्या, जो मैं आपको समर्पित करूं ? तब मैं अन्य कुछ न मिलनेसे स्वय अपनेको ही आपके लिये समर्पण करता हू। रामचन्द्र जी के विषयमे एक पौराणिक कथा इस प्रकार है—रामचन्द्र जी जब लकापर विजय करके आये तब सहयोगी राजाओको यथायोग्य राज्य देकर पुरस्कृत किया, किन्तु हनुमानको कुछ भी नही दिया। तब वे रामसे पूछते है कि महाराज हमको निरूगा क्यो रखा ? तब राम कहते है कि मैं तुम्हे एक चीज देता हू, वह यह कि तुमने मेरे ऊपर जो उपकार किया हो वह खतम हो जाय। हनुमान जी (विनोदमे) बोले—यह तो और भी खूब रहा। रामचन्द्र जी ने समझाया कि जो मौकेके लिये उपकार मेटनेकी बात कही जाती है तो वह अनिष्ट मौका उपस्थित होगा तब मैं आपकी मदद करूगा ऐसा कहकर मानो (नही चाहते हुए भी) उसके अनिष्टको चाहा जाता है, किन्तु मैं तो यही चाहता हू कि तुम्हे कोई अनिष्ट प्रसग ही उपस्थित न हो जिससे कि मुझे मदद करनेकी जरूरत पडे। हनुमानजी को इस वार्तासे अति संतोष हुआ।

सहजबोध कला रमणीय सहज सिद्धकी अभ्यर्चना—भक्त कहता है वह अनुपम चीज कौनसी है जिससे मैं आपकी पूजा करूं ? मैं अपने भावोको ही आपके लिये समर्पित करता हू। उसका रूपक बाधते हैं कि जो समझे वह मन और वह मन कैसा ? मणिके समान उत्तम निर्मल ऐसा जो पात्र उसमे भरा हुआ समतारसकी एक धारा उससे 'सकल बोध कला रमणीयकं' सम्पूर्ण-पदार्थोको बोध करने वाला जो ज्ञान केवलज्ञान उसकी कला चैतन्य परिणतिमे सुन्दर। सहजशुद्धप्रभु आपकी पूजा करता हू। देखो इसमे कैसी दृष्टि आई ? जिसमे सकल पदार्थोको बोध करने वाली कला भरी है ऐसा सहज सिद्ध स्वय अपनी आत्मा तथा कर्मक्षयसिद्ध, सिद्ध परमात्मा इन दोनो के चित्र इस भावमे हैं। इस पूजामे से दोनो भाव प्रति स्थलपर दृष्टिगत होगे। यह आत्मा अभी भी सिद्ध है क्योकि इसे पैदा करना कुछ नही है मात्र मल दूर करना है, परम आराध्य है। इसकी महत्ता सकल ज्ञानसे प्रगट होती है। कोई बालक जब कलामे आता है तब कितना सुन्दर मालूम होता है ? यह तो बाह्य कला है लेकिन अन्तरगकी कला तो अलौकिक ही है। तो सहज सिद्धके माने क्या है ? स्वभाव सह जायते इति सहजं अर्थात् जो साथ ही पैदा हुआ हो। तो स्वभाव का नाम ऐसा क्यो हुआ ? जबसे द्रव्यकी सत्ता है तभीसे स्वभाव भी उसके साथ है है। द्रव्य बिना स्वभाव क्या और स्वभाव बिना द्रव्य क्या ? अत स्वभाव सिद्ध सिद्धालयमे विराजमान अथवा स्वभावसिद्ध निजात्मा-परमात्माकी पूजा करता हू।

अन्तर्भावकी परख—अब स्तवनके अनुसार भावको विचारिये-किसकी पूजा की ? किसने की ? हो क्या गया ? पूजकको कभी-कभी इन विकल्पोसे सहज आत्माका अनुभव होता है। ऐसे सहज स्वभावके आश्रय निजमे रति आवे एक ज्ञानानुभव रूप वृत्ति आवे वह

पूजा है। ज्ञानसागर ऐसा रमणीक तत्त्व है जिसमे आनेपर और किसीकी आवश्यकता नही रहती। कभी देखा होगा कि ठडके दिनोमे तालाबके तटपर नहानेकी ठडसे डरकर कोई बालक बैठा हो और पीछेसे कोई साथी उसे ढकेल दे और वह कूदकर तालाबमे जा पडे तो फिर वहाँ उसकी ठड भाग जाती है। ठड मालूम नही पडती। तो स्वभावमे जानेको मोही बालक घबडाते है। कदाचित् कुछ समझमें आवे कि स्वभावमे बिना शाति न होगी। तो पहिले अनेक विकल्प उठते शुभोपयोग छोड शुद्धोपयोगमे आना बडा गहन मालूम पडता, शुभोपयोगमे ही ठहर कर रह जाता, किन्तु जब एक बार भी स्वरूपमे प्रवेश करनेकी रुचि और दृढता आई कि झटसे अपनी स्थितिमे पहुँच गया। समतारसमे गोते लगाने लगा। देखो भैया! पूजा करनेपर भी समता नही आई, विषयता बनी रही, मोहका परदा नही हटा, झगडे टन्टे बने रहे और भगवानसे कुछ चाह पूर्तिकी भावना बनी रही तो वास्तविक पूजा नही की। भगवानकी पूजा जिसने किसी आशासे की उसने कुदेवकी पूजा की। सामने वीतराग मुद्रा होते हुए भी कर्तृत्वपनेसे—रागी (इच्छाकी पूर्ति करना माननेसे) देव माननेसे। यह तो निजमनका सौदा है। एक ही वीतरागकी मूर्ति किसीके लिये देव और किसीके लिये कुदेव है। घरकी सारी आकुलताओसे परेशान होकर शाति लाभके लिये मन्दिरमे आये और समतारससे पूजा नही कर पाये तो क्या विशेषता पाई? हाँ, फिर भी इतनी विशेषता भी है ही कि वीतरागताकी श्रद्धा आनेका अवलम्बन तो मिलता है। स्वाध्याय, सामाजिक और तत्त्वचर्चाका अवसर तो मिलता है। लेकिन यह ध्यानमे आना चाहिये कि हमे क्या बनना है? हमे अपना रूप सिद्ध स्वरूपकी प्रगट करना है। ऐसे की ही हम पूजा करते है। जैसे—किसीके हाथमे हीरा हो लेकिन समझ यह रहा हो कि यह काँच है तो बुद्धिमे फरक होते हुये भी हाथ खाली नही है। इसी प्रकार जिसे हम मुर्तिके द्वारा देखते है, उसकी यथार्थ समझ नही आनेपर भी हम हाथके खाली नही है, बुद्धिके खाली है। बुद्धिके भी भरे हो सकते हैं।

सहजसिद्धका सहजभावसे परिपूजन—साराश यह है कि हमें अवलम्बन तो अच्छा पकडना ही चाहिये, बुरे अवलम्बनोको अपनाते रहे और अच्छेसे मुख मोडते रहे यह तो उचित नही है। हम मदिर जाएं और अवश्य जाएं। लेकिन उस स्थानकी पवित्रता और महत्ताको भी ध्यानमे ले, उसकी पवित्रता और महत्ता वीतरागदेवकी स्थापनानिक्षेपसे स्थापित मूर्तिके कारण है और उस मूर्तिकी भी महत्ता वीतराग अवस्थाको प्राप्त परमात्मासे है और उनकी भी महत्ता हमारे लाभके लिये हमारी निर्मल आत्मासे है और हमारा प्रयोजन भी इस सबका इन सब साधनोके जुटानेका और परमात्माको हृदयमन्दिरमे लानेका का यही है कि हम अपने परमात्माको प्रगट कर सके। अनादिकालसे इसने अपने सहजभाव

को भूल परभावोमे चित्त दिया है। अब अपनेपर चित्त दे सिद्ध स्वभावको प्रगट करे। देखो अपने मनमे ही तो समता को जानी है अत. अपने मनरूपी मणिके पात्रमे भरे हुए समरस की एक प्रधान सुधारसकी धाराके द्वारा सहजसिद्ध निज चैतन्यभाव तथा अष्टकर्मोके नष्ट होनेपर सहज ही हुये सिद्ध जो परमेष्ठी उन्हे पूजता है, सुधारस समग्र जो है वह सर्व आत्मा है। उसकी एक धारा परिणति द्वारा पूजा की जा रही द्रव्य सदा अखड है, पर्याय खडरूप समरस सुधारसमय तो आत्मा है और उसकी धारा एक परिणति है। किनको पूजा गया ? "सकलबोधकलारमणीयकं" सर्वज्ञानकी कलाओसे सुन्दर ऐसा सहजसिद्ध सिद्ध भगवान सर्वज्ञानकी सर्वकलाओसे रमणीय है। अनन्त द्रव्य उनके अनन्त गुण और उनकी अनन्त पर्यायें सबको एक साथ सिद्ध जानते है। कितनी ज्ञानकलायें है, अनन्तानन्त। उनकर रमणीय सिद्ध प्रभु है निज चैतन्य भी उन समस्त कलाओकी शक्तिसे रमणीय है। क्योकि यही आत्मा कर्मक्षयसिद्ध हो जाता है। ऐसे प्रभुको पूजना हू। परिपूजये इस शब्दमे २ विशेषतायें है एक तो परि उपसर्ग लगा और दूसरे आत्मनेपदमे क्रिया का प्रयोग किया। सो आत्मनेपदमे अत्यन्त आत्मीय लाभका प्रयोजन है और परि शब्दसे याने भले प्रकार चारो ओरसे आत्मप्रदेशोमे पूर्णतया अभेदभावसे यह अर्थ हुआ। अब सुगन्धका पद्य पढते है।

सहजकर्मकलकविनाशनैरमलभावसुवासितचन्दनै ।
अनुपमानगुणावलिनायकं, सहजसिद्धमह परिपूजये ॥

सहजसिद्धको अभ्यर्चनामें परमार्थतः ज्ञानभगवानकी उपासना--हे सहजसिद्ध प्रभो! मैं तुम्हे पूजता हू। परिपूजये शब्द महत्त्वका है। परि—समन्तात् मन, वचन कायको एकाग्र कर समग्र–एकीभावसे पूजये पूजता हू। सर्व सिद्ध भगवान जो स्वयसिद्ध हो गये, जो ध्रुव स्वभावको प्राप्त हो गये, ऐसे परमात्माको तथा अपने ही सर्वप्रदेशोमे स्वभाव सिद्ध परमात्माको पूजता हू। मैं अपनेको ही अपने आपमे जो अनादि अनत अहेतुक है, शुद्ध अशुद्ध पर्यायोसे रहित है, चित्स्वभावमय है ऐसे सिद्ध परमात्माको पूजता हू, जो स्वरूप से एक है सहजसिद्ध है, चित्स्वभावरूप परिणमन करने वाला है। काहेसे पूजता है ? चन्दन से। अमल-निर्मल भावोसे सुवासित सुगधित या निर्मल भावोमे ही जिसका निवास है ऐसे चन्दनसे। आप ही पूजकपूज्य और पूजा योग्य द्रव्य जब बन जावे तब यह सिद्ध पूजा होती है। जैसे कि योगियोका भोजन होता है, स्वय बनाते हैं, अपनेमे ही बनाते है और स्वय ही खाते है ऐसा उनका स्वाधीन भोजन होता है। और जो पराश्रयसे होता है वह तो पराधीन भोजन है, उसी तरह स्वाधीन पूजन तो स्वाश्रयसे होती है। और पूजा किसकी होती ? स्वयकी उक्त प्रकारके चदनसे, परन्तु भगवानको पूजते हो सो नही, अपने भगवान को ही पूजते है, आश्रय तो कर्ममुक्त भगवानको बनाते है लेकिन उनका जो विकल्प–भाव

बनाया, ज्ञान भगवानको हृदयमे लाये वस्तुत उसीकी पूजा होती है। हर एक पदार्थमे शब्द अर्थ और ज्ञानकी विशेषतासे ३ भेद हो जाते है। उसी तरह यहाँ भी ३ तरहके भगवानमे ज्ञान भगवानकी पूजा होनेका भाव लेना और आश्रय कर्ममुक्तसिद्ध अर्थ भगवानको बनाना। वास्तवमे अर्थ भगवानकी कल्पनासे भी आगे बढकर भक्त ज्ञानभगवानकी पूजा करता है, पूजनेमे यही आता। किस किस उच्च रूपमे आया, यह अपनी अपनी योग्यता ज्ञानकी निर्मलतापर निर्भर है।

सहजसिद्धका सहज सन्निधिकरण—देखो भैया! अत्र अवतर अवतर कहते है तो क्या सिद्धशिलासे भगवान उतर कर यहाँ आते है? अथवा डूबे है सो उतरने को कहते? नही यह हमारा ही आत्मा विकारोमे डूबा हुआ है, उससे निकलनेको अथवा अपनी वृत्ति जो बाहिर है सो बाह्यसे हटाकर अपनेको अपने पास अपने आपमे लानेकी भावना की जाती है। और तिष्ठ तिष्ठका भी ऐसा ही मतलब लेना कि जो आत्मा परभावोमे बैठा है उसे वहाँ से हटाकर निज उपयोगमे ही बैठना है। सन्निधिकरणका भी यही भाव है कि हमें अपने भगवानका साथ न छूटे। अनन्तकालसे जो ससारमे घूम रहा है और परभावोसे परपदार्थोसे साथ बना रखा है वह साथ छूट कर स्वका ही साथ रहे, स्वसमयरूप वृत्ति रहे किन्तु यह सब बात भगवानको बुलाने बैठानेके भावसे शीघ्र होती है। श्रावकके तो जगतमे पैदा होने वाले और बाजारोमे बिकने वाले चन्दनसे ऐसे भगवानकी पूजा नही होती, वह तो होती है निर्मल भावापन्न शीतल आत्मद्रव्यसे। इसी चन्दनकी पूजासे भगवान प्रसन्न होते है। कौन भगवान? निज चैतन्य भगवान। कर्मसिद्ध भगवान तो प्रसन्न—निर्मल हमेशा के लिये है ही, लेकिन हमारे भगवानकी वर्तमान प्रसन्नता हो तो भविष्यमे भी उस प्रसन्नता का उदय रह सकता है। निर्मल परिणामोके द्वारा तो निजका ही भगवान खुश होता है। अपनी ही गलतीसे रागी, द्वेषी, मोही बन रहे है, कितनी बुरी दशा कर रहे है अपने भगवानकी? उसपर दृष्टिपात कर अपने ही भगवानको प्रसन्न करना चाहिये। दूसरा कोई भगवान प्रसन्न नही होता। अन्य परमात्मा तो अपने लिये सभी प्रसन्न है। व्यवहारमे यह देखा जाता है कि किसीकी प्रशंसा कर दो तो भूखा रहकर ही काममे लगा रहता है अनुकूल रहनेसे। तो जब यह आत्मा अपने ही अनुकूल चलेगा तो यह जरूर प्रसन्न होगा। इसके लिये परिणामोको निर्मल रखना है जो कि चिन्मात्रके ध्यानसे होता है।

अन्तस्तत्त्वकी भावनामें स्वदया—बार बार इस एकत्वविभक्त ज्ञायक स्वरूपको भाया जावे कि—यह एक आत्मा जो नाना परिणतियोमे रहकर भी एक रहता है, जो नित्य है अर्थात् अनादि अनत और अहेतुक है, जबकि इसकी परिणतियाँ अनित्य—आदि शात और अहेतुक हैं, वह निमित्तत्त्व और कर्तृत्वसे रहित है जब कि परिणतिया निमित्त और कर्तृत्व

से सहित हैं इस तरह इन दोनो तत्त्वोमे विपरीतता है, इस प्रकार परिणतियोसे परिणतिवान को भिन्न अनुभव कर—चिन्मात्रका ध्यान किया जा सकता है। जो एकपर दृष्टि नही देता परिणतियो पर ध्यान देता है वह जीव रुलता ही रहता है। इस पूजामे उसीपर ध्यान दिखाया है जिससे हमारा रुलना छूट जाय। अभी तक अन्धेरेकी (अज्ञानकी) बाते कर रोते रहे। कोल्हूके बैलके समान हमारी स्थिति बनी रही। वही ससारका ससार बना रहा। जो एक है जिसकी अनेक हालतें होती रहती हैं उस एक आत्मापर दृष्टि नही की। अब इसपर ध्यान आना चाहिये। अपनेपर दया आना चाहिये। उसपर कभी दया की? आकुलताका भेद जहाँ ठोकर लगाता है उस एकको कभी देखनेका प्रयत्न किया क्या? उत्तर मिलता है कि यह नही कर पाया। देखो—स्वभावावलम्बनसे जो सर्वविकल्पोसे दूर हो लेता है वह इस चिदानन्द परमात्माकी पूजा निर्मल भावसे सुवासित चन्दनसे करता है। वह चन्दन कैसा है? सहजकर्मकलक विनाशक है—सहज जो कर्मकलक उसका विनाशक है। वे कर्म सहज हैं—अनादिसे, जबसे कि यह आत्मा है तबसे ये है, जबसे आपकी सत्ता है तबसे ये कर्म भी हैं, ऐसे कर्मोंका जो कलक है द्रव्य कर्म और भाव कर्मकी परम्परा है उसको नष्ट कर देने वाला निर्मल भाव है।

बहिस्तत्त्वकी प्रीतिमें संकटसंतान लाभ—यह आत्मा जिस किसी भी पर्यायमे जाता है वहा अहकार-ममकार करने लगता है, मोहमे पड जाता है स्वभावत यह विचारवान नही है। स्थूलरूपमे जैसे हम कह सकते कि मनुष्यका जब बचपन होता है तब वह कामी और तृष्णालु आदि नही होता और ज्यो ज्यो बडा होता है त्यो त्यो उसमे विकार बढते हुए नजर आते हैं तो फिर परतन्त्र भी उतना ही ज्यादा ज्यादा होता जाता। हम जितनी मोह मायामे फसते जावेगे उतने ही परतन्त्र होते जावेगे। वैसे स्वभावत हम परतन्त्र नही हैं। कई लोग कहने लगते कि कच्ची गृहस्थी है अभी इसे छोड आत्मकल्याणमे लगना नही बनता सो यह बात ठीक नही है। उनका मोहभाव ही उनके कल्याणमे बाधक है। कच्ची गृहस्थी बाधक नही है। बुदेलखडका प्रतापी राजा छत्रसाल जन्मसे ही जगलके बीच झाडो मे फेक दिया गया था। वहा ७ दिन तक पडा रहा और ऊपरके पेडमे जो मधुमक्खियोका छत्ता था उसमेसे भी बूंद बूंद टपककर सीधे मुंहमे पडने वाली शहदके बल जीवित रहा। पीछे उनके माता पिता जब सकट टलनेपर पीछे आये और बच्चेको सही सलामत देखा तो अति प्रसन्न और आश्चर्यान्वित हुए कि सचमुच यह अपने भाग्यसे जी रहा है। यही बात हरएकके लिये है। कोई किसीको जीवित या दुखी सुखी नही करता। मोहसे सब अपनी अपनी कषायको पुष्ट करते है। कौन किसपर दया कर सकता? सब अपने अपने परिणमनसे परिणम रहे हैं। मोही जीव झूठे ही कर्तृत्व बुद्धिसे परपदार्थोंको बनाने

बिगाडनेका सकल्प विकल्प किया करता है।

निज सहजतत्त्वकी रुचिमें सहज आनंदका सहज विकास— निज भगवानको जो पूजने वाला है वह है कषायरहित परिणाम, जिससे अनादिके लगे कर्म नष्ट हो जाते है उसे मैं सम्यक् प्रकारसे पूजता हू। अरहंत और सिद्ध भगवान आप ही तो बनेगे। अभीसे वह बनने का प्रोगाम बनाओ तभी आगे उस रूप बन सकेगे। उस चितस्वरूपमे प्रवेश कर आनन्दका स्वाद तो यह गृहस्थीका आनेन्द क्या है? केवल दु ख है जिसे भ्रमसे आनन्द मान लेता है और साधुओके बाहिरसे परिग्रहहीन भूख प्यासको सहने वाले मोही जीवोंकी नजरमे दु खी मालूम पडते, लेकिन उनके अपूर्व आनन्दका स्वाद वह बिचारा क्या जाने ? उस जातिका आनन्द कभी लिया ही नही तो उसे ध्यानसे कैसे ला सके, उसका महत्त्व कैसे समझ सके ? मोही जीव जिस तरह धनी मानी बननेकी चाह करते है वैसे अच्छेसे अच्छा ज्ञानी बननेकी नही करते। जो ज्ञानकी रुचि करने लग जाते हैं उनका मोह मन्द पडता जाता है और चिदानन्द प्रगट होने लगता है।

अनुपमगुणमयप्रभुका अलौकिक भावसे परिपूजन--अनुपमानगुणावलिनायकं--जिनकी उपमा नही ऐसे गुणोसे विशिष्ट सच्चिदानन्द भगवानको छुपी हुई जगहसे (स्वभावसे बैठे हुए) उठाकर शुद्धपर्यायरूपमे ले जाने वाले भगवानको या अव्यक्त अपने भगवानको सम्यक् प्रकारसे पूजता हू। आत्मा ज्ञानानिन्दमय है। अपने स्वरूपकी दृष्टि लगाने पर जो आनन्द आता है सो वैसा क्या बाहिरसे मिल सकता है ? नही। उस आत्मिक आनन्दसे ही निर्जरा होती और मोक्ष भी उसी आनन्दका अनुभव करनेसे होता है। वह आनन्द आत्मिक स्वभाविक है, विपदाओसे छूटनेके लिए इसे ही हासिल करना पडेगा और यह पुण्य और पाप, संपत्ति और विपत्तिमें जो अच्छा बुरा मानता हानि और लाभ विचारता वह ख्याल अच्छा नही है उदारताके विचार नही है वे। संपत्ति विपत्ति तो समान ही है। नाग नाथ करो या साप नाथ एक ही मतलब है। पुण्य और पाप दोनो कर्मके ही भेद है। इनके विकल्पोको छोड अपनेको देखो। एक ब्राह्मणीके कई लडके थे। एक दिन एक दाता ब्रह्मभोज के लिये एक लडके का निमंत्रण करने आये। उन्होने सोचा सबसे छोटे लडकेका निमंत्रण करो यह कम खाएगा, सो ब्राह्मणीसे बोला कि आज छोटे लडकेका निमत्रण मेरे यहाँ है। तब ब्राह्मणी कहती है कि छोटे का करो या बडे का यहाँ तो सब सवासेरी है अर्थात् सवा-सेर खाते हैं। तो भाई पुण्य और पाप दोनो संसारके ही कारण है, मोक्षके नही और पुण्य से मिले वैभवमे लुभा जावे और विषयकषायोमे उतर जाय तो वह नरकका भी कारण हो सकता है और पापके उदयमे तो दु खी अपनेको मानता ही है।

अलौकिक उपायसे अलौकिक तत्त्वकी अलौकिक उपासना—सुख शाति मिलनेका

तो उपाय है चित्स्वभावकी दृष्टि करना, सो उस स्वभावका कोई सम्प्रदाय नही है, उसकी चैतन्य जातिके सिवा कोई जाति नही है, वह न मनुष्य है और न स्त्री। तो मैं शुद्ध चैतन्य पुञ्ज हू इसमे उपयोगको लगा और ये भावनायें ही उत्थान करने वाली है। ऐसे भावनाओ मे पुण्य तो होगा ही और ऊचे दरजेका होगा, लेकिन उसके लालचसे यदि कार्य करो तो पाप ही अधिक बधेगा और पुण्य होगा तो साधारण, वह भी परम्परा ससारका कारण। किन्तु चैतन्य स्वभावकी दृष्टि होने पर जो पुण्य बधता है वह परम्परया मोक्षका भी कारण होता है। ऐसा सातिशय पुण्य मागनेसे ना मिलेगा। मागनेसे वह नही मिलता। मागनेसे कदाचित् शुभभावोके द्वारा पुण्य सामग्री मिलेगी तो वह विपदाका ही कारण होगा, आकुलता और क्लेश ही पैदा होगा और विना मागे जो पुण्य बधेगा उससे आकुलता बन्धी नही, विपदा नही। तो दृष्टि ध्रुव स्वभावकी रखना चाहिये। उपमारहित गुणोसे परिपूर्णकी पूजासे स्वयको वैसा प्रगटरूपमे बनानेका लक्ष्य रहना चाहिये। अप्रगटमे स्वभावमे तो वे अनुपम गुण मौजूद ही है लेकिन उनको प्रगट करनेका लक्ष्य भी पूजकका होना चाहिये और वे शक्ति रूपसे स्वभावसे सत्तामे है, यह विश्वास होना चाहिये। विना इस विश्वास के परमात्मापर विश्वास नही आ सकता, क्योकि जो अपनी शक्तियोसे अपरिचित हो वह परमात्मासे अपरिचित नही हो सकता। साराश यह है कि ये कर्मकलक सहज हैं अर्थात् अनादिसे लगे है, सो कोई जबरदस्तीसे नही लगे। अत सहज है ऐसे कर्मको नाश करने वाले अथवा कर्मकलकको सहज ही नाश करने वाले निर्मल भाव रूप चन्दनोके द्वारा अनुपम गुणावलिके नायक स्वामी सहज सिद्धको परिपूजता हूँ। इस छन्दसे कर्मका लगना, कर्मका झडना व उपाय सकेतित है। सहजसिद्ध निज चैतन्य प्रभु भी अनुपम गुण समूहका नायक है और कर्मक्षय जात सिद्ध प्रभु तो प्रगट विशुद्ध गुण पर्यायोमे उपस्थित है। मन, वचन, कायकी परिस्थितियोको अस्थिर पौद्गलिक मानकर अपनेसे भिन्न मानकर निज स्वभावको जानने वाला पूजक पूजामे मग्न है। पूजामे अपने आपको व्यक्त कर रहा है। वह आगे कहता है—

सहजभावसुनिर्मलतंदुलैः सकलदोषविशालविशोधनैः।
अनुपरोधसुबोधनिधानकं सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

परमार्थसहजसिद्ध अन्तस्तत्त्वकी उपासनामें सहजसिद्धताका अभ्युदय—जो किसी निमित्त या आलबनके बिना रहता है वह सहज भाव है। पर्यायगत सहजभाव तो सिद्धोके हैं और द्रव्यगत सहजभाव सब आत्माओमे है, जो वर्तमानमे हमारे इस प्रकार है कि स्वय का आलबन लेकर अनुरूप विशेष प्रगट कर सकते हैं निश्चयसे हम अन्तस्थ सहज सिद्ध भगवानके अवलबनसे अपने सहजभावकी व्यक्ति करेंगे। किन्तु निमित्तरूपमे तो सिद्ध भग

वानके सहजभावको आलंबन बनाते ही है। देखो यहाँ इन भव्य पुरुषोंके संवर तत्त्व और आस्रव तत्त्व एक ही साथ चल रहे है। निमित्तके आश्रयसे आस्रव तत्त्व, और स्वभावके आश्रयसे सवर तत्त्व हो रहा है। सहजभावकी दृष्टिमे संवर होता और पराश्रयकी दृष्टिमे आस्रव होता है। सो यहाँ जो सहजभाव है वह मूर्ति या गुरु आदिके अवलबनसे लेने वाला सहजभाव नही है, किन्तु आत्माश्रित भावोसे होने वाला सहजभाव है। तो ऐसे सहजभाव रूपी अत्यन्त निर्मल भावोसे मैं पूजा करता हू। भक्त सोचता है कि हे भगवन ! मैं आपको काहेसे पूजूं ? आप तो अपनी ही चीजसे पूजे जा सकते है। आपकी पूजाका साधन आप ही बन सकते हो। स्वाश्रितभाव सहज होते है पराश्रित भाव नही। क्योकि पराश्रितभाव निमित्तकी दृष्टिमे होता है, सो हे भगवन् ! अब मेरे निमित्तकी दृष्टि हटकर उपादानकी ओर गई है और सहजभाव जागृत हुआ है इससे ही आपके दर्शन कर सका हू, इसकी दृष्टि रही आवे।

विपरीत आग्रहके अभावमें सम्यक् कार्यकी निष्पत्ति—परपदार्थ जो आत्मसत्तासे अत्यन्त जुदे है उससे कुछ आशा करना सबसे बडी भूल है। दुख किस बातका है ? इसका कि हमसे जो न्यारे है उनकी वाछा करते है, जो अपने नही हो सकते उनकी वाछा न करें तो सुख ही सुख है। सुनते है कि सहारनपुरमे एक जैन रईसके घर हाथी था। पडौसमे मे दूसरेका जो घर था उस घर वालेका बच्चा एक दिन रूठ गया कि हमको हाथी खरीद दो, उसने लालाजी से कह सुनकर हाथी अपने दरवाजेपर बधवा दिया और बच्चेसे कहा कि लो खरीद दिया हाथी। इसपर उसने हठ किया कि उसे हमारी जो खेलनेकी लुटिया है उसमे बाँध दो, तो बतलाइये ऐसे हठका भी कोई उपाय है ? जो सम्भव नही, हमारे अधिकारकी बात नही उसके लिये हम क्या कर सकते है ? कुछ नही—सारे द्रव्य अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे परिणमते रहते है, सब द्रव्य ऐसे ही है। किसीका किसीपर भी वश नही। प्रत्येक आत्मा अपने आपसे परिणमते है लेकिन हम चाहते कि ऐसा परिणमे हमारे अनुकूल परिणमे, सो ऐसी वाछा दुखदाई है भूल भरी है, इस गलतीपर विचार करके ऐसे अभिप्रायको निर्मूल ही कर देना चाहिये। जिसे अपनी गलतीका पता नही वह अपने मार्गको कैसे पा सकेगा ? दूसरे पदार्थोको अपना माना यह भारी गल्ती रही। पूजकको जब बोध होता है, तो उस सहज भावके प्रति अत्यन्त आदरका भाव रखता हुआ अपनी भावना व्यक्त करता है कि—अनुपरोध सुबोधिनिधानकं—जिसका कोई उपरोध नही कर सकता ऐसे ज्ञानके निधानको मैं पूजता हू, सहजसिद्ध निज भगवान भी अनुपरोध सुबोध निधान हैं, अनादि अनन्तज्ञान सामान्यके स्वरूपको कोई भी प्रतिरुद्ध नही कर सकता। श्री सिद्ध देव तो प्रत्यक्ष प्रकट सम्पूर्णपने उपरोध रहित केवलज्ञानके निधानक है। सिद्ध प्रभु

कर्मक्षयके अनंतर ही सहज सिद्ध हुए है। उन्हे भक्ति भावसे पूजता हू।

अनुपरोधसुबोधनिधान सहजसिद्धकी उपासना—वर्तमानमे तो हमारे जो ज्ञान प्रकट है वह अनुपरोध है। निगोद अवस्थामे भी अक्षरके अनतवें भाग ज्ञान जो रहता है उसका उपरोध करने वाला कोई नही है। चैतन्यदेवकी अनुपरोध्यता आश्चर्यकारी अपूर्व है। केवलज्ञान तीन प्रकार है—१ शब्द केवलज्ञान, २ अर्थ केवलज्ञान और ३ ज्ञान केवलज्ञान। सम्यक्त्वकी आराधनामे जब तक आराधक सर्वज्ञ नही हो जाता तब तक उसके ज्ञान—केवलज्ञान रहता है। और जब कर्ममुक्त हो जाता तब अर्थ केवलज्ञान होता, तो ऐसा जो अर्थ केवलज्ञान, वह अनुपरोध है, अथवा केवलज्ञान नामपर्यायिसे अतीत जो शुद्ध ज्ञान सामान्य है उसके जो निधान दोष है उसकी मैं पूजा करता हू। आत्मपक्षमे ज्ञानके बलवान जो कि सम्यक्त्वसे परिपूर्ण है उसका आत्मा निधान है। आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञानको छोड आत्मा कोई चीज नही, और आत्माको छोड ज्ञान कोई चीज नही, ऐसे ज्ञानमय निजात्माकी मैं ज्ञानभावसे पूजा करता हू। प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है, चाहे कोई तुच्छ संसारी प्राणी भी हो। बाह्य कर्म जिसके उदयमे ज्ञानविकास आवृत हो गया कारण उपचारसे है, तो भी वे ज्ञानको पूर्णतया उपधान आवरण नही कर सके। निगोदियामे भी नित्योद्घाटित ज्ञान रहता ही है। केवलज्ञानका अनन्तवा भाग जो अक्षरज्ञान है वह निगोदियोमे भी रहता है। यदि कहा जाय कि केवलज्ञान पर्याय अलग और मतिज्ञान श्रुतज्ञान पर्याय अलग ? उस पर्यायरूप केवलज्ञानका अंश मति श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर यह कि उस ज्ञान सामान्यको लक्ष्यमे लेना चाहिये जिसकी पर्याय केवलज्ञान है और श्रुतज्ञान भी है। व्यवहारमे उस सर्वोच्च सामान्यज्ञानके परिणमनको केवलके रूपमे ही कहा जाता है, अत कोई विरोध नही है। तथा जो पहिले अनुपरद्ध ज्ञानभाव था वही केवलज्ञानमे सामान्यज्ञान है। ऐसे सम्यग्ज्ञानके निधानभूत भगवान मैं आपकी पूजा करता हू। आपको जाने बिना कितनी विपदाए सही, कितना भ्रमण किया ? परभावोमे कितना भटकता रहा ? अब वह समय आया कि इस भूलको समझ गया।

पराश्रित विकल्पोंकी अश्रेयस्वरता—किसी चुगलखोरने आपसे यह कह दिया हो कि अमुक व्यक्ति आपके सम्बन्धमे ऐसा कहता था, उससे आपके मनमे क्षोभ हो गया दु ख हो गया, इसमे वह निन्दक आपको क्षोभमे निमित्त पडा। तो जब अपने विकल्पमे कोई बात आती तभी दु ख होता है। एक धनी व्यक्तिके घर अशर्फियोंका हडा गडा है और एक गरीब के यहाँ कई मन पत्थर जमा है। यदि वे ऐसा विचारें कि हमारे यहाँ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाला पुद्गल पडा है और इनके यहाँ भी, तो दोनोमे कोई अन्तर नही है। इस तथ्यके विचारमे दोनो समान है, किन्तु एक अपनेको लखपति समझता और दूसरा अपनेको गरीब

मानता है। यह पराश्रित विकल्प ही पाप है। जितने भी पराश्रित भाव हैं उन सबने हमारे परमात्माका तिरस्कार किया है। भक्त अपनी भावना व्यक्त करता है कि हे भगवन् ! अब प्रगट होओ, बहुत दिनो तक भटका दूसरोके संगमे। मै दूसरे पदार्थोको नाथ मानता रहा किंतु यह न जाना कि मैं स्वय नाथ हू। अपने अपने जीवनमे देख लो। कल जो था आज वह न रहा, आज जो है कल वही स्वप्न हो जायगा। तो ऐसे पदार्थोंमे आदर रखना हितकर कैसे हो सकता है ?

स्वयंकी पारमार्थिक महत्ताकी श्रद्धामें महान कार्यका उद्भावन—एक दम्पतिमे पति दुराचारी था। एक दिन पत्नीने कहा—एक बटरिया देकर कि लो आप इसकी रोज पूजा किया करो व सिर्फ २४ घन्टेको पाप छोड दिया करो। उसे पत्नी की सीख लग गई और उसने प्रतिज्ञा की कि प्रतिदिन पूजा करनेके बाद ही भोजन करूंगा तथा यह भी प्रतिज्ञा ली कि पूजा कर चुकनेपर २४ घन्टेके लिये पाप छोड दिया करूंगा। इन नियमोको वह दृढतापूर्वक चलाने लगा। एक दिन क्या हुआ कि जिस पत्थरको वह देवता मानकर पूजता था उसपर चूहा फिर रहा था। उसने विचार किया कि पत्थरके देवतासे तो चूहा देवता बडा है। तब उसने चूहेको पूजना प्रारम्भ किया। जहाँ कही वह दिखता उसे अर्घ और फूल चढा पूजनका नियम पूरा करता। एक दिन चूहेपर बिल्लीको झपटते हुये देखा तो चूहेसे बडा बिल्लीको मानने लगा और उसकी पूजा करनी शुरू कर दी। बिल्लीपर भी एक दिन कुत्ता झपटा और यह देख उसने बिल्लीसे बडा कुत्तेको समझकर उसको पूजने लगा। एक दिन कुत्तेने घरमे कुछ नुकसान कर दिया जिससे उसकी स्त्रीने उसे २-३ डन्डे जमाये। यह देख उसने कुत्तेसे बडा अपनी स्त्रीको ही समझा और उसे पूजना शुरू किया। किसी समय पति और पत्नीमे चखचख हुई और गुस्सेमे आ उसने स्त्रीको दो चार चाटे लगा दिये। तब उसे ख्याल आया कि स्त्रीसे बडा तो मैं स्वय हू और उस दिनसे अपनी पूजा करने लगा। उसे अपने बडप्पनका ख्याल आनेसे अपने कर्तव्योको पूरी तरह पालने लगा। तो अपने आपको जो समझता है वही निराकुल हो सकता है। आपको अपने आपसे ही काम पडेगा। अपनेसे ही शाति आयेगी। जो दूसरोको अनुकूल बनानेकी चेष्टा करता है वह कभी सुखी नही रह सकता। तो ऐसे सर्वविकल्पोसे रहित स्वाश्रित भावोसे प्रगट सिद्ध भगवानकी वा स्वभावसिद्ध निज भगवानकी मैं पूजा करता हू।

समयसारसुपुष्पसुमालया सहजकर्मकरेण विशोधया।
परमयोगबलेन वशीकृत सहजसिद्धमह परिपूजये ॥

समयसारपुष्पमालासे सहसिद्धका परिपूजन—मैं समयसारके उत्तम पुष्पोकी मालासे सहज-सिद्ध भगवानकी पूजा करता हू। यहाँ पूज्य भगवान भी समयसार और पूजक भी

समयसार और पूजाके योग्य द्रव्य (पुष्प) भी समयसार है। समय नाम आत्माका है उसमे सार क्या है ? शक्तियाँ, गुण ध्रुवतत्त्व। ये ही हुए पुष्प इन्ही शक्तियोका पुज पिण्ड किसी एकरूप न रहने वाला ऐसा जो द्रव्य वह कहलायी समयसाररूपी पुष्पमाला यहाँ जो शक्तियो के पिण्डात्मक सत्यस्वरूपको देखा गया वह पुष्पमाला समयसार हुई। इस तरह पूजाकी सामग्री भी समयसार है और पूजक और पूज्य तो समयसार है क्योकि अनादिसे अनन्तकाल रहने वाला जो चिन्मात्र है वही समयसार है। पूजकरूप भी है और पूज्य भी है। ऐसी जहाँ एकतानता होती है वहाँ आत्मीयता होती है अथवा जहाँ आत्मीयता होती है वहाँ एक-रूपता होती ही है। व्यवहारमे भी अपन तुपन कहकर आत्मीयता प्रगट करते और ऐसा भी कहते हैं कि हम और आप जुदे थोडे ही हैं, एक ही है, घनिष्ट मित्रतासे ऐसा कहते हैं। एक बन जाना प्रेमकी सर्वोच्च श्रेणी है तो जहाँ पूजक और पूज्य एक बन रहे है वह भक्ति का अलौकिकरूप है। भेदभावसे जो भक्ति होती है वह अलौकिक नही होती। भाव्यभावक भाव और षट्कारक जहाँ एक हो जाते हैं वह है भगवानकी अलौकिक भक्ति। ऐसे समय-सार फूलमालासे भगवानकी पूजा करता हू। वह पुष्पमाला कहाँसे लाई जायगी ? अपने आपमेसे जो बसी हुई सहज क्रियाये हैं वही हुए कर, उनके द्वारा शुद्ध की गई हैं समयसार अनादिसिद्ध वस्तु है। वह किसीसे उत्पन्न नही होती, वह तो यहाँ सहजवृत्तिरूप अनेक कर किरणो—ज्योतियो द्वारा विशुद्ध की गई है—शोधी गई है। ऐसे आपका जो देवता है वहीसे इस पूजा सामग्रीका उद्गम है। बाहिरी दिखावटी चीजोकी तो यहाँ बात ही नही है। भगवानकी सहज प्रसन्नताके लिये वे दिखावटी सामान समय नही हैं। सहज परिणतिमय भगवानकी पूजाके लिये पूज्य और पूजाकी सामग्री भी वैसी ही चाहिये।

परमयोगबलवशीकृत सहजसिद्धका परिपूजन—जिन सहजसिद्धको यहाँ पूजा जा रहा है वे देव कैसे हैं ? 'परमयोगबलेन वशीकृत'—परमयोगके बलसे जो वशीकृत है वे भगवान किसके वशमे होते है ? किसीके भी नही, क्योकि वे तो भगवान ही है। किंतु पुद्गलका एक अणु भी किसीके वशमे नही होता। सब परमाणु व सब द्रव्य स्वतन्त्र हैं। जीवको उपचारसे ससारी अवस्थाओमे कर्मके वश कहा जाता है, लेकिन निश्चयसे कर्मवर्ग-णाओका और आत्मप्रदेशोका चतुष्टय अपना अपना पूर्ण स्वतन्त्र है और फिर कर्मयुक्त सिद्ध भगवान तो उस औपाचारिक परतन्त्रतासे भी रहित है। वे भगवान तो उस औपचा-रिक परतंत्रतासे भी रहित है। तो वे भगवान हमारी दृष्टिमे बने रहें। यही हमारे वशमे होनेका मतलब है और भगवानको अपनी दृष्टिमे करनेका मतलब है। परमयोगरूप अद्वैत दृष्टि व स्थिति क्योकि परमयोगमे द्वैतदृष्टि नही रहा करती। तो अद्वैत परम समाधिरूप हमारे उपयोगमे जो बैठे, अनुभवमे आवे उसकी मैं पूजा करता हू। मेरा कुटुम्ब नगर और

स्थान मैं ही हूँ। यह नगर कितना सुन्दर है ? विवेक ज्ञान आदि जहाँ अनेक मन्त्री है, संयमादिक रक्षपाल है जो कि अपनी शक्तियोंको लुटाने नही देते। ज्ञानकी पर्यायें यही प्रजा-जन है। ऐसे मुझ राजाकी नगरी मुझसे बाहिर नही है। मेरी कोई भी चीज मुझसे बाहिर नही है। ऐसी शुद्ध परिणतिसे मैं भगवानकी पूजा करता हू।

उपास्य समयसार—समयसार वस्तु क्या है ? इसके उत्तरमे श्रीयुत कुंद कुद आचार्य कहते है कि– णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो। एवं भणंति सुद्धं णाओ, जो सोउ सो चेव ॥

यह आत्मा यह चेतन जो कि न प्रमत्त है और न अप्रमत्त, जो सर्वपर्यायोमे रहता हुआ भी किसी भी पर्यायरूप नही रहता, जो बध मोक्षकी कल्पनासे रहित है ऐसी चैतन्य शक्तिसे मुक्त जो शुद्धात्मा है नवतत्त्वोमे रहता हुआ भी विशेषसे, कल्पनाओसे रहित है ऐसा भाव समयसार है। जो एक ब्रह्म सारी अवस्थाओमे चला जाता है लेकिन किसी एक रूप नही रहता, ऐसा स्वभाववान आत्मा समयसार है। जैसे अग्निका (शुद्ध) स्वरूप क्या है ? लकडी की कण्डाकी या उस किसी आकारमे उस लाल पीले रंगकी जो दीखती है क्या वह अग्निका स्वरूप है ? नही। उसका शुद्ध रूप तो परकी उपाधिसे रहित होना चाहिये तो ऐसी विशुद्ध अग्नि लकडी कोयला आदिका अमुक आकार और लाल पीला आदि रगसे रहित उष्णता मुक्त जो है वह है। उसी तरह अमुकका ज्ञाता अमुकका ज्ञाता इस प्रकार आत्मा ज्ञाता हो ? सो नही, इन पर्यायोके भेदसे जो रहित है मूल सत् रूप है वह आत्मा ज्ञाता है, तत्त्व या रहस्य यही है। विभिन्न दार्शनिकोके जैसा समझमे आया वैसा उसका वर्णन कर दिया। जिसके सम्बन्धमे वर्णन किया ऐसे समयसारकी मैं पूजा करता हू।

बाह्यसे बाह्यकी उपासनामें सारका अभाव—बाह्यसे बाह्यकी पूजा ही क्या ? वह पूजा तो अन्त तत्त्वकी अन्त करणकी निर्मलतासे ही होती है। ऐसे समयसाररूपी फूलोकी मालासे सहजसिद्धकी दृष्टिसे सहजसिद्धको पूजता हूँ। सामान्यसे आये सहजसिद्धभावके द्वारा उसीकी उसीमे वही मैं पूजा करता हू। उस एकका ही अनेक रूपसे विस्तार है। ढोग तो दूर रहा, किन्तु अन्तरङ्ग परिणामोसे भी व्रत सयम आदि जो वृत्तियाँ चलती हैं उससे भी सिद्ध पूजा नही। धर्म तो छुपा हुआ है, दुनियाको देखनेमे धर्म नही आता जिसको देखकर लोग कहते है कि यह बडा धर्मात्मा है सो यह बात ठीक नही है। क्योकि वह तो दिखनेमे आता ही नही। तब जो देखा गया वह धर्म नही हुआ, जो मनकी शुभ कल्पनायें वचनकी शुभप्रवृत्तियाँ और ईर्यापथ आदि शारीरिक क्रियाए हैं वे सब धर्म नही हैं। धर्म तो मोह क्षोभ रहित भाव ही है। धर्म मन वचन कायकी वृत्तियोसे पैदा नही होता। वह तो सहज सिद्ध रूप है। तभी वह दीखता नही बाहिरसे। जो अनुमान करते हैं वह झूठा भी पड़ जाता

है। आखिर अन्दाज तो अन्दाज ही है और ऊपरसे धर्मकी परीक्षा करनेपर खतरा भी हो सकता है। वह भेष आदि बनानेसे भी नही होता। मैं त्यागी हू, ब्रह्मचारी हू, क्षुल्लक हू आदि विश्वास होना मिथ्यातत्त्व है क्योकि आत्माका यह अन्यथा श्रद्धान है। बाह्य जड शरीर आदि के सयोगकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ ख्याल है। आत्मा न त्यागी है, न वेपधारी ब्रह्मचारी और न क्षुल्लक आदि है। वह तो चैतन्य मात्र अमूर्तिक जैसा ज्ञानी आत्माके अनुभवमे आता वैसा है। बाह्य रूपसे जो धर्म और धर्मात्माका व्यवहार किया जाता है वह तो व्यवहारके लिये ही है।

पर्यायवुद्धतासे निवृत्त होकर स्वभाववुद्धतामें निष्पन्न परमयोगबलसे सहजसिद्धकी वशीकृतता—जितनी हम तरक्की कर पाये है उतनेमे हमारा नाम त्यागी या ब्रह्मचारी आदिकी कल्पना है, किंतु उस लबी पर्याययात्रामे जो एक रहा वह मैं हू। मैं व्रती हू मुझे यो चलना चाहिये, मैं साधु हू मुझे ऐसे भाव रखना चाहिये। ऐसे भाव धर्म नही हैं। आप कहेगे कैसे ? इसलिये कि ये सब भाव आत्माके स्वभाव नही है। उसका स्वभाव ज्ञातादृष्टा है। ज्ञानी पुरुषको उस स्वभावरूप अनुभवसे च्युत होनेकी दशामे ये विकल्प आते हैं। मैं शुद्ध हू, चिन्मात्र हू, कृतकृत्य हू आदि। ऐसी प्रतीति रहते हुए भी वह प्रवृत्तिमे रहता है अथवा रहना पडता है। फिर भी अशुभमे तो वह जाना ही नही चाहता। तव उसके मन वचनकी क्रियाए अधिकतर शुभ रूप हुआ करती है। विषय और कषायोसे मन हटा हुआ रहता है। इस हटे हुये परिणामोसे उस प्रवृत्तिमे रहता हुआ भी वह सवर और निर्जरा करता रहता है। स्वभाव नही रह पाता तो बडा अधर्म न हो इस ख्यालसे वह पापसे बचता है। अथवा उसके परिणामोमे निर्मलताका मूल स्रोत आनेसे पापरूप वृत्ति स्वयमेव नही होती और स्वभावमे स्थिर होनेके बीचमे जो शुभ वृत्ति हुआ करती हैं वह स्वयमेव होती रहती है। तो समयसार रूप भगवानके वश होनेका मतलब है, मात्र उसकी दृष्टि वा स्थिति अपनेसे बाहिर न होना सो आत्मभावरूप ऐसे समयसारसे मैं पूजता हू। सर्व प्रदेशोमे आनन्दित उपयोगकी एकाग्रतापूर्वक पूजता हू।

अकृतबोधसुदिव्यनैवेद्यकैर्विहतजातिजरामरणान्तकै।
निरवधिप्रचुरात्मगुणालय, सहजसिद्धमह परिपूजये॥

अकृतबोधसुदिव्यनैवेद्य द्वारा सहजसिद्धका परिपूजन—अकृत्रिमबोध, जो ज्ञान बनावटी नही, सहजज्ञान है वही हुआ नैवेद्य, उससे मैं सहजसिद्ध भगवानको पूजता हू। वे सहज सिद्ध भगवान विकल्प रूप ज्ञानसे अथवा लाडू घेवर बाबर आदि बाह्य जड पदार्थोसे प्रसन्न नही होते। वे तो उस सहज बोधसे जो पराश्रयसे प्रगट नही होता, जो भगवानके शरीर समवशरण और दिव्यध्वनि श्रवणके विकल्पोसे रहित है उससे प्रसन्न होते हैं। जो

कर्ममुक्त सिद्ध है वे प्रसन्न अर्थात् निर्मल है ही। लेकिन यहाँ सहजसिद्ध अपने भगवानको निर्मल करनेका भाव विशेष लेना। ऐसी पूजाकी परिणतिके समय आस्रव, बन्ध और सवर, निर्जरा ये चारो तत्त्व एक साथ चलते हैं। लोकमे गंगा और यमुनाके संगम स्थानकी बड़ी मान्यता है। अरे अपना तीर्थ तो यही ही है। शुद्ध और शुभ दोनो उपयोगाशोका जहाँ संगम हो रहा है, सो ऐसा संगमरूप तीर्थ भी व्यवहारियोके लिये ही है। ज्ञानियोंके लिये तो वही तीर्थ प्रधान है जहाँसे इन उपयोगोकी धारा बहती है, इन उपयोगांशोका उद्गम होता है। वह उद्गमस्थान है एकद्रव्यरूप आत्मा। जैसे गगाके उद्गम स्थानको उसके संगम स्थानसे भी अधिक महत्वपूर्ण तीर्थ मानते है ऐसे ही उपयोगको उद्गमस्थानके उपयोग वृत्तियोसे भी अधिक लक्ष्यकी चीज मानते है। इतना अश शुद्ध और इतना अश अशुद्ध यह व्यवहार व्यवहारियोके लिये है। हमारे और आप सबके सहजज्ञानका प्रवाह चल रहा है। उसका जो स्रोत स्थान है उस अकृत अर्थात् प्राकृतिक सहज शुद्धज्ञानरूप नैवेद्यसे मैं स्वभावशुद्ध भगवानकी पूजा करता हूँ।

विहतजातिजरामरणान्तक नैवेद्यक द्वारा सहज सिद्धका परिपूजन—वह नैवेद्य कैसी विशेषतावाला है? तो कहते है कि 'विहतजातजरामरणातकैः' वह दिव्य नैवेद्य शुद्ध ज्ञान व आत्मा जन्म जरा मरण और रोग आदि दशाओसे रहित है, ऐसी विशेषता वाला है। नित्य ध्रुव अचल और अविकारी है। अथवा जिनकी दृष्टि अकृत बोध पर खचित हो जाती है, जिनकी दृष्टि शरीरपर जाती है उनका ख्याल जाता कि मैं इस रूप हूँ उस रूप हू, मेरा जन्म हुआ मरण होगा। किन्तु शरीरमे आत्मबुद्धि न हो तो इसका क्या जन्म और क्या मरण? यह तो सर्वदासे है और सर्वदा रहेगा। बुढापा आना, रोग वियोग होना सो सब शरीराश्रित पर्याय है। आत्मामे न रोग आता और न बुढापा। बाह्यसग और प्रसगोका भय भी शरीरबुद्धिसे होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मैं इन सग और प्रसगो वाला नही हू। मैं असङ्ग हू तो किसका छूटना और किसका भय? यदि बाह्य सगमका ख्याल करो तो अमुक परिवार धन आदिका संयोग तो फिर भी मिलेगा। इस शरीरके छूटनेसे कोई हानि नही है। लेकिन जिनकी दृष्टि बाह्य संयोग वियोगोपर है उनके लिये तो जन्म मरण बुढापा और रोग वियोग सभी है। जो केवल चैतन्यपर दृष्टि रखता है स्त्री पुरुष आदि पर्यायोमे नही उसको जन्म मरग और बुढापा आदि नही है। जीव अपनेको जैसा मानता है वह उसका ही कर्ता होता है और उसका वैसा ही कर्म होता है। तो यहाँ सहज बोधकी दृष्टिवाला भक्त अकृतबोध नैवेद्यके द्वारा जो कि अशुद्ध पर्यायोसे रहित है उससे पूजा कर रहा है सहजसिद्ध भगवानकी।

निरवधिप्रचुरात्मगुणालय सहजसिद्ध परमदेवका परिपूजन—वे सहज सिद्ध भगवान

कैसे है ? 'निरवधिप्रचुरात्मगुणालय' मर्यादासे बाहिर सीमासे अतीत विपुल आत्मगुणोंके भण्डार है। आत्माके वे अनन्त गुण पृथक्-पृथक् नही हैं। वे गुण आत्मारूपी घरमे बसते हो, सो नही। वे तो तन्मय होकर एकाकाररूपसे है। गुणोंसे भिन्न गुणी कोई चीज नही और गुणीसे भिन्न गुण कोई चीज नही। बोलनेमे वैसा आता समझानेके लिये है। परन्तु आत्मा ऐसा अलग अलग गुण वाला नही है। जब तक इन परिणामोकी पहिचान नही अलग-अलग मति नही कराई जाती तब तक बनता ज्ञान नही होता। अत भेदरूप कथन करके आत्मा की प्रतीति कराते है—जैसे म्लेच्छको स्वस्ति कहा गया तो वह कहनेवाले मुंहकी तरफ मेंढककी तरह देखने लगा। लेकिन जब उसे समझाया गया कि स्वस्ति माने हैं तुम्हारा भला हो, तुम सुखी रहो। जब यह अर्थ समझा तो पुलकित वदन हो गया। इसी तरह अभेद स्वभावरूप चिन्मात्र आत्मतत्त्वको जगतके प्राणियोंके लिये समझानेको यह भेद-रूप कथन किया जाता है। आत्मा ब्रह्म—इतना ही कहते चले जायें तो वे निश्चय उपदेश उसे समझा नही सकते किंतु जब भेद और अभेद, निश्चय और व्यवहार दोनोको कहनेवाला ज्ञानी आचार्य जो पर्याय और द्रव्यको भले प्रकार समझते है वे जब संसारी प्राणीको समझाते हैं कि अमुक अमुक पर्यायें है, उन पर्यायोमे रहने वाला एक ज्ञाता द्रष्टा आत्मा है तो उसकी समझमे बैठ जाता। तो अनन्त गुणोसे अभिन्न सहज सिद्ध भगवानको मैं भले प्रकार पूजता हू। यहा यह अन्तरात्मा जो कि तुलनाके विषयरूप दोनोपर दृष्टि पहुचाता है, कभी व्यक्त रूप सहज सिद्ध कर्ममुक्त परमात्मापर और कभी शक्तिरूप परमात्मापर दृष्टि देता है। आत्मस्वभावकी कसौटीपर व्यक्तरूप परमात्मा और शक्तिरूप परमात्मा दोनोको कसता है, तब अपने अनाकुलस्वभावमे लीन हो जाता है। यही भगवानकी पूजा है। ऐसी पूजा महान आनन्दरूप है। जब तक वह अपूर्व आनन्द न आ पावे तब तक उसकी पूजा नही हो पाती।

परमार्थपरिपूजनका महत्त्व– मन वचन और कायकी जो शुभ क्रिया होती है वह अशुभ परिणामके नही आनेसे है। अथवा जो शुभ क्रिया की जाती है वह अशुभसे बचनेके लिये की जाती है। इस प्रकार मैं उस अशुभरूप निम्नमार्गसे निर्वृत्त होकर मध्यम मार्गसे, शुभोपयोगसे उस सहजसिद्धकी पूजा करता हू। किन्तु यह ध्यानमे रखनेकी बात है कि वास्तवमे जब तब शुभविकल्प भी रहेगे तब तक सहज सिद्धकी पूजा न होगी। उन विकल्पो से अतीत उन विकल्पो द्वारा कहा जाने वाला विचारा जाने वाला चैतन्यतत्त्व ही जब किसी क्षण अनुभवमे आता है तब स्वभावसिद्ध चैतन्य देवताकी पूजा होती है। जब बच्चा रूठ जाता है तब उसे खिलौने आदिसे बहला कर बडा अपने काममे लग जाता है। बच्चो की तरह ये मन वचन कायके व्यापार भी हमे परेशान कर रहे है, सो उन्हे शुभोपयोगके

कार्यरूपी खेलोमे—भगवानकी मूर्तिके अवलम्बनसे पूजा की द्रव्य और स्तोत्र भजन नमस्कार आदिमे फंसा, वहाँ क्या आशय है ? उनके बहाने हम भी कोई सुन्दर निज क्षण पाते ही अपने (चैतन्य अनुभवके) कार्यमे लग सकें यह पूजकका अभिप्राय होता है। पूजा पुण्यबन्ध ही कराती है यह एकान्त बात नही है। पूजा करनेवाला जब पूजाका आधार सहजसिद्ध परमात्माको बनाता है तब वहाँ शुद्धोपयोगके स्पर्श होते ही वह संवर और निर्जराका कारण भी होता है। जैसे व्रत तपादिको बन्धका कारण कहा। सो वहा भी जब बाह्य विरति होकर स्वमे रति होती है तब संवर और निर्जरा होती है। मोक्षमार्गमे इस सहज अध्यात्मप्रयोगके बिना संवर और निर्जरा नही होती और फिर बिना संवर और निर्जराके मोक्ष भी कैसे हो ? अत बीचमे ये पूजादि व्यवहारसे हमारे कल्याण साधक होते है। ठीक इसी तरह सहजसिद्ध भगवानकी पूजा भी संवर और निर्जराका कारण बनती है। ऐसा इसका महात्म्य है ऐसी पूजा कोई बिरला मुमुक्षु ही करता है।

सहजरत्नरुचिप्रतिदीपकै रुचिविभूतितम प्रविनाशनै ।
निरवधिस्वविकाशविकाशनै सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।

सहजरत्नरुचिप्रदीप सहजसिद्धका परिपूजन—मैं ऐसे दीपकके द्वारा सहजसिद्धको पूजता हू जो कि सहजरुचिको दीप्त करने वाला है, वह दीपक कौनसा है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी रत्न यह रत्नत्रय रूपी दीपक अनादि अनन्त और सहज सिद्ध है। जगतके प्राणियोकी रुचि जड रत्नोमे रही। रत्नसार चीजको कहते है। सो मोही जीवोने जडको रत्न समझा, किन्तु सिद्धभगवानकी पूजा हम उन जडरत्नोसे नही कर सकते। वह तो सहज उपयोगको ही प्राप्त करने वाले रत्नोसे होती है। ऐसे ये रत्न तबसे है जबसे यह आत्मा है। जब अभेद दृष्टिसे कहते तो शक्तिमान और जब भेद दृष्टिसे कहते तब शक्तियोको कहा जाता है। सबसे बडी शक्ति भगवानकी वह है जो उनके स्वरूप मे और उनके बताये हुये तत्त्वोके आचरणमे होती है। मोही जीव सहजभावोमे तो रुचि नही करता। सम्पूर्ण बाह्यद्रव्योका परिणमन मेरेमे नही और मेरा परिणमन उनमे नही ऐसा अनुभव नही करता। सो बाह्य पदार्थोमे तो कोई रति अरति नही कर सकता, अपने चारित्रगुणके विकारको ही करता है। यदि कोई किसीका परिणमन करता होता तो संसार मे किसी पदार्थका अस्तित्व ही न रह जाता। अपने अनुभव और पौराणिक कथाओसे देख लो, कौन किसका क्या करता है ? सब अपने आपमे रुचि कर रहे है।

स्वार्थसाधनाका एक चित्रण—राम और सीताका प्रेम प्रशसनीय समझा जाता था, लेकिन अपने यशकी राज्यकी मर्यादाके मोहमे उन्होने मन्दिरोकी वन्दनाके बहाने सीताको बीहड जङ्गलमें छुडवा दिया जब कि वह गर्भके दिनोको पूरा कर रही थी। यदि कोई

साधारण पुरुष ऐसा दंभ करे तो करे लेकिन लोकोत्तर महापुरुष ऐसा करे तो उसे क्या कहा जाय ? उस समयके उनके कषायकी (उस जाति की) ही बात इसमे कारण समझना चाहिये। पीछे अविनाश रहा सो प्रशसा हो रही कि मर्यादा पाली थी। कहाँ रहा वह प्रेम ? जब जंगलमे सीताको रथके उतारकर रथवाहक कृतातवक्र उनको रामके परित्यागकी बात कहता है तब सीता रामके प्रति प्रेमके बारेमे क्या भावनाएं करती होगी ? उसका मन कैसे भावभ्रमरमे डूब और उखर रहा होगा ? जब कृतातवक्र सीताको उनके परित्यागका कारण बताता है कि लोगोके कहनेसे स्वामीने यह कठोरता अपनाई है तो सीता रामको संदेशा देती है कि रामसे कह देना 'जैसा लोगोके कहनेसे आपने मुझे छोड दिया है उसी तरह लोगोके कहनेसे धर्म नही छोड देना।' बहुत समय बाद सीताके गर्भसे पैदा हुए लव और अंकुश रामसे युद्ध ठानते है, तब रामके उन पुत्रोके भावोपर विचार कीजिये, आखिर राम पिता ही तो थे लेकिन सीता मांके पक्षकी कषायने रामसे युद्ध कराया। इसके पश्चात् रामके कहनेपर ही सीता जब राजसभामे आई तब राम भर्त्सना कर कहते हैं—सीते ! तुम्हे यहाँ आते लज्जा नही आती ? तुम्हे जङ्गलमे छुडवा दिया गया था। अब इस घरमे आने का अधिकार तभी मिल सकता है जब अपने शीलकी परीक्षा दे लो।

परमार्थस्वार्थसाधनाका एक चित्रण— अनुमान लगाया जा सकता है कि रामका सीताशीलपरीक्षणकी आज्ञाका उस भरी सभामे सीताके लिये कितना आघातकर हुआ होगा ? कहाँ गया वह रामका प्रेम ? ससारके चरित्रको विचारिये। सीता उत्तर देती है कि पहिले मैंने समझा था कि आपका हृदय तो कोमल ही है लेकिन प्रजाकी मर्यादाका ख्याल करके आपने मुझे वनवास दिया था, हृदयको बरबस कठोर बनाया था लेकिन आज मैं देख रही हू कि आपका हृदय सचमुचमे कठोर हो गया है। और आप जिस तरहसे भी मेरे शीलकी परीक्षा लेना चाहे मैं परीक्षा देनेके लिये तैयार हू। विष खाकर, अग्निमे कूदकर जैसी भी आपकी आज्ञा हो। रामने अग्नि परीक्षा देनेका निर्णय किया। अग्निकुण्ड तैयार कराया गया। सीता पचपरमेष्ठीका स्मरण करके यह कहती हुई कि यदि मैंने मन वचन या कायसे परपुरुषसे प्रेम किया हो तो हे अग्नि ! मुझे भस्म कर देना। सीताकी श्रद्धा और धैर्यको देखिये। इस प्रसंगपर उसके मनमे कितना वैराग्य बढा होगा ? केवलीकी पूजाके लिये जाते हुए देवने ऊपरसे यह अग्नि परीक्षणका दृश्य देखा और उसके भाव हुए कि सीता निर्दोष है। धर्मको कलक न लगे, इसलिये इसकी रक्षा करना कर्तव्य है और अग्निकुण्डको सरोवर कर दिया। देवने क्या किया ? सीताके पुण्यने यह माहात्म्य प्रगट किया। परीक्षा हो चुकने पर राम सीतासे विनयपूर्वक घरमे प्रवेश करनेका निवेदन करते है, लेकिन सीताको इसपर ध्यान ही न गया और वैराग्यमे सनी पचमुष्टि लोचकर आर्या बन गई। राम मूर्छित हो

जाते है, फिर भी सीता उनकी तरफ दृष्टिपात तक नही करती। सीता प्रेम और पति-भक्ति गई? वास्तवमे सांसारिक भावना भ्रमपूर्ण ही है कि अमुकके लिये प्रेम करता पालता वा दु ख देता है। सब अपने परिणमनमे चल रहे है। आत्मा जब अपने कर्तव्यमे स्थिर हो तब वहाँ कौन पति और कौन पत्नी?

रुचिविभूतितमःप्रविनाशक दीपोंसे सहजसिद्धकी उपासना—बडे बडे पुराणोमे और अपने अनुभवमे देख लो कि कौन किसको दु खी सुखी करता है, फिर भी मोही जीवकी रुचि परमे रहती है। भगवानकी पूजा इन परभावोसे नही होती। वे पूजे जाते है सहजसिद्ध रुचिवाले दीपकसे। 'रुचिविभूतितम प्रविनाशनै.' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी रत्नोंकी किरणोकी विभूतियाँ जो मोहरूपी अंधकारको नष्ट कर देती है ऐसे आत्म-विभूति वाले दीपकसे पूजा की जाती है। मोहको नष्ट कर देनेका बल तो वह है ज्ञानकी किरणोमे विपदाओको दूर कर देनेका बल ज्ञानमे ही है। उसीसे सुख शाति मिलती है। यह जीव कहाँ कहाँ भटका, फिर भी उन्हींमे उलझा हुआ है। जैसे कोई शराबी ठोकरें खा करके भी शराब पीनेकी आदतको नही छोडता उसी तरह मोही प्राणी भी ठोकरे खाता रहता है, अनेक तरहके दु ख भोगता रहता है, इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगके प्रसङ्गोको पार करता रहता है। इस मोहअंधकारको दूर कर देनेवाला जो ज्ञानदीपक है उसमे मै आपकी पूजा करता हू।

निरवधिस्वविकासविकासक दीपसे सहजसिद्धका परिपूजन—निरवधिस्वविकाशनै—पर्याय स्वयके द्रव्यसे व्यक्त हुआ करती है, सो यदि उपयोगने दर्शन ज्ञान और चारित्रने पर-का अवलम्बन लिया तो मलिन पर्याय प्रगट होती है और जहाँ उपयोगने स्वका अवलम्बन लिया वहां निर्मल पर्याय प्रगट होती है। लोग कहते हैं कि चित्तकी स्थिरता कैसे हो? तो उत्तर है ज्ञानसे। अपने आपका बोध बहुतसी अस्थिरताओको खतम कर देता है, बाह्य मे चित्त नही जाता तो अपने आपमे स्थिर हो जाता है। जहाजपर एक पक्षी बैठा था। जहाजके चलने पर वह उसी पर बैठा हुआ बहुत दूर तक निकल गया। जब वहाँसे स्थल पर आनेको मन करता है और २–४ मील इस उस दिशामे उड़ता है और स्थल या वृक्ष आदिका अवलम्बन नही पाता तो पीछे उसी जहाजपर आ जाता है। इसी तरह जिन्होने आत्मस्वभावको जाना है, मेरे द्वारा अन्यमे परिणमन होता ही नही, मुझसे बाहिर मेरा कुछ होता ही नही, ऐसी जिनकी अचल श्रद्धा हो वे उस पक्षी की तरह परके अवलम्बन बिना घूम फिरकर बाह्य उपयोगमे चला जाकर भी अपने आपमे आ जाता है। ज्ञान परि-णतिमे रम जाता है। सम्यक्ज्ञान बिना न कोई स्थिर हो सकता है और न कोई सुखी, तो वह सम्यक् ज्ञानकी पर्याय जिस द्रव्यसे निकलती है उसे न जाने तो स्थिरता कैसे

आवेगी ? तो द्रव्यमे पर्याये व्यक्त होती है उस द्रव्यको पहिचानना सम्यक् ज्ञान है। यह बडी भारी खोज है, यही एक आध्यात्मिकता है। मैं जिस सहजसिद्धको पूजता हू वह सम्यक् ज्ञानसे परिपूर्ण है। क्षायिकभाव आत्माका पूर्ण विकास है, यह विकास कर्मके कारणसे नही होता, अपनी शक्तिके विकाससे ही होता है, अविकास होनेमे वे निमित्त थे, इसलिये अब क्षयके रूपमे निमित्त कहे जाते है। बस अपने सहजस्वभावको देखते रहने से ही अपने आपही शक्तियोका विकास हो जाता है।

ज्ञानपुञ्ज परमात्मत्वकी अभ्यर्चना—सभी परमात्माके अंश है, यह जो कहा जाता है सो तिर्यग्रूप नही, किन्तु प्रत्येक आत्मा ज्ञान दर्शन गुणमय है। उस आशिक विकासके कारण अथवा उपचारेण जातिसे परमात्माका अश अथवा परमात्माकी जातिका कहा जाता है। परमात्मा ज्ञानमय है और हमारे भी ज्ञानके अंश प्रगट होते है इसलिये परमात्माके अश कहलाते हैं और जब पूर्णज्ञान प्रगट हो जाता है तब परमात्मा कहलाने लगते हैं। परमात्मामे मुक्त हुआ आत्मा मिल जाता है, ऐसा जो कहा जाता है सो इस तरह जैसे कि किसीको अमुक गोष्ठीमे पहुचनेपर उसमे मिल जाना कहा जाता है। यह आत्मा अपने विकारोको दूरकर शुद्धरूप जब प्रगट कर लेता है तो पूर्वमे हुए जो सिद्ध है उनके ही समकक्ष हो जाता है। कोई भी गुण न्यूनाधिक नही होता, अत एकरूप एक जाति और एक सिद्ध शिलाका स्थान सब सिद्धोका लेनेसे मिल जाता है। मुक्तात्मा अन्य मुक्तात्माके स्थानमे मिल जाता है ऐसा समझना चाहिये। सो ऐसे प्रगट परमात्माको वा स्वभावसिद्ध निज आत्माको शुद्धज्ञानरूप दीपकसे पूजता हू। पूजाका यही महत्त्व है, आत्मनिर्मलताका भाव उसमे प्रधान है, भक्तिका लक्ष्य केवल यही है। अन्यथा न तो भगवान खुश होकर हमको कुछ दे देते और न हमारा कोई प्रयोजन भी रह जाता जो कि उचित और श्लाघनीय कहा जा सके।

निजगुणाक्षयरूपसुधूपनै, स्वगुणधातिमलप्रविनाशनै।
विशदबोधसुदीर्घसुखात्मक, सहजसिद्धमह परिपूजये॥

परमार्थतः स्वपूजाकी शक्यता—मैं अपने अक्षय गुणरूप सुधूपसे पूजा करता हू। भगवान बाह्यदृष्टिसे वा बाह्यपदार्थसे नही पूजे जाते। अपना सहजसिद्ध-भगवान अपनी ही दृष्टिसे पूजा जा रहा है। भगवानको पूजना औपचारिक कथन है, क्योकि अपने से भिन्न पदार्थका काम कोई नही कर पाता, अभिन्न ही करता है। जैसे—दूसरेसे प्रेम करनेकी जो बात कही जाती वह ठीक नही, वह अपने से ही प्रेम करता है, निमित्त (आश्रय) परका होता है। प्रेम चारित्रगुणकी विकारी पर्याय है, वह आत्माकी आत्मामे ही रहेगी। आत्मा के प्रदेशोमे ही रहेगी, दूसरे द्रव्योके प्रदेशोमे नही। किन्तु वह पर्याय जिस ख्यालसे बनी है

उसमे जोडते है कि अमुकको प्रेम किया आदि। जैसे–किसीने पुत्रको प्रेम किया, यह कहा जाय तो समझना चाहिये कि उसने पुत्रको आश्रय कर अपनी रागपर्याय की। उसकी वह रागपर्याय अपने मे ही बनी, पुत्रमे नही। किन्तु पुत्रके आश्रयसे बनी इस लिये उसका कह देते हैं। शुद्ध वाक्यप्रयोग इसके लिये क्या है? कि पुत्रको निमित्त पाकर अमुक पुरुष ने प्रेमपरिणमन किया। मैंने अमुकसे वैर किया यह वाक्यप्रयोग अशुद्ध है। शुद्ध प्रयोग यह होगा कि अमुकको निमित्त पाकर मैंने अपनेमे वैर किया। अमुक स्त्री पतिमे मोह करती है, इसका तथ्यदर्शक प्रयोग होगा कि अमुक स्त्री पतिको निमित्त करके मोही बन रही है। यदि इस तरह शुद्ध वाक्योका प्रयोग जीवनमे होने होने लगे तो बहुतसी बुराइयाँ दूर होती चली जाएं। किन्तु व्यवहारमे ऐसा बोलनेमे अटपटासा लगता है, इसलिये निमित्तके प्रति कर्तृत्वके रूपमे बोलते है। ऐसा बोलनेपर भी यदि प्रतीतिमे यथार्थता हो तो भी विशेष हानि नही है किन्तु अधिकतर प्राणियोकी प्रतीति यथार्थ नही होती, परकर्तृत्वकी होती है। तो व्यवहारमे जो भाषा चलती है उसीको यदि ठीक मान ले तो वस्तुकी स्थिति ओझल हो जाय।

स्वयंमें स्वयंका कर्तृत्व व भोक्तृत्व—व्यक्ति अपने आपको प्रेम और द्वेष करता है किसी को अच्छा या बुरा क्या करेगा? तो जो विकार करेगा तो उसका फल किसे मिलेगा? उसीको मिलेगा। उसके मनमे भी उस दरजेकी आकुलता होगी, दुःख होगा परेशानियाँ होगी, आगे के लिये दुःखकी परम्परा बना लेगा। मैं तो इसका ऐसा करूंगा ही। इसका अच्छा करूँगा, इसे हानि पहुंचाऊगा आदि हठरूप कषाय की। उससे उस व्यक्ति ने अपना कितना बडा अहित किया? दूसरेका तो वह कर ही क्या सकता है? उसका परिणमन तो उसके द्वारा ही होगा, लेकिन हमने उसके प्रति जो रागद्वेषके परिणमन किये उनका फल तो हमको ही भोगना पड़ेगा, दूसरा न भोगेगा। दूसरे ने मेरे साथ ऐसा बर्ताव किया इसलिये मुझे भी उसके साथ ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये आदि सोचना ठीक नही है। किसी साधर्मी ने मेरी निंदा कर दी तो निदा उसने अपने आपमे की, उसका बुरा फल उसे मिलेगा, उसमे नये विकार पैदा होनेके संस्कार बनेंगे, उन भावोके निमित्तसे उसके कर्मबन्धन भी उस तरहका होगा। और मेरी जो निंदा की सो उसकी परिणतिसे मैं निमित्तभूत रहा, मेरा तो इसमे कुछ बिगाड सुधार नही। लेकिन मेरे उपादानको उस निमित्तभूत निंदा वचनका प्रसंग मेरे ही पूर्व कषायभावके निमित्तसे बन्धे हुए कर्मोके उदयसे हुआ, अब हम यदि उनमे विकार करने लगे तो वे निंदावचन हमारे लिये निमित्त होगे और हमारे विकारोका जो परिणमन होगा वह अपने उपादानसे होगा। तो निंदा सुनकर हम कषाय भाव न लाये तो हानि किसकी है? निंदा करनेवालेकी। और यदि हम भी कषाय

लाये तो हमारी भी हानि है। तो परकी दृष्टिको दूर करना चाहिये। दूसरा यदि हमे मारने को भी तैयार हो जाय तो भी उसके परिणमनमे ध्यान न दे, अपनी परिणतिपर ध्यान रखना चाहिये कि इसकी परिणतिका कर्ता यह है और मेरी परिणतिका कर्ता मैं होऊंगा।

परके प्रति प्रशमभाव रखकर स्वयं प्रसन्न रहनेकी शिक्षा—सम्यग्दृष्टि जीव आक्रान्ता की प्रतिक्रिया करता हुआ भी अपना अभिप्राय इस तरह यथार्थ रखता है। जैसे वालक खेलते खेलते कोई वात विगड जानेपर आपसमे कह देते हैं कि हमने तुमसे दोस्ती कट्ट कर ली, लेकिन थोडी देरमे फिर मित्र वन जाते और प्रेमपूर्वक साथ साथ खेलने लगते। वालको से वडी शिक्षा मिलती है, उनके हृदयमे स्थायी कषाय नही होती। यह तो ज्यो ज्यो वडे होते है त्यो त्यों वढती है। हम लोग भी कभी वालक थे, जिसमे कि कई कषायें मद वा क्षणिक थी। हम दूसरोकी समझमे अच्छा या वडा वनने के लिये जो कई तरह की असत्प्रवृत्तिया करते रहते है, अपने वा दूसरोके प्रति अन्याय करते हैं, यह हमारे लिये वडी खतरनाक वात है। हम अपना बुरा करते हैं, इस तरह दूसरोकी प्रसन्नताके लिये। लेकिन हमारी उन असत्प्रवृत्तियोका फल हमको ही भोगना पडेगा, वे अच्छा करने वाले और वडा मानने वाले हिस्सेदार न होंगे। दूसरे हमसे अप्रसन्न रहे या प्रसन्न, हमको तो उपादेय तत्त्वो पर ही दृष्टि दृढ रखना चाहिये और तदनुकूल चलनेकी चेष्टा करना चाहिये। दूसरेके फेर मे अपना अहित कदापि न करना चाहिये। अहंवुद्धि और ममबुद्धिको मजबूत न करना चाहिये। पापमे पैर देते भय खाना चाहिये। कर्मवंधकी व्यवस्था प्रति समय सुव्यवस्थित चलती रहती है। जिस क्षणमे हम जैसा परिणमन करते है, उस क्षण उस तरहका वंध पडता रहता है। और आगामी कालमे हमारे परिणमनमे वे निमित्तरूपसे उदयरूपमे तैयार खडे रहते हैं।

सत्प्रवृत्ति करके निरपराध रहकर स्वपरदया करनेका अनुरोध—हम चाहे छुपकर भी पाप क्यो न करें, लेकिन उसका दण्ड उस अपराधके अनुरूप मिले विना न रहेगा। पीछे हम अपनी विशेष निर्मलतासे उपशम क्षय या सक्रमण आदि कर लेवें, यह आगे अपनी ही परिणतिकी निर्मलताकी बात है। तो अपनी दृष्टि ऐसी वनानी चाहिये कि दुनियामे चाहे मैं कैसा भी कहलाऊं किन्तु हमे तो अपना कर्तव्य ही करना चाहिये। दिखावटीपनमे न जाना चाहिये। अपना सदुद्देश्य न भूलना चाहिये। आत्माका अपराधी न वनाना चाहिये। ऐसी स्वदया पालनेपर हमारे गुण अक्षय रहते है अथवा हमारे अक्षय गुणोसे ऐसी स्वदया प्रगट होनी है। आत्मामे अनादि कालसे ऐसे अनन्त अक्षय गुण रह रहे है उन अक्षयगुणरूप धूपसे मैं पूजा करता हू। किसकी ? सहजसिद्ध भगवानकी। ऐसी पूजासे हम उस जगह पहुच जावेंगे जहाँ दुनियाका कोई विकल्प नही। हमें अपने उपभोगको ऐसा वनाना चाहिये

जहाँ सब द्वंद भाव मिट जाये, एकमे ही लौ लग जाय। मैं अपनी अगुलीको टेढी मेढ़ी आदि करता हू यह उपचारका कथन है। अंगुली मेरी इच्छाका निमित्त पाकर स्वयं अनेक दशाओं में हो रही है। इन सब दशाओमे अगुली तो एक है, न कि अनेक। तो उस अगुलीको बताओ वह कहाँ है ? कोईसी भी दशाको लेकर उत्तर दोगे तो वह उत्तर गलत होगा। वस्तुत. वह एक, जिसकी अनेक हालतें होती रहती है वह बाह्यरूपसे बतानेमे नही आ सकता। हमारी आत्माकी भी अनेक दशाए हो रही है। उन सब अनेक दशाओमे रहने वाले एक चेतनपर ध्यान लगाना चाहिये जिससे कि सारी पर्यायोको भूल जाऊँ। और उसी एकका ही अनुभव हो। आगे उस एकके विकल्पको भी भूलकर निर्विकल्प स्थितिमे पहुंच जावें। देखो हममे ताकत है कि इस चौकीको उठा लें, सो उठाना तो आप देख सकते है लेकिन उस ताकतको दिखाओ। नही बता सकेंगे। इसी तरह पर्याय तो बताई जा सकती परन्तु शक्ति व द्रव्य नही। तो वस्तुकी यथार्थतापर पहुंचनेके समय मन अन्य वस्तुओसे हटकर एकाग्र हो जाता। जैसे बेहोशीमे अन्यका कुछ पता नही रहता, इसी तरह शक्तियोको वा द्रव्यको विचारने से शक्तियोकी तरफसे भी चित्त हटकर द्रव्यपर आ जावेगा।

ध्रुव तत्त्वके ध्यानमें कल्याणलाभ—देखो एकाग्रतामे यदि यथार्थता हुई तो वह मोक्षमार्गका साधक ध्यान कहलावेगा। ध्यानमे कभी ध्येयभूत पदार्थमे भी एकाग्रता होती है। किन्तु वहाँ भी उस ध्येयके अतिरिक्त और सब भूल जावेगे, ध्यानमे न आवेगे। सुखी बननेका एक यही उपाय है। कहा भी है—

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किवि जेण होइ थिरो।
अप्पा आप्पम्मि रओ इणमेव पर हवे ज्झाण ॥

अर्थात्—न कुछ विचारो, न कुछ बोलो और न कुछ चेष्टा करो। स्थिर होकर स्वयं अपनेमे ही लीन हो जाना, यही ध्यान कहलाता है। दुनियाको क्षणिक चीजका तो बहुत खयाल है लेकिन उस एक ध्रुवकी खबर ही नही। जिस आत्माकी मनुष्य तिर्यञ्च और उसमे भी विभिन्न तरहकी दशाओपर दुनियाका ध्यान जाता है उनका आधार जो एक आत्मा है। उसपर भी तो ध्यान जाना चाहिये। उस एकका ध्यान अक्षय गुणोका साधक है। ऐसे उन अपने अक्षयगुण रूप धूपसे हे सहजसिद्ध भगवन्! मै आपकी पूजा करता हू।

स्वगुणघातिमलप्रविनाशक धूपसे सहजसिद्धका परिपूजन—स्वगुणघातिमलप्रविनाशनै. यद्यपि कर्म आत्मामे राग द्वेष मल पैदा नही करते, फिर भी उनका निमित्त पाकर वह वैसा बन जाता है। जैसे—मोहनीधूलसे व्यक्ति मोहित हो जाता है। धूल अच्छा है लेकिन उस

का निमित्त पाकर वह स्वयं बेहोश हो जाता है। बेहोशीकी परिणति उसकी स्वयकी स्वय से हुई, लेकिन निमित्त मोहनी धूल हुई। अथवा जैसे —एक लडका दूर खडा हुआ अपनी अगुली को हिलाडुला करके दूसरे लडको को चिडा रहा है। वह लडका चिडा रहा है ऐसा जो कहा जाता है वह औपचारिक है। वास्तवमे बात ऐसी है कि लडकेकी अगुलीकी क्रिया अगुलीमे है उसके प्रदेशोसे बाहिर नही। प्रत्येक वस्तु अपने प्रदेशोमे ही कुछ भी हरकत कर सकती है, अपने प्रदेशोसे बाहिर नही। तव दूसरे लडकेको उसने कैसे चिडाया ऐसा उपचार क्यो किया जाता ? इस लिये कि लडकेमे उसी समय क्रोध और अहँकाररूप भाव हुए, उसके लिये निमित्त हुई सामने वाले लडकेकी अंगुली। यदि वह अपनी आत्मामे चिडने के भाव न बनावे तो सामने वाला लडका या उसकी अगुली उसे चिढानेमे असमर्थ होगी। तब चिडनेकी क्रियामे वह स्वयं कारण कहलाया। उसीको भावका उसकी क्रियामे अन्वय-व्यतिरेक हुआ लडका वा उसकी अगुली। ठीक इसी तरह ससारके सव पदार्थोकी व्यवस्था बन रही है। कर्म पुद्गल अपनेमे परिणमते, किन्तु जब वे उदयमे आते हैं तो उसी समय आत्मा उस तरहके विकल्प करता है, दोनोका एक ही समय निमित्तनैमित्तिक रूपसे होता। यदि यह बात समझमे आ जावे कि कोई द्रव्य किसी की परिणति नही करता मेरा असर मुझमे ही है—ऐसा विचार आ जावे तो स्वाश्रितदृष्टिकी शै सहजसिद्ध भगवानकी पूजा हो सकती है अन्यथा नही। अनन्त कालसे ऐसी पूजा नही कर पाया इसीलिये भव-भ्रमण चल रहा है। तो अपने अक्षयगुणोको घातने वाले जो मल (व्यवहारसे द्रव्य कर्मरूप और अशुद्धनिश्चयनयसे भाव कर्म रूप) हैं उनको नष्ट कर देने वाले भावरूप धूपसे मैं—विशदबोधसुदीर्घसुखात्मकं—निर्मल और विशाल ज्ञान तथा अनन्तसुखस्वरूप सहजसिद्ध भगवानकी पूजा करता हू।

ज्ञानानन्दात्मक सहजसिद्धकी उपासना—आत्मामे यद्यपि अनन्त गुण हैं तो भी यहा ज्ञान और आनन्द—इन दो गुणोको कहा है वह इसलिये कि आत्माके आकार प्रकार आदिसे उसका कुछ बनता बिगडता नही है। बिगडता है सुखमे विकार आनेसे और ज्ञानमे विकार या मन्दता आने से। आत्माके अनन्त गुणोमे सुख और ज्ञान—ये दो गुण मुख्य है। भगवान को अधिकतर वीतराग और विज्ञानी (सर्वज्ञ) के नामसे ही कहते हैं और उन दो मे भी वीतरागताको प्रधानता देते क्योकि आनन्द तो वीतरागतामे ही रहता, इसीलिये लोगोकी दृष्टि उसपर विशेष जाती और वीतरागता आने पर सर्वज्ञता तो आती ही है। इच्छा का अभाव होनेपर ज्ञान और दूसरे गुणोमे परिपूर्णता आ ही जाती है। चाह करनेसे आत्मवैभव ओझल रहता जब कि चाह घटनेपर वह प्रगट होता है, इसकी यही पद्धति हैं। इस तरह अनन्त गुण वा उनमे प्रधान पूर्णवीतरागता और सर्वज्ञतासे भरपूर सहजसिद्ध

भगवानकी मै पूजा करता हू । सिद्धालयमे विराजमान भगवानको नाम आदि निक्षेपसे पूज लिया और अपने आपको मार्ग नही मिला, मोह नही गया, कषाय नही घटी तो स्वयको क्या लाभ हुआ ? तो उनका ख्याल करके अपने आपकी पूजा होती है। वस्तुत. आत्माका सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थसे ज्ञेय ज्ञायकका ही है। भगवानसे भी भक्तका यही सम्बन्ध है। जाप लेना मात्र चेतनाका व्यापार होना चाहिये, उससे आगे बढकर उनमें अन्य कल्पनाएं करना भूल है। लोक व्यवहारमे भी यह दृष्टि रखे कि बस पदार्थोंको जानना भर रहे। जान लिया कि यह दुष्ट है तो उसके साथ केवल इतना ही सम्बन्ध रखे, उससे और राग द्वेषके सम्बन्ध स्थापित न करे, तो वह सुखी रहेगा। सुखार्थीको प्रतिदिन निज चैतन्यप्रभुके दर्शन करना चाहिये। नियम संयम निजका अति लाभकारी है।

ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें सहज लाभ—एक साधुने एक सेठको भगवानके दर्शन करके भोजन करनेकी प्रतिज्ञा लेनेको कहा। सेठ इसे स्वीकार न कर सका। तब सुबह सरलतासे जिसके दर्शन हो सकते है उसके दर्शन करके रोटी खानेकी प्रतिज्ञा लेनेको कहा गया। सेठने यह प्रतिज्ञा ले ली और सेठ सामने कुम्हारके चन्दुआ भैंसेके दर्शन करके ही भोजन करने लगा। एक दिन कुम्हार उस चन्दुआ भैंसेको प्रभातमे जल्दी ही खदानपर मिट्टी लानेके लिये ले गया। सेठने जब उसके यहाँ दर्शन न पाये तो खदानपर भागता गया। वहाँ कुम्हारको जमीन खोदते खोदते सोनेसे भरा हंडा मिला। मौकेकी बात, उसने इधर उधर देखा कि कोई देख तो नहीं रहा है कि इतनेमे ही सेठकी नजर चन्दुआ भैंसेपर पड़ी। बस उसका दिखना था कि वह पीछे वापिस हो लिया। कुम्हारको शक हुआ कि सेठ जी ने यह सुवर्ण देख लिया है। उसने बुलाया सेठजी आइये तो सही। सेठजीने कहा हमने तो देख लिया। उसका मतलब था कि हमने भैंसेके दर्शन कर लिये और वह समझा कि धन देखनेकी बात कर रहे हैं। उसके वहुत बुलानेपर भी जब सेठजी नही लौटे तो मौका पाकर सोनेका वह हडा सेठजी के घर पर ले गया और उसने हिस्सा बाँटकर दिया और कहा कि किसीको इसकी खबर ना पड़े, नही तो राजा यह धन आपके पास न रहने देगा। यह तो एक भौतिक नियमका फल था। यह तो उसे शल्य करनेवाला है परन्तु निज चैतन्यके दर्शन अपूर्व लाभकारी है। इस कहानी से केवल इतना साराश लेना कि ज्ञाताद्रष्टा रहना ही उत्तम है। संसारकी और बातोमे उलझना ठीक नही। हम किसीका कुछ नही कर सकते। कमाई करना, कुटुम्ब पालना आदि व्यवहारसे कहे जाते है वास्तवमे पुद्गलके अणु अणु और प्रत्येक आत्माए अपनी अपनी परिणतिमे है। अपने अपने पुण्य पापसे सुखी दु खी है। तो केवल ज्ञेय ज्ञायकका सम्बन्ध रखने वाला पूजक अनन्त सुख और ज्ञानसे परिपूर्ण सहजसिद्ध भगवानकी सहजसिद्ध धूपके द्वारा पूजा करता हू।

परमभावफलावलिसपदा सहजभाव कुभावविशोधया ।
निजगुणास्फुरणात्मनिरंजन, सहजसिद्धमह परिपूजये ।।

मैं परमभावकी फल पक्तिसे मैं सहजसिद्ध भगवानकी पूजा करता हू । देखिये सहज सिद्धताके तथ्यपरिचयके लिये आप इन नयोके विषयोको अच्छी तरह समझ जाए और हर एक वातोमे लगाए । नय ४ है—१ परम शुद्ध निश्चयनय, २ शुद्ध निश्चयनय, ३ अशुद्ध निश्चयनय, ४ व्यवहारनय । (१) जहाँ द्वैत आवे वहाँ व्यवहारनय होता है । जैसे-जीव-कर्मके उदयसे रागी होता है, यहाँ दोका मेल बैठाया गया, दोका सग कहा गया । अत वह व्यवहारनयका विषय हुआ । (२) अशुद्धनिश्चयनय-एकको ही कहना, लेकिन अशुद्ध पर्यायको कहना, जैसे- जीवके राग द्वेषादि भाव । यहाँ पर राग द्वेषको कर्मके निमित्तको न देखकर, नही कहकर आत्माके कहे गये, इस एकके वे विकारीभाव है । अत अशुद्ध-निश्चयनयका विषय हुआ । (३) शुद्धनिश्चयनय—शुद्ध पर्यायको प्रधान करके कहता है । जैसे—भगवान शुद्ध है केवलज्ञानी है आदि । (४ परमशुद्ध निश्चयनय—द्रव्यको या एक स्वभावका विषय करता है । अनादिसे अनन्त काल तक एक स्वभावसे निश्चल एकको कहनेवाला जो नय है वह परमशुद्ध निश्चयनय है । तो सहजसिद्ध दो प्रकारके हैं—(१) परमशुद्ध निश्चयके विषयभूत और (२) शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत । (१) सम्पूर्ण आत्माए जो सारी हालतोमे स्वभावसे सिद्ध स्वरूप है, वे परमशुद्ध निश्चयनयके विषयभूत सहजसिद्ध हैं । (२) और जो कर्ममुक्त सिद्ध है वे शुद्धनिश्चयनयके विषयभूत सहजसिद्ध है ।

निर्मलभावफलावलिसे सहजसिद्धकी उपासना—यहाँ सहजसिद्धकी पूजामे निर्मलभावो रूप फलकी पक्तियोसे, पूजा करनेका जो भाव व्यक्त किया है वह शुद्ध निश्चय-नयसे परमशुद्ध निश्चयनयमे ऐसा भेद नही होता । निर्मल भाव रूप जो पर्याय है वह शुद्ध निश्चयनयकी चीज है । और हमारे जो भाव है वे अशुद्ध निश्चयनयकी चीज है । तो मैं निर्मल भावरूप फलोके द्वारा हे सहजसिद्ध भगवन् ! आपकी पूजा करता हू । वह निर्मलभाव वनता कैसे है ? सहजसिद्धकी दृष्टिमे निर्मलभाव वनता है । अर्थात् हे सहजसिद्ध ! तेरी ही दृष्टिसे मिली दृष्टिसे आपकी पूजा करता हू । ग्रन्थरचना आदिमे भी यह पद्धति देखी जाती है कि लेखक अपने गुरुको जिसके द्वारा उसे ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह रचना उसे समर्पित करके कहता कि आपके द्वारा दिये गये ज्ञानके प्रतिफलरूप इसे आप ही ग्रहण करे । इसी तरह भक्त भगवानके प्रति कहता है कि आपके प्रसादसे प्राप्त हुए निर्मल भाव आपके लिये अर्पित करता हू । यहा वचन भेदरूप है किन्तु दृष्टि अभेदकी है । आप पूजक स्वय पूज्य और पूजारूप अभिन्नताकी भावना दर्शा रहा है । भेददृष्टिमे कर्म-मुक्त सहजशुद्ध (शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत) भगवानको कहा जाता है । भगवानकी प्रसन्नता हो तो वह चीज हो कि जिसमे हम भगवानको पूज सकें । फल अन्तिम दशाको

कहते है, तो ये जो परमभाव है ये भी द्रव्यमेसे द्रव्यके भावकी दृष्टिसे फलते है (निर्मलदशा मे आते हैं)। ये परिणाम एक समयमे अनेक नही होते। अत यहाँपर जो भावफलोकी आवलि कहा है उससे मतलब है अनेक समयोमे क्रमवर्ती होनेवाले जो भाव है उनसे पूजा करता हू।

परमभावकी झांकी—परम माने सर्वोत्कृष्ट। परा-उत्कृष्ट, मा-लक्ष्मी जहाँ हो वह परम कहलाता। लक्ष्मी किसे कहते है? लक्ष्मी चिह्नको कहते है। जिस परिणति (चिह्न) से आत्मा समझमे आवे उसे लक्ष्मी कहते है। तो वह लक्ष्मी आत्माके शुद्ध भावरूप कहलाई, वही परम उत्कृष्ट भी है। व्यवहारी लोग ऐसा भी कहा करते हैं कि 'यह भोजन परम सुखदाई है' आदि। सो यह उनका कहना उचित नही, क्योकि उनकी दृष्टि तो बाह्यमे होने से बाह्यपदार्थ ही परमसुखकारी मालूम पड रहे है। वस्तुत. बाह्यपदार्थोमे वा उनके भोग उपभोगमे सुख और फिर परम सुख है कहाँ? ऐसा मानना तो केवल भ्रम ही है। सर्वोत्कृष्ट चीज तो निर्मल भाव है जो सम्यग्ज्ञानसे बनते है। मोहसे उत्पन्न होनेवाला भाव निर्मल नही होता और न इसी लिये उसे सर्वोत्कृष्ट कह सकते। अपने आपको कष्टमे डालकर मोह के कारण दूसरेको सुखी करनेवाले परिणामको भी परम नही कह सकते और न उस आश्रयसे सुख लेनेको परम कह सकते। क्योकि वहां निर्मलता नही, ज्ञानकी अनुभूति नही। वहाँ तो मोहके कारण समता भाव हैं। तो जहाँ सम्यग्ज्ञान आ गया वहाँ परमतत्त्व आ गया, निर्मलता आ गई और उसीसे परमात्माकी पूजा होती है। कई लोग परमहस शब्दसे विशेष व्यक्तिका बोध करते हैं लेकिन उससे सब प्रकारकी आत्माओका बोध होता है। उसके तीन खंड परम अहं, स करने पर क्रमसे परमात्मा अन्तरात्मा और वहिरात्माका बोध होता है, जिससे मुक्त और संसारी सभी प्रकारकी आत्माओका ग्रहण हो जाता है। इस अर्थ मे परमहस शब्दसे प्रत्येक जीव आ गये।

प्रत्येक आत्मामें परमात्मत्वज्योति—प्रत्येक जीव शक्तिरूपसे परमात्मा है। यदि ऐसा न माना जाय तो ६ के बदले ७ द्रव्य मानने पडेगे और सख्या बढनेसे ही कोई दोष नही किन्तु मुक्ति और मुक्तिका मार्ग नही बन सकेगा। यदि सब आत्माओमे परमात्माकी शक्ति विद्यमान न हो तो कितनी भी साधना तपस्या करनेसे वह नवीन कहाँसे प्रगट हो जायगी, बन जायगी? शक्तिरूपमे वह विद्यमान है तभी तो योग्य प्रयोगविधिसे व्यक्त होता है। केवल ज्ञानावरणकर्म जो माना गया है उसका अर्थ ही यह है कि जो केवलज्ञानको प्रगट न होने दे, ऐसा कर्म केवलज्ञानावरण कहलाता है। तो केवलज्ञानका अस्तित्त्व शक्ति-रूपसे है तभी तो उसका आवरण होना बन सकेगा। अत. अभव्यमे भी केवलज्ञानकी शक्ति है, अभव्य तो इसी लिये कहलाता है कि उस आत्माने परमात्मीय शक्तियोके व्यक्त होनेकी

योग्यता नही है।"

कुभावविशोधक फलसे सहजसिद्धकी उपासना—तो ज्ञानानुभूतिसे सम्पन्न वे परमभाव कैसे हैं और कैसे प्राप्त होते है ? सो कहते है कि 'सहजभाव कुभाव विशोधया' सहजभावोके बलसे कुभावोको नष्ट करने वाले है, निर्मल भाव स्वाश्रित भाव हैं, अत सहज भाव हैं। वे कुभावोको दूरकर शुद्ध होने वाले जो सहज भाव है वे परमभाव है। कुभावोको दूर करना या विशुद्ध करना इन दोनोका एक ही मतलब है। जैसे चौकेको शुद्ध करना, इसका दूसरा मतलब यह भी है कि उसके मैलेपन को अशुद्धि को दूर कर देना। किसी अशुद्ध पदार्थसे कोई भिड गया और नहाकर शुद्ध हो गया। ऐसा जो कहा जाता उसका यह भी मतलब है कि अशुद्ध पदार्थ भिडनेसे जो अणु स्थूल या सूक्ष्मरूपमे लग गया था वह दूर हो गया। किसी चीजको शुद्ध करने का मतलव है कि उसमे जो मल आ गया जो कि स्वभावमे नही है परका निमित्त पाकर आया है या निमित्तरूप आया है उसे दूर कर देना। साराश—यह है कि शुद्धका तात्पर्य है वस्तुको केवल स्वभावरूप वनाना। क्षमा क्या है ? क्रोध मलको हटा देना। क्षमा तो स्वाभाविकी शक्ति है। जब क्रोधरूप विभाव न होगा तो वह प्रगट ही है। इसी तरह मानरूप विभावके अभावमे स्वभावरूप मार्दव गुण प्रगट होता है। जो अपनी शानके लिये मान करते है वे इस बातको समझे कि जब नरक और तिर्यंच गतिकी अवस्था प्राप्त होगी तब वहाँ शान कैसे रह सकेगी ? ऐसा विवेक करनेसे निर्मलता आती है और मानमलका अभाव होकर मार्दवगुण प्रगट होता है। इसी तरह आर्जव धर्म भी कपटके दूर होनेसे प्रगट होता है। मन वचन कायकी कुटिलता करनेसे जहाँ आत्मामे मलिनता आती है वहाँ इनकी सरलता रखनेसे निर्मलता आती है। कुटिलता तो कृत्रिम है उस कृत्रिमताको हटाया कि स्वाभाविक गुण प्रगट हो गया और लोभ कषाय छोडा कि शौचधर्म आ गया। सहजभाव होने पर कुभाव दूर होते और उसके दूर होने पर सहजभाव होते। जैसे—घडे का विनाश और खपरियोका पैदा होना एक ही समयमे होता है इसी तरह मलिनपर्यायोका दूर होना और शुद्धपर्यायोका प्रगट होना एक ही समयमे होता है। ऐसे कुभावोको दूर कर सहज भावरूप परमभावोसे सहजसिद्धकी पूजा करता हू। कैसे सहज सिद्ध ? सो कहते है—

निजगुणस्फुरणात्मनिरञ्जन सहजसिद्धका अभिवन्दन—निजगुणस्फुरणात्मनिरजन—अपने ही गुणोसे स्फुरायमान निर्मल जो आत्मा वही सहज भगवान हैं। स्वभावसे दोनो एक ही है। स्वभावरूप है लेकिन कहने मे ऐसा ही आता है और समझनेमे भी ऐसा आता हैं एक सतको समझाने के लिये उसको भेद करके टुकड़े करके कहना पडता है। सब शक्तिया एक ही द्रव्यमे रहने वाली होती है। तो अपने ही गुणोसे स्फुरायमान मलरहित

आत्मा सहजसिद्ध भगवान है । आत्माके साथ जो कर्ममलका लगाव कहा जाता है वह तो स्थूल उपचारसे है । दूसरा द्रव्य दूसरेमे क्या मल और शुद्धि करे ? आत्मामे जो मोह क्षोभ के भाव हैं—मैं मनुष्य हू, पडित हू, मुर्ख हू आदि मोहके भाव तथा कामी क्रोधी जो भाव है यही मल है । इन भावोसे हटकर जब आत्मा अपनेमे परिणमन करती है तो निर्मल कहलाती है । अथवा ये भावमल भी औपचारिक है । वस्तुत आत्माके स्वभावमे ये नही है, अत स्वभावदृष्टिसे वर्तमानमे भी राग द्वेषादि भाव मलोसे रहित जो निरजन आत्मा है वह अपने गुणोसे भरपूर है, ऐसे सहजसिद्ध भगवानको अथवा परमशुद्धनिश्चयनय है विषय-भूत भगवानको पूजता हू । यहा पर 'एक ने एक की एकसे पूजा की' का भाव है । पुजारी पूज्य, पूजाकी सामग्री और पूजा भी वही एक है । तब पुजारीने क्या किया ? कुछ नही । बाह्य परिणतिमे जिसे अनेक कामोके करनेके विकल्प है उसे झझट है और जिसकी दृष्टि एकपर है उसे क्या झंझट ? यहा ऐसा न समझना कि हम अपनेको ही पूजते है और वही पूज्य है तो प्रत्येककी नाम स्थापना आदि निक्षेपसे पूजा क्यो करना ? नय और निक्षेपोको ग्रहण करके और उनसे उपादेय तत्त्व जो भी सम्भव है प्राप्त करके आगे उनका त्याग होता है । उनका आश्रय सर्वथा लिये बिना उनका त्याग होकर एक सतकी प्राप्ति कभी नही हो सकती । अत नाम स्थापना आदिसे भी पूजाकी सार्थकता है ।

> नेत्रोन्मीलिविकाशभावनिवहैरत्यन्तबोधाय वै ।
> वार्गंधाक्षत पुष्पदामचरुकैं, सद्दीपधूपैं फलैं ।।
> यश्चितामणिशुद्धभावपरमज्ञानात्मकैरर्चयेत् ।
> सिद्ध स्वादुमगाधबोधमचलं सचर्चयामो वयम् ।।

ज्ञानोद्घाटक विकासभावरूप अर्घसे सहजसिद्धका परिपूजन—ज्ञाननेत्रोको उघाडने वाले जो विकासभाव है उनके समूहोसे मैं पूजता हूं । अपना भगवान अपनेसे ही पूजा जाता है । अपनी आत्मा अपने भावोसे प्रसन्न होता है । खुद प्रसन्न होना खुदका एक वैभव है । व्यवहारी लोग भी जो चेष्टा करते है वे भी अपनी प्रसन्नताके लिये करते, किसीकी प्रसन्नता के लिये कोई कुछ नही करता । सामाजिक व्यवस्था पडे तो, और गृहस्थीके चक्करमे पडे तो अपनी ही प्रसन्नताके लिये सब कोई कुछ करता । दूसरोको न कोई प्रसन्न करता, न कोई कर सकता । प्रसन्नताका यथार्थ मतलब है निर्मलता, ग्रन्थ बनानेके आदिमे परमेष्ठियोका स्मरण करते, तो क्या वे हमे प्रसन्न करनेके लिये यहाँ आते है ? नही, वे अपने स्वरूपसे कभी विचलित नही होते । तो उनकी प्रसन्नता हमपर क्या होगी ? तो फिर उसका प्रयो-जन क्या ? प्रसन्नता माने निर्मल परिणाम । परमेष्ठीके ध्यानरूप परिणामोमे निर्मलता आती

है। सो प्रसन्नताका अर्थ तो है निर्मलता परन्तु रूढिवश इन्द्रियजन्य मनोजन्य हर्षमे यह रूढ हो गया। यही कारण है कि किसीसे प्रसन्नताकी बात पूछी तो कहता—हाँ बच्चे सब अच्छे है, धन्धा ठीक चलता है, तबियत ठीक है आदि मलीनताकी बात कहता। परकी बात कहने से तो मलिनता हुई निर्मलता कैसे हुई? किन्तु उन सासारिक सुखो वा उनके कारणोमे प्रसन्नताका जो व्यवहार चल पडा कि निर्मलतासे आनन्द प्राप्त है और सासारिक सुख भी विकृत आनन्द है। अत उसको भी प्रसन्नताके अर्थमे लेने लगे। तो जिन परमेष्ठीकी निर्मलतासे हमे मार्ग मिला, निर्मलना प्राप्त हुई, यद्यपि निर्मलता निजकी निजमेसे ही होती है, किन्तु वह निर्मल भगवानको जाननेसे होती, इसलिये उपचार करके उनसे निर्मलता हुई ऐसा कह देते, वस्तुत निर्मलता अपनेसे ही हुई। सो भगवानको जो मैं पूजता सो अपनेसे अपने को ही पूजता। और जलादि बाह्य द्रव्य जो हैं वे केवल अवलम्बनके लिये हैं, और द्रव्यको अर्पित करके हमारे त्यागरूप भाव होते, बहुमानके भाव पुष्ट होते, यह भी बाह्यद्रव्यके चढाने की सार्थकता है।

पूजामें द्रव्य चढानेकी उपयोगिता—जो आत्मस्वभावका ख्याल नही कर रहे, विषय-कषायमे मचल रहे है उनको बाह्य कुछ अवलम्बन लक्ष्यपर पहुचनेके बीचमे आवश्यक होता है। अत उनका आलम्बन लेकर पूजते। इस बाह्य आलम्बनमे लगनेके बाद कभी कभी ज्ञानानन्दका ख्याल आता रहे इसलिये तदनुरूप द्रव्यका सहारा लिया जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक द्रव्यको चढानेका प्रयोजक मन्त्र लक्ष्यका बोध कराने वाले होते हैं। जैसे जल चढानेका प्रयोजन कहा जन्म जरा और मृत्यु रूप कर्मोदयके मैलको दूर करना। क्योकि जल का काम मलको दूर करना है। चन्दन शीतलता करने वाला होता है, इसलिये उसमे ससार के तापको दूर कर देनेका रूपक घटाया। अक्षत कहते हैं अविनाशीको, सो चावलोका नाम भी अक्षत है अत उनको चढानेका प्रयोजन दिखाया अक्षयपदकी प्राप्ति। कामको नष्ट करने का प्रयोजन पुष्पमे दिखाया क्योकि पुष्प कामबाण है, सो पुष्प त्यागसे कामनाशका प्रयोजन लिया अथवा उक्त सभी चीजें हमारे शोधके सहयोगी नही, सो सबका त्याग बताया क्षुधा को दूर करनेके लिये नैवेद्य होता है। सो वह न खाना पडे क्षुधा रोग दूर हो जाय, इसके प्रयोजनसे नैवेद्य चढाते हैं त्यागते है। मोहरूपी अधकार दूर करनेके लिये और ज्ञानका प्रकाश करनेके प्रयोजनसे दीपक चढाते क्योकि वह प्रकाश करनेवाला होता है। धूप जलाने के काम आती है सो उसे चढाकर कर्मको जलानेकी भावना करते। और मोक्षरूपी फलको पानेके लिये फल चढाते हैं। तथा इन आठो द्रव्योको मिलाकर बनाये हुये अर्घसे अनर्घपद (मोक्ष) की कामना करते हैं। यदि इन द्रव्योके चढानेका कुछ उपादेय मेलका भाव न बैठाओ तो दुनियाके जैसे और काम होते है ऐसा यह भी एक काम हो जाय। निश्चयसे तो भक्त

अपनेको पूजनेमे जो समर्थ है ऐसा विकास भाव उससे पूजनेका भाव प्रगट करता है। जैसे—कोई धनीको धनके लिये प्रसन्न किया जाता, ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये विद्वानको प्रसन्न किया जाता है, भगवान बननेके लिये और शुद्ध निश्चयके विषयभूत भगवानको पूजनेका भी उपचार ही है। वस्तुत भक्त अपनी ही भक्ति करता। भक्त भगवानको पूजकर चाहता क्या है ? अपने भगवानको प्रगट करना चाहता है। निजमे उपयोग लगाकर अपना ही उपयोग किया। उपयोगका तो उपचार है।

तत्त्वज्ञ उपासककी उपासनापद्धति—सच्चे भक्तका यही एक प्रयोजन और कार्य है कि वह संसारसे अलिप्त रहता हुआ संसारके उच्छेदका कार्य करे, पूजा केवल मन्दिरमें ही होती हो यह बात न समझना। मन्दिरमे जिसने स्वरूपकी भाई, उधर दृष्टि पहुँचाई और कदाचित भगवानके स्वरूपका अनुभव भी किया, कर्ममुक्त भगवानके बहाने अपनेकी पूजा अपनी महानताकी तरफ दृष्टि दौडाई और उसका अनुभव किया क्या वह मन्दिरसे निकलते ही अपनेको भूल जानेकी भावना रखेगा ? क्या उसको यह विश्वास है कि मन्दिरमे ही हमारी आत्मा भगवान रूपसे मानी जानी चाहिये, अनुभवकी जानी चाहिये ? नही। वह त्रैकालिक स्वभाव शुद्ध भगवानकी त्रैकालिक स्वभावगत भावोके लक्ष्यसे पूजा करता है। वास्तविक पूजा तो क्षणिक पर्यायोमे एक अविरल निश्चल रहनेवाले सतचिद् आनन्दमय एक ज्ञाता दृष्टा परमात्माकी की जाती है। तब फिर मन्दिरके अतिरिक्त और समयोमे वह अपनेको अन्य रूप माननेकी मूढता कैसे कर सकता है ? कदापि नही। यदि ऐसी बात नही आती तो पूजा भी नही हो पाती। वह तो सासारिक कार्योके समान वह भी लोकेषणाका एक कार्य होगा उसे करके भी वही लोकका वैभव या दूषित इच्छाकी पूर्ति चाही जायगी। अनादिसे कुछ ऐसा ही ढंग चला आ रहा है जिससे जहाँके तहाँ बैठे है। संसार और ससारके दु खोका अत नही हो पाया। वास्तविक पूजा एक बार भी हो गई होती तो ससारका गोरखधन्धा दूर हो गया होता। आत्यामे जब तक रुचि न हो तब तक पूजा नही होती। आत्मासे प्रेम करने वाले बहुत कम होते है, अपनी अपनी कषायोका प्रेम अधिकतर करते हैं अथवा उपचरित व्यवहारसे कहो तो मल मूत्रसे अपवित्र शरीरसे प्रेम करते।

मुमुक्षु द्वारा संसारोच्छेदका प्रतीक्षण—मुमुक्षुकी भावना यह रहनी चाहिये कि संसारका उच्छेद करके आतमा धर्ममय कब और कैसे हो ? कोई जब अपने ही लिये अन्धेरे मे हो तो पिता पुत्र और भाईके लिये हितकी बात कौन सोचे ? हितकी बात तो मुमुक्षु प्राणी ही सोचते हैं अपने लिये व दूसरोके लिए। मोही कुटुम्बी ऐसा नही सोच सकते। कदाचित ऊपरी तौरपर कोई सोचे भी तो कब तक ? जब तक कि उनकी अनुकूलता है

प्रतिकूल होने पर वे मोक्ष हितकी तो क्या, स्थूल सासारिक आरामकी बात भी नही सोच सकते। गृहस्थीका जजाल ही ऐसा है कि कोई किसीका हित नही चाहता। वह हित जिससे आत्मतुष्टि प्राप्त होती है वे तो अपने लिये जैसी दूसरोके लिये सासारिक बन्धनकी ही बात सोचते हैं। यदि ऐसी प्रतिकूलता न होती तो बड़े बडे पुरुष गृहवासका त्याग क्यो करते? और बडे छोटेकी बात ही क्या? हर कोई घरमे रहता हुआ ही मोक्ष मार्गकी साधना करके मुक्त हो जाता। यो तो आशिक साधन गृहवासमे भी बन सकते है, लेकिन यहा तो मुक्ति प्राप्नि की बात कर रहे है कि अन्ततोगत्वा गृहवास छोडनेपर ही मुक्ति मिलती है। गृहवासका मतलब ही है विषयोमे फंसे रहना। यदि यह न हो तो वह गृहवास भी न कहलायेगा। घर बसाया भी जाता है इन्द्रियोकी तृप्तिके लिये। लेकिन मोक्षका इससे विरोध है, कहतेहैं—एक पन्थ दोई चले न पन्था, एक सुई दो सिये न कथा। एक साथ नहिं होत समाने, विषयभोग अरु मोक्षहि जाने॥ अर्थात्—एक रास्तागीर एक बारमे एक ही रास्ता चल सकेगा, एक सुई एक समयमे एक ही कपडा सी सकेगी, इसी तरह हे बुद्धिमान मानव! तेरे और भी काम एक समयमे एक एक ही हो सकेंगे। यह कभी नही हो सकता कि विषयभोगोमे भी फसे रहे और मोक्ष भी चले जाएँ। दो मे से कोई एक ही हो सकेगा। क्योकि विषयभोग ससारका मार्ग है, उससे मोक्ष कैसे मिलेगा? वह तो मिलेगा मोक्ष मार्गपर चलनेसे, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको अपनानेसे।

ज्ञाननेत्रोद्घाटक चिन्तामणिज्ञानात्मक अनर्घ्य अर्घ्यसे सहजसिद्धकी उपासना—पूजकके भाव अज्ञान नेत्रको खोल देने वाले आत्माके विकासरूप स्वच्छ होते है, ऐसे स्वच्छभाव वाला ही पूजाका पात्र है, अधिकारी है। ऐसा ही व्यक्ति पूजा करनेमे समर्थ होता है। भगवानकी पूजाके लिये जगतका कोई और साधन नही बन सकता। तो किससे पूजते? समीचीन जल, चदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोके द्वारा, श्लोकमे दीपकके साथमे जो सत् शब्द दिया है वह मध्य दीपक है, अर्थात् उसका अन्वय आगे और पीछे सब द्रव्योमे लगाना, जिससे अर्थ निकलेगा समीचीन जल, समीचीन गध, समीचीन अक्षत समीचीन पुष्प, समीचीन नैवेद्य, समीचीन दीप, समीचीन धूप और समीचीन फलोके द्वारा 'शिरसा प्रणम्य' नतमस्तक होकर पूजता हू। समीचीन जल आदिका विवेचन प्रत्येक द्रव्यके पदमे स्पष्ट किया गया है जो कि सब द्रव्योमे सम्यक्रूपसे आत्माका शुद्ध भाव पडता है उस एक शुद्ध भावको ही नाना तरहसे नाना द्रव्यसे रूप दिये हैं तथा प्रकृत श्लोकमे भी उनकी समीचीनताको प्रदर्शित करने वाला पद आगे दिया है, वह है 'यश्चिताम विशुद्धभावपरमज्ञानात्मकै' अर्थात् वे अष्ट द्रव्यें कैसी है? चिंतामणि की तरह यह जो विशुद्ध, भाव, जो कि उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप—शुद्ध चेतना रूप है तद्रूप आठ द्रव्योसे पूजता हू।

सर्वार्थसिद्धिकर वास्तविक चिन्तामणि—लोगोका कहना है कि चितामणिके द्वारा मनोवाछित वस्तु मिलती है, लेकिन ऐसा वह पत्थरका टुकडा चितामणि कोई रत्न नही। तो फिर शास्त्रोमे ऐसा उल्लेख क्यो मिलता ? कि—जाचै सुरतरु देव सुख, चितत चिता रैन। बिन जाचै बिन चितये, धर्म सकल सुख दैन॥ इस धर्मभावनामे बतलाया कि चितामणि रत्न, चिता (इच्छा) करने से सुख देना है, फिर आगे जो कहा कि धर्मसे तो बिना इच्छा किये ही सम्पूर्ण सुख मिलते है तो धर्मसे जब चितामणि रत्नका नाम अलग रखा तो वह आत्मभावोमे पृथक कोई जड वस्तु ही होना चाहिये ? परन्तु ऐसा जड रत्न सब कुछ देनेके लिये ससमर्थ है। मुमुक्षुकी मनोकामनाको पूरी करनेमे वह असमर्थ है। ऐसा चितामणि तो आत्माका शुद्धभाव ही हो सकता है। चैतन्यका विकास ही वह है जो कि सर्वोत्तम वस्तुएं प्रदान कर सकता है। और तुच्छ सासारिक लाभ तो स्वयमेव होते ही हैं, उनका तो प्रश्न ही क्या रह जाता है ? चैतन्यरूप चितामणिकी दृष्टि आनेपर उसकी चाह भी मर जाती है, या कहो तो केवल आत्मरुचि रह जाती है। सो उसे वह मिलता ही है। परको विचारने का वहाँ भाव नही है। यदि परके विचारका भाव उठे तो वहाँ शुद्ध चैतन्यरूप चितामणिका अभाव कहलाया। तो यह बात चैतन्यभावके लिये ठीक बैठ गई कि जो विचारो चितामणिसे वह मिल जायगा, पत्थरके चितामणिसे यह नही हो सकता, वह तो जड वस्तुको ही दे सकता है, चैतन्यमे उसका प्रवेश नही।

विशुद्ध ज्ञानात्मक परमभावकी साक्षात् चिन्तामणिरूपता—पत्थरके चितामणिसे जो मिलना बताया वह उपचारसे है, प्रत्येक चीज अपने-अपने रूपसे अपनी जगहपर रहती है, उसका क्या मिलना और क्या बिछुडना ? पुद्गलकी संयोगाधीन दृष्टिमे ही ऐसा मालूम पडता है, आत्माके लिये उससे क्या मिल सकता है ? कुछ भी नही। फिर भी जो चाह की जाती है, वह मोहसे की जाती है और उस चाहके अनुसार जो जड पदार्थोका संयोग जड चितामणिसे हो जाता वह उसके शुभकर्मोदयके निमित्तसे होता है। इस जातिका शुभकर्म बध भी आत्मभावोसे सर्वथा निरपेक्षपने से नही होता। व्यक्तिका ध्यान मोक्षकी तरफ काफी खिचता है, उसमे जो ऊँचे दरजेकी शुभ क्रियाएं होती हैं उनसे उस जातिका कर्म बधता है, लेकिन सम्यक्त्वशून्य भावोसे उत्कृष्ट सुख फलदायी विपाक उसका कुछ नही होता है। अथवा किसी सम्यग्दृष्टिको पत्थरका चितामणि मिलता है तो उसे वह जैसे वर्तमानमे नगण्य है उसी तरह अतीतमे था, जब कि सम्यक्त्वके साथ सातिशय पुण्य द्वारा इस जातिका शुभबध किया था, वह रत्न उसे चाहसे नही मिला किन्तु निरीहवृत्तिके ऊचे भावोका प्रतिफल है। वहाँ तात्पर्य यह कि यहाँ सहजसिद्ध भगवानकी पूजा उन चितामणि रत्नोसे की जा रही है, जो कि शुद्धस्वरूप है, उत्कृष्ट ज्ञानरूप है, शुद्ध चैतन्यरूप है। चैतन्य

रूप चितामणि दृष्टिरूप हस्तमे प्राप्त होने पर कोई वान्छा ही नही रहती, इसलिये इस चितामणिसे सभी मिल गया। वस्तु मिलनेका फल इच्छाका अभाव है वह चैतन्यकी उपलब्धि वाले के पहिले ही हो गया।

स्वादु अगाधबोध अचलसहजसिद्धका संचर्चन—ऐसे उत्कृष्ट द्रव्यसे वैसे सहजसिद्ध की पूजा की जाती है? सो कहते हैं 'सिद्ध स्वादुमगाधबोधमचलम्। जो स्वयसिद्ध भगवान आत्मिक रसमे सने हुए हैं, जो स्वयं तथा कर्म वर्गणा आदिपर द्रव्योसे कभी चलायमान नही होते, सदा अपने ही रूपमे अपने ही प्रदेशोमे सदा स्थिर रहते। ससारी पर्यायमे भी जो मन वचन कायके परिस्पदसे आत्मप्रदेशोका हलन चलन बतलाया वह उपचारसे है। निश्चयसे आत्माके प्रदेश पौद्गलिक परमाणुओ वा स्कंधोसे सदा अस्पृष्ट ही हैं, तो उनकी चंचलतासे उसमे चंचलता आना नही बनता। और चंचलताका लक्षण भी वहा क्या घटित किया जा सकता है? स्वक्षेत्रकी चंचलता तो आत्मामे त्रिकाल कभी होती ही नही। अत परम शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत आत्मा (जिसमे संसारी आत्माका भी ग्रहण है) को भी उक्त सब विशेषण पहिले जैसा कहते आये लागू है। क्योकि इस पूजामे सिद्ध परमेष्ठीको अवलबन करके स्वयके सिद्धपरमात्माको पूजा जानेकी चेष्टा है, जो कि मुमुक्षुओके लिये दृष्टि द्वारा परम उपादेय अमृत रूप है। यहाँ जब निज सहजसिद्ध भगवानका वर्णन आवे तब परम पारिणामिक भावकी अपेक्षासे देखना। पर्याय परिणमनसे तो हम आप सबसे संसारी मलिन हैं, सिद्ध भगवान्से हममें बडा अन्तर है। परन्तु स्वभावदृष्टिमे यह सव कुछ भी अन्तर लक्ष्यमे नही है। सिद्ध भगवानके वह अगाध ज्ञान कितने पदार्थोको जानता? तो कहते है कि लोक अलोकमे जो कुछ भी है उन सबको जानता। इतना ही नही उनके जो अनंतगुण हैं उन्हे भी जानता है, इतना ही नही उन गुणोकी जो अनन्तानन्त पर्यायें हैं उन्हे भी जानता है, इतना ही नही उन पर्यायरूप एक एक गुणमे जो अनत अविभाग प्रतिच्छेद हैं (गुणाश हैं) उन्हे भी जानता। इतना ही नही ऐसे अनत लोक अलोक हो तो उन्हे भी वह ज्ञान जान सकता है ऐसी शक्ति है उसमे। ऐसा ज्ञान जिनको हो गया ऐसे केवलज्ञानीको भी वह जानता और ऐसे अनत केवलज्ञानियोको भी वह जानता। ऐसा अनन्तज्ञानमय जो सिद्ध परमात्मा है उसकी मैं पूजा करता हू। ऐसा ज्ञान स्वभाव शक्ति रूपसे सब ससारी जीवोके हैं किन्तु उसको प्रगट करनेके लिये उस निज ध्रुव स्वभावी आत्माकी दृष्टि आना चाहिये, तब वह प्रगट होता है। इस अर्घके पदमे पूजनेके लिये शब्द दिया है—सचर्चयामो—हम सम्यक् प्रकारसे उस सिद्धभगवानकी चर्चना अर्चना करते हैं यह जिसका अर्थ है। चर्चना शब्द यहाँ तन्मयताका द्योतक है अर्थात् मे उन सिद्ध भगवानको आत्मसात् होकर पूजता हू। बाह्य स्तवन प्रणाम द्रव्यार्पण द्वारा ही मैं पूजा नही करता

बल्कि उनमे तन्मय होकर उन्हे पूज रहा हू यह भाव हुआ उसका। अपने उपयोगमे उनको मिलाया जाय ऐसे भावोसे सिद्ध भगवानकी पूजा होती है।

प्रभुपूजामें आशीर्लाभका प्रकरण—इस अर्घके बादमे आशीर्वादात्मक छंद है—भगवानको आशीर्वाद देनेसे अपनेको ही स्वयं आशीर्वाद प्राप्त करनेका मतलब है। तब प्रश्न होता है कि उनको न कह कर सीधा अपनेसे ही अपनेको कह लें कि मैं अपनेको आशीर्वाद देता हू। तो ऐसा कहा नही जाता। लेकिन अर्थ होता ऐसा ही है। जैसे—झाई वाले स्थानमे आवाज इसीलिये करते कि वह प्रतिध्वनित होकर हमको ही सुनाई दे। भगवानकी आशीर्वादात्मक स्तुति करनेसे कोई दोष नही आता। भिखारी लखपति धनीको, अल्पज्ञ और निम्नगुणस्थानी परमेष्ठीको आशीर्वादरूप भावना प्रगट करके उनके प्रति आदर या बहु-आदरके भाव व्यक्त करले। अत. बडे ही छोटो को आशीर्वाद दें, यह एकान्त नही छोटे भी बडोको प्रकारान्तर आशीर्वाद रूप आदर व्यक्त करते है।

त्रैलोक्येश्वरवन्दनीयचरणा, प्रापु श्रियं शाश्वतीम्।
यानाराध्यनिरुद्धचण्डमनस, संतोऽपि तीर्थंकरा॥
सत्सम्यक्त्वविबोधवीर्यविशदाव्याबाधताद्यैर्गुणै।
र्युक्तास्तानिहतोष्टुवीमि सतत सिद्धान् विशुद्धोदयान्॥

सहजसिद्ध पूजामें आशीर्लाभका विधान—जिनकी आराधना करके भव्य आत्मा अविनाशी सुखको प्राप्त हुए ऐसे सिद्धको मैं प्रणाम करता हू। तीन लोकके ईश्वरोके द्वारा वन्दनीय है चरण जिनके, ऐसे होकर शाश्वत सुखको प्राप्त हुए, भीख माँगकर भव्य जीव शाश्वत सुखको प्राप्त नही होते, वे तीन लोकके ईश्वरो द्वारा पूज्य होकरके होते। वास्तवमे तो सहजसिद्ध भगवान जिनकी आराधनासे अविनाशी सुखको प्राप्त होते है सर्वदा महान् हैं ही, लेकिन जहाँ भाव्यभावक भाव दूर हो गया, ऐसे निर्विकल्प आराधनसे निज सहजसिद्ध महान धीर भगवानके दर्शन होते है। इसके लिये मुक्त भगवानका स्वरूप देखा जाता है। सिद्धदेव जो इस आत्मासे भिन्न है भक्त उनकी पूजा नही कर सकता। वे तो व्यवहारसे पूजे जाते है, ऐसी बात है। जितने भी आज तक सिद्ध हुए है और केवलज्ञानरूप परिणमे है उनकी आज भी वही स्थिति है, कि ज्ञान स्वभावको उपादान रूपसे करके अपने उपदान रूपसे परिणाम रहे है। और अरहंत अवस्थासे पहिली अवस्थामे पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क शुक्लध्यानमे है, वहाँ भी निजको उपादान करके परिणम रहे है ऐसे योगी जैसे आजकल विदेह क्षेत्रमे पाये जाते है तथा जो श्रुतज्ञानसे स्वत: परिणाम रहे है तथा उनसे भी नीचे गुणस्थानोमे, अप्रमत्त देशविरत और अविरत अवस्थामे हैं वे भी (अपने ज्ञान स्वभावसे परिणाम रहे है) यही काम कर रहे है। दूसरेके ज्ञानस्वभावको कोई नही परि-

रामता। हम दूसरेसे सिद्ध बनकर नही परिरगम सकते। कोई आत्मा किसी आत्माकी स्तुति वदना नही कर सकता। जो अपने आपके ही आदरमे हो वे सिद्ध होते हैं। किन्तु कारणमे कार्यका उपचार करके कहा जाता कि सिद्धकी आराधनासे सिद्ध होते हैं। लोकमे वडे पुरुषका जो सेवक होता वह है भी अनेक व्यक्तियो द्वारा आदर पाता है। फिर भी स्वामीके समान आदर नही पाता। किन्तु सिद्ध भगवानकी सेवा पूजामे यह वात नही है, सिद्धका पूजक सिद्धपदको प्राप्त हुए सिद्धोके समान इन्द्रो द्वारा पूजित होकर शाश्वत लक्ष्मी को प्राप्त होता है। विशुद्धज्ञानकी परिरगतिमे आ जाना ही, शाश्वत् लक्ष्मीका प्राप्त होना है। इस विशुद्ध ज्ञानकी आराधना करके सिद्ध होते हैं। तो सिद्ध होनेमे पहिले तो त्रैलोक्य के ईश्वरो द्वारा वदनीय हुए और शाश्वत श्रीको प्राप्त किया और पीछे निरद्धचण्डमन हुए। जिस स्वामीकी कृपासे यह मन प्राप्त कर पाया उसे ही नष्ट करनेमे जो लगा है उसे कहते हैं चण्ड। लोकव्यवहारमे कहा जाता कि तुम बडे चन्ट हो, तो मन ऐसा ही चंट है। जिस सिद्धकी आराधना करके यह मन स्थिरताको प्राप्त हुआ, क्योकि चचल वस्तुका आश्रम लेकर तो मन रुक नही पाता, निश्चलका आश्रय लेकर कही निश्चल होता। तो निश्चलताके लिये निश्चल स्वरूप उस सिद्ध भगवानकी ही आराधना की जाती। उनके आश्रयसे उपयोगमे स्थिरता आती है, निश्चलता होती है। लौकिक पदार्थोंमे भी मन रुकता है लेकिन ऐसा ऊपरी तौरपर देखनेसे मालूम पडता है किन्तु वहाँ रुकता नही, निश्चल नही होता, चंचलता बनी रहती है। यदि रुक जाय तो निर्विकल्पता आ जानी चाहिये सो होती नही।

अनंतगुणसम्पन्न सहजसिद्धका संचर्चन—तो यह सहजसिद्ध आत्मा निर्विकल्प दशा को प्राप्त कर इन्द्रो द्वारा वदनीय होकर मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करता है ऐसी सिद्धात्माओको तीर्थंकर भी आराधना करके सिद्ध हो जाते है। विरक्त होनेपर पहले सिद्धोको नमस्कार करते हैं और परिग्रहत्याग केशलोचकर योग धारण करते है। ऐसे जिनकी आराधना करके मुक्ति प्राप्त होती है उन्हे पूजते हैं। किसके द्वारा ? "सत्सम्यक्त्वविबोधवीर्य विशदाव्या वाधताद्यैर्गुणै। प्रशस्तसम्यक्त्व ज्ञान वीर्य और सुखादि गुणोके द्वारा अथवा अभिन्नतासे चूंकि गुणोसे भिन्न गुणी नही, अत इन गुणोसे परिपूर्ण सहजसिद्ध आत्माके द्वारा पूजता हू। जव वहुत वडा लाभ हाथ आता तो उसके लिये कार्य भी तदनुरूप किया जाता। जब महान आत्मा हाथ आता तो उपहार भी उसके लिये उतना वडा होना चाहिये तो उनकी पूजन उनके अनुरूप चैतन्यभावोसे ही की जा रही है। और हमारे पास कौनसी सामग्री है जिससे उनकी पूजा हो सके ? विपरीत भावोका निकल जाना सो सम्यक्त्व है, जो पदार्थ जिस रूपसे है उसका उस रूपसे ज्ञान होना सो सम्यक्ज्ञान है। सिद्ध भगवान सम्पूर्ण द्रव्यो

को गुणोको और उनकी पर्यायोको जानते है। लेकिन जो न द्रव्य है, न गुण है और न पर्याय है उसे नही जानते, क्योंकि ऐसेका अस्तित्व नही। यदि अस्तित्व किसी रूपसे कहा भी जाता है तो वह उपचारसे काल्पनिक अपेक्षासे होगा। जैसे हमारे हाथसे चौकेका अन्तर—१ बीता है तो यह दूरी न गुण है और न पर्याय और न कोई द्रव्य भी। इसी तरह यह छोटा है, यह बडा है ऐसा भी नही जानते। उस उस पदार्थको उस उस मापमे अवश्य जानेंगे लेकिन उससे यह छोटा है, यह बडा है ऐसी विकल्प रूपसे नही जानते लेकिन कोई जीव दूरीका छोटे बडे आदिके विकल्प करता हो तो उसे जानेगे क्योकि वह विकल्प उस जीव द्रव्यकी पर्याय है लेकिन भगवानके दूरी लबी, बडी आदि रूप विकल्प नही होते। ये विकल्प तो आपेक्षिक रूपसे श्रुतज्ञानियोके होते है। सिद्ध भगवानका ज्ञान सर्वद्रव्योके द्रव्य, गुण और पर्याय विषयक होता है। हमारे मनमे विचार आया ईशरी जाना है, तो इस विकल्प सहित मुझे वे जान रहे है। प्रयोजन यह कि नैगमनयका विषय-भूत ज्ञान विकल्प विशुद्ध ज्ञानमे नही है। आप कहो कि तो भगवानके उतने ज्ञानकी कमी आ गई, सो बात नही है। उस ज्ञान कल्पनामे रहनेवाले जीवको भगवान जान रहे है। यह इस तरहका विकल्प कर रहा है ऐसा भगवान जानते है। विकल्प करने वाले सब श्रुतज्ञानी उनके ज्ञानमे आ रहे है। सो उसका ज्ञान तो हो गया, लेकिन वहाँ कल्पना नही।

विराग सनातन शान्तनिरंश, निरामय निर्भय निर्मलहंस।
सुधामविबोधविधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह ॥

सहजसिद्धतत्त्वका व सहजसिद्ध भगवानका अभिनन्दन—यह पूरी पूजा संस्कृत भाषामे है। जयमालामे सरल संस्कृत और सम्बोधनके शब्द होनेसे जयमाला हिन्दीकी मालूम पडती है, लेकिन ऐसा नही। यहाँ सहजसिद्धोसे आशीर्वाद लेनेके रूपमे सहजसिद्धका आशी-र्वादात्मक अभिनन्दन किया है। हे विशुद्ध सिद्धोके समूह प्रसन्न होओ। सहजसिद्ध भगवान जो कि अपने ही स्वभावसे पूर्ण निष्पन्न हुए है और वे सहजसिद्ध भगवान जो कि प्रत्येक आत्मामे अनादि अनंत अहेतुक, चित्स्वभावमे अभिन्न है स्वत सिद्ध है, भावोकी निर्मलता प्रगट करने के लिये जैसे व्यवहारमे अरिहत और सिद्धकी आराधना करते हैं उसी तरह व्यवहारमे अपने सहजसिद्धकी भी आराधना करते हैं। निश्चयसे पूज्य और पूजकमे भेद नही। सहजसिद्धकी पूजा करते हुए कभी आत्मस्वभावपर और कभी सिद्धपर ध्यान रखता है। दोनोमे मेल बैठाता है। स्वभावसिद्ध और सिद्ध भगवानपर सदृशता होने से पुजारीका ध्यान घूमता रहता है। हम आपकी शरण है तो एक भगवद्भक्ति है। भगवद्भक्त भगवानका ध्यान रखता हुआ अपने स्वभावके उन्मुख होता है। और कहता है कि आप प्रसन्न हो। शका होती कि भगवान सिद्ध लोकमे विराजमान हैं, और अपने चतुष्टयमे है,

फिर प्रसन्न होनेका क्या मतलब ?

सहजसिद्धके प्रसादका चित्रण— यद्यपि पुजारी यह अच्छी तरह जानता है कि कोई किसीपर खुश नही होता, अरहंत सिद्ध तो विरागी ही है और यहाँपर भी कोई किसीपर कुछ नही करता। अपनी-अपनी योग्यतासे सबकी क्रियाए वा भव क्रियाए होती है। उस पदार्थकी क्रिया उसीमे होती है। आत्माकी पर्याय रागरूप हो या ज्ञानरूप, होगी आत्मप्रदेशो मे ही, उसके बाहिर नही। जिसकी जो क्रिया होती है वह उसीमे होती है। राग आत्माके चारित्रगुणका विकार है, वह आत्मप्रदेशोमे ही रहेगा उसके बाहिर वह नही जायगा। तब रागद्वेषपर क्या किया ? अपने चारित्रगुणमे विकार किया। तब कहनेमे ऐसा क्यो आता कि इससे राग किया ? कारण यह है कि राग आत्माका विभावपरिणमन है और विभाव परिणमन निमित्तके आश्रय बिना नही होते। जैसे–किसीसे कहा जाय कि राग तो करो, लेकिन परका आश्रय मत लो तो ऐसा नही हो सकता। राग औपाधिक भाव है, वह आत्मा की उस जातिकी योग्यता और बाह्यमे उस तरहके आश्रयसे होता है। हां प्रयत्न करनेपर भी आत्मासे ज्ञान नही हटता, क्योकि वह उसका स्वभाव है, उसी तरह रागद्वेष आदि भी नही हट सकेगा यदि उसे निमित्तके आश्रयसे न माने तो। निमित्तका आश्रय न माननेसे वह आत्माका स्वभाव बन बैठेगा। ऐसा होकर भी कारणमे कार्यका उपचार करके कह लो परन्तु कोई किसीमे प्रेम नही करता, प्रत्येक अपनेमे ही परिणमता। लेकिन निमित्तसे ऐसा कहा जाता। व्यवहार किया जाता कि अमुक अमुकसे प्रेम करता। परन्तु प्रत्येक अपने अपनेमे ही परिणमते। तो हम यहाँपर भी आपसमे जब यह नही कह सकते तो भगवानसे प्रसन्न होनेको कहनेका क्या मतलब ? जिनको निमित्तमात्र करके अपने आपमे पहुंचनेकी तैयारी की, वहाँ जिनके लक्ष्यसे वीतराग भावमे पहुचनेकी तैयारी हो रही है उनको निमित्त करके कह देते (वीतरागता, निर्मलता और प्रसन्नता एक ही बात है)। वास्तवमे तो अपनी ही प्रसन्नता होती है सच्ची भगवद्भक्ति अपनेको प्रसन्न करनेमे ही है। ऐसा जब करते नही बनता तब बाह्य साधनोका अवलबन लेते है। यही कारण है कि साधुके लिये श्रावक के समान द्रव्यपूजनका प्रतिबन्ध नही होता। जिनबिम्बदर्शनकी आवश्यकता जैसे श्रावकको बताई गई है, वैसी मुनियोके लिये नही। मुनि जगलमे भी रहते हैं और बिना किसी अवलबन के भगवद्भक्ति कर लेते, उनके चित्तकी ऐसी ही निर्मलता होती है कि अवलबनके बिना भी अपना उपयोग जोड सकते। तो जिनको आश्रय बनाकर स्वभावका स्वाद लिया, प्रसन्नता प्राप्त की उनको कह दिया जाता कि प्रसन्न होओ, निर्मल होओ। और वे तो निर्मल ही हैं, हमे निर्मल होना है। किसीसे जब यह कहते हैं कि आप मुझपर प्रसन्न होओ तो उसका मतलब यही होता है कि हम जो चाहते है वह हमे मिल जाय। भगवानसे प्रसन्न होनेको

कहनेका यही मतलब है ।

नयदृष्टिसे प्रसादकी छाया—'प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह, विशुद्धके दो अर्थ हैं–१–पूर्ण निर्मल और २–विविध शुद्ध–अनेक शुभोपयोगकी अवस्थाएं । यहाँ पर स्वभावसिद्ध अपनी आत्मामे दोनो अर्थोसे घटित कर सकते है और कर्मयुक्त सिद्ध भगवानमे पूर्ण निर्मल का अर्थ ही घटित करना चाहिये । यदि इस विशेष आध्यात्मिक शैलीसे प्रदेश करे तो यह आत्मा स्वत सिद्ध है, और भेद विवक्षासे देखते हैं तो वे भगवान भी स्वत सिद्ध है । अभेद को जब हम भेददृष्टिसे देखते हैं तो उसमे अनत शक्तिया मालूम होती है । परकी सहायता की अपेक्षा बिना जो सिद्ध है, निष्पन्न हैं उन्हे सुसिद्ध कहते है । आत्माके सारे गुण ऐसे ही हैं । तो सुसिद्ध गुणोका पुञ्ज जो आत्मा विशुद्ध है सामान्य दृष्टिमे एकस्वभावी है, ऐसे आत्माके लिये पूजक कहता है कि प्रसन्न होओ अर्थात् तुम्हारे ही अनुरूप ज्ञानोपयोग बनो । समयसारमे किस बातका वर्णन है ? समयसारका । उसमे कहा है—

णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णादा, जो सोउ सो चेव ॥

जो न अप्रमत्त है और न प्रमत्त, जो न बद्ध है और न मुक्त । जो इन परिणतियोसे नही जाना जाता है । ऐसा जो ज्ञायकभाव उसमे हम पहुचे वही है तो हमारा लक्ष्य है । तो सिद्ध भगवानकी पर्याय स्वभावके अनुरूप है अत उसकी भक्ति करके अपनेमे उस पर्यायको प्रगट करनेका उत्साह बढाया जाता । ऐसा भी कहा जा सकता कि किसी भी पर्यायमे वह आत्मा हो, पर्यायको छोडकर उस ध्रुवस्वभावी आत्माको जाना जा सकता है, लेकिन एका-एक ऐसा होना बहुत कठिन है । पहिले रागपर्यायको छोडकर शुद्धपर्यायको लें तब साध्य सरल मान्य होता । अरहंत, सिद्ध भगवानकी भक्तिके कारण समयसारकी अनादि अनंत स्वभावसिद्धकी दृष्टिरूप पर्यायमे पहुचते हैं ।

उपयोग तो विरागका बनाया है। तो भगवानकी वीतरागताको देखकर भक्त कहता कि मैं भी विराग हू। किसी नयको किसी अन्य नयके विषयमे लगानेसे आपत्ति होती है, यहा प्रभु से कहा जा रहा है कि आप विराग है, सनातन हैं आदि।

हे प्रभो आप सनातन है। सिद्ध आत्माका स्वचतुष्टय कभी नवीन नही बनता, वह तो हमेशासे चला आ रहा है। स्वभावसिद्ध आत्मा भी सनातन है। सिद्ध शात है, उनका चतुष्टय उनमे है। जहाँ सब कषाये दूर होती वहाँ शाति रहती। भक्त भगवानकी पर्यायको देखता हुआ अपनेपर दृष्टिपात करता है, पर्यायमे कषाय रहती हुई भी निजस्वभावमे सिद्धत्वका अनुभव करता। यद्यपि देर तक उस शातिका उपभोग नही कर पाता। देर तक वहाँ नही ठहर पाता। फिर भी उतने समय तक सिद्ध जैसे जिन हैं वैसे वह द्रव्यदृष्टिमे आता। जहाँ अतर्मुख चित्प्रतिभास रूप दर्शन होता वहा द्रव्यमे केवल चित्प्रतिभास रह जाता। भगवान का ज्ञान अखड है, हमारा जैसा खड रूप नही जैसा कि हमारी पर्यायमे है। लेकिन यह कभी नही हुआ कि कोई शक्ति कभी कम और कभी ज्यादा हुई हो। पर्यायोमे भेद होता है, परन्तु पुजारी जब स्वभावपर दृष्टि देता है तो अनुभव करता है कि मैं भी स्वभावमे यही हू जो भगवान हैं। अपूर्ण कोई नही। सत् अधूरा नही होता। वह अनत गुणोका पुज है परन्तु पर्यायदृष्टि रखकर इसे खड खड रूप बनाया। अमुकको जाना, फिर अमुक को जाना आदि—ज्ञानाश रूप हुआ। परन्तु प्रभुका ज्ञान निरंश है। आत्मा भी निरश हैं। जितने भी सत है वे भी निरश हैं। द्रव्य हमेशा निरंश रहा करता, अत पुजारीकी दृष्टि अपने आपपर भी लक्ष्य रखती।

निरामय निर्भय निर्मल हंस सहजसिद्धका अभिनन्दन—भगवान अशरीरी है, अत उनमे रोग नही है। रोग कल्पनामे है। आत्मा चेतन है, अमूर्त है, शरीरसे भिन्न है। इस ससारी आत्मामे भी रोग नही। आत्मामे रोग, राग द्वेष, मोहका होता, सो स्वभावमे वह भी नही है। और वातज पित्तज और कफज-रोग तो शरीरमे ही होता है, आत्मामे नही। शरीर मूर्तिक व वात पित्त कफ भी मूर्तिक हैं। ससारी आत्मामे पीडा तो है लेकिन वात पित कफ नही हैं। तो जो वात पित्त और कफके आश्रयसे बना उससे कह देते हैं कि अमुक को वातज रोग हो गया आदि। तो पर्यायमे रागद्वेषादि रोग हैं, पर स्वभावमे नही। भक्त ऐसी भावना करता है कि ऐसे स्वभावमे ही भाव ही प्रगट रहे। और भगवान तो पर्यायमे भी निरामय है। भगवान निर्भय है। कोई विकल्प ही नही तो भय किसका ? स्वभावकी दृष्टिमे इस संसारी आत्मामे भी भय नही है। सिद्ध आत्मा रागद्वेषादि मलसे रहित है। जब तक हम किसीके निकट नही पहुचते तब तक हम उसके सच्चे भक्त नही कहला सकते। हम शरीर आदिके द्वारा उसके नजदीक नही पहुच सकते। स्वभावका मिलान करके

पहुच सकते है। क्षीर नीरका भेद करने वाला हंस पक्षी होता है। उस रूपकसे आत्मा (सिद्ध आत्मा) पुद्गलसे पृथक है और स्वभावसे यह ससारी आत्मा भी, अत वह हंस है।

सुधाम विशेषनिधान सहजसिद्धका अभिनन्दन—हे भगवन ! आप उत्तम धाम को प्राप्त हैं। आपकी आत्मा मुक्त (स्व) क्षेत्रमे विराजमान है। आप विशेष ज्ञान–केवल ज्ञानके निधान–भडार है और मोहरहित हैं, ऐसे हे सिद्ध भगवन ! प्रसन्न होओ। भक्तकी ऐसी निर्मल भावनासे जो पूजा होती है, उससे वीतरागताकी जागृति होती है। सिद्ध पूजामे जीवनमुक्त अरहंतकी पूजा भी गर्भित है, जब कि संसारी आत्मामे भी स्वभावकी दृष्टिसे पूज्यपना माना है, तब वे तो जीवन्मुक्त ही है। अनुजीवी गुण तो उनमे सभी पूर्ण प्रकट है। फिर भी सम्पूर्ण द्रव्योकी गुण पर्यायोको वे जानते है और अपनेमे लीन रहते है। जैसे कहा है—'सकलज्ञेयज्ञायक तदपि निजानद रसलीन'। लोग सोचते होगे कि भगवान अपने आपमे लीन रहते, सो अपने आपको जानते, परको क्या जानते ? सो भैया ज्ञेयके आकारके प्रतिभाससे परिणमता सो परका जानना तो हो ही गया। ज्ञानका काम जानना है, उसकी सीमा नही है, सो ज्ञान सबका ही तो होगा।

ज्ञानभक्तिमें ज्ञानपुञ्जका अभिनन्दन—इन दिखने वाले पदार्थोमे से कुछको तो हम जानते ही है। सो ऐसे कुछको जाननेसे ज्ञानपना या ज्ञानका महत्त्व नही है। यह ज्ञान तो निमित्ताधीन ज्ञान है। सहज विकासकी बात यहाँ नही आई। ज्ञानका स्वभाव ही जानना है। 'हम इतने पदार्थोंको जानते है' ऐसा कहकर दर्प मत बढाओ। इसको ऐसा न कहना चाहिये कि हम इतनेसे अतिरिक्त पदार्थोको नही जान पा रहे, हमारा काम तो विशाल है ज्ञानका स्वभाव जाननपना है, फिर भी उसमे सीमा नही है। तो स्वभावमे जब वह सीमा-बद्ध ज्ञान नही तो कर्ममुक्त अवस्थामे भी सीमा कहाँसे आयगी ? तो भगवान पदार्थोको निज ज्ञेयाकार रूपसे जानते, सम्पूर्ण द्रव्य गुण पर्यायोको जानते, किन्तु निमित्तोकी दृष्टिसे नही। ऐसा विकल्पातीत निर्मल जिनका ज्ञान है, तथा ऐसी जिनमे अनत शक्ति है कि अपने आपमे निमग्न रहते। अपने आपमे वही रहता जो अनत शक्तिवाला होता, कमजोर व्यक्तिके नाक अधिक बहती, अधिक बार पेशाब जाता, वह इसलिये कि शरीरमे उन मलोसे यथा समय डाटनेकी ताकत नही है, शरीर सबल रहनेपर उसके धातु, उपधातु आदि यथोचित समय तक स्थिर रहते, लेकिन निर्बलता आने पर ऐसा नही रहता। इसी तरह आत्माको अपने अनंतगुणोको डाटनेके लिये बडी भारी ताकतकी जरूरत है, वह शक्ति भगवानमे होती है तथा वे अव्याबाधगुणसे पूरित है। वे अनतसुखसे परिपूर्ण हैं। जितने दु खोके अभावमे वह गुण प्रगट हुआ वे उतने ही सुखके धनी है। अनत दु खोके अभावमे अनत सुख होता अथवा सुख आत्माका स्वरूप ही है। उससे जो अनंत तरहके विकार आकर वह अनंत

दुःख रूप या इन्द्रिय सुख रूप परिरणमता उन विकारोके दूर हो जानेपर स्वाभाविक अनत सुखसे परिरणमन करने लगता है। ऐसे महान सम्यक्त्व ज्ञान वीर्य और सुख आदि गुरणोसे पूरित भगवानको मैं पूजता हू। सो हे भगवन ! मैं इन गुरणोका लोभी होकर नही पूजना। और कोई चाहे तो उसे मिलते भी नही। हमको ये दर्शन, ज्ञान आदि नही चाहिये। तो क्या चाहिये ? इसका उत्तर भी हम नही दे सकते। तो ध्यान क्यो करते ? हो जाता है, जब मोह और विषयकषाय नही होते तो आपका ध्यान हो जाता है। प्रोगाम बनानेपर भगवान नही पुजते। अगर कोई पूछने पर ही उतारू हो जाय तो हम क्या चाहते है, सो सुनो---

सहजसिद्धसंचर्चनमें संचर्चकके स्वयके स्वयंमें बोधन, दर्शन, निराकुलन व समाने की अभिलाषा---अनत ज्ञान मिलो चाहे न मिलो, उसकी मुझे चाह नही है, मैं इतना ही चाहता हू कि अपने स्वयको जान लूं। अगर कोई यह कह दे कि आपने ऐसी चीज मागी कि जिससे तीन लोकका ज्ञान आ ही जाता है। तो इसके लिये मैं क्या करूं ? मैं उस बहानेसे थोडे ही निज ज्ञान चाहता हू। अनतदर्शन मिलो, चाहे न मिलो, उसे मैं नही चाहता, मैं स्वय अपने को ही देखता रहू इतना ही चाहता हू। मैं अनत सुख भी नही चाहता, आकुलता मिट जाय केवल यही चाहता हू। चचलता दूर हो जाय, अनत शक्ति मिलो या ना मिलो उसकी मुझे चाह नही है किंतु मैं अपनेमे ही ज्ञानरूपसे बैठ जाऊ यही चाहता हू। इनके होनेसे और कुछ हो तो हो, हमारी कुछ वाछा नही। ऐसा आपका यह भक्त है भगवान अनत गुरण आपकी पूजा करता हू। सो मैं एक नही अनत सिद्धोको पूजता हू। प्रश्न--एक सिद्धका ही स्तवन कर लिया जाय सबको पूजनेका क्या प्रयोजन ? उत्तर--मुझे निजानुभूति या मुक्तिरूपी कन्यासे पारिणग्रहरण करनेके लिये उसके अनुरूप बरात सजाना है, मैं उसके लिये प्रयत्नशील हू। तो इतने बडे कार्यके लिये बरात भी बडी बनाना है सो ऐसे बडे बराती ये सब सिद्ध भगवान है। दूसरी बात यह कि यह इतना बडा काम है कि एक सिद्धसे काम नही चलता, अत अनत सिद्धोको आह्वान करते है। उन अनत सिद्धोको फिर अभेद भावसे निर्मल अभेद एकानेक विकल्परहित चैतन्य स्वभावमे ले जाऊ और अभेद ध्यानी बनूं। निश्चयत बहुत सिद्धोको पूजनेकी सार्थकता यह है कि जब शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत कर्ममुक्त सिद्धात्माओको अपना आराध्य बनाते हैं, तो सिद्ध एक नही है, वे अनत हैं। उन सबमे कोई ऐसा भेद भी नही है कि जिसमे हम किसीको निम्नकोटिमे छोडकर उच्चकोटिके सिद्धोको ही आराध्य बनावे। तीर्थंकर सिद्ध आदिकी विशेषता व्यवहारसे है निश्चयसे नही, अत एक सिद्धको पूजें, तो किसको पूजें किसी एक तीर्थंकर सिद्धको-ही पूजें तो उसमे हमारे स्वभावका अज्ञान या अनादर होता है। स्वरूपकी रुचि वाले पूजककी तो

स्वभावसिद्ध सभी आत्माए आराध्य है। उन सब आत्माओंका एक साथसे जो ध्यान है वह अनेक संख्याको छोड देता है और एक स्वभावरूप रह जाता है तथा तिर्यक् सामान्यरूपसे एक सामान्य हो जाता है। उस सामान्यस्वरूपकी आराधना निजकी पर्याय है और यह निज सामान्यस्वरूपको अनुभवता हुआ प्रगट होता है। इस तरह उन सर्व अनतसिद्ध महाराजोका ध्यान अन्तमे निज अभेदस्वरूप चैतन्यभावका स्पर्श करानेको पूर्ण कारण होता है। इस प्रकार सहजसिद्धदेवकी विविध अर्चना करके अब जयमालामे कहते है--

विदुरितसंसृतभाव निरग, समागृतपूरित देव विसग।
अबन्ध कषायविहीन विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥

विदूरितसंसृतभाव निरङ्ग सहजसिद्धकी उपासना--अत्यन्त दूर हो गया है संसृतभाव जिनके, इसीको मुक्त अवस्था कहते है जहाँ सासारिक परिणाम दूर हो जाते है। धर्मके लिये भाव बनानेको गन्दे भाव दूर करना चाहिये, इसके लिये सहजभावपर दृष्टि जानी चाहिये। भगवानकी पूजा वन्दना आदि भाव बनाये जाते है, ये भाव सहज नही होते, अत. निश्चयत धर्म भी नही है, लेकिन उपयोगी जरूर है। मात्र विषयकषायका परिणाम न आने देनेके लिये। यह समझ आनेपर कोई यह समझे कि भगवानके प्रति भक्तिके भाव मद पड जावेगे या भक्तिभावमे न्यूनता आवेगी सो बात नही। जैसे जैसे सहजभाव प्रगट होगा त्यो त्यो यदि विकल्प हो सिद्ध भगवानमे आदरकी विशेषता होगी। पूजा करने वाले यदि पूजाको वास्तवमे तेज बढावें तो पूजा नही रहती, अद्वैतभक्ति हो जावेगी तथा साधारण लोग पूजाके यथार्थ मार्गपर नही चलते तो पूजाकी झझट वनी रहती है। पूजाकी यही विशेषता है कि पूज्यतत्त्वका--परमात्मस्वरूपका ध्यान रहनेपर आत्मा आत्मस्वरूपमे स्थिरता प्राप्त कर लेता। निरग--आप निरग है, अगरहित है। निरंगके २ अर्थ है १-अंश-रहित, २-शरीर रहित। दोनो अर्थोमे सिद्धका स्वरूप प्रगट होता है। भगवान स्वरूपसे परिपूर्ण है उनमे साशपना नही है और देहरहित भी है। परमशुद्ध निश्चयनयसे हमारी आत्मा भी सर्वभावरूप-स्वरूपसे परिपूर्ण है, और आत्मा तथा कर्मका कभी तादात्म्य नही होनेसे वह देहरहित भी है। नि.शेष अङ्ग अश या गुणोसे परिपूर्ण है। सिद्ध भगवानकी पर्याय भी छद्मस्थ अवस्थाकी साश परिणतिसे वा देहसे मुक्त हो चुकी है, शरीर जड वस्तु है उसके सगमे आत्मा पिटती है, वैभाविक परिणमनमे जाती है, दु खको अनुभव करती है। जैसे—लोहेके संसर्गसे अग्नि पिटती है। लुहार अग्निको नही पीटना चाहता लेकिन लोहेको पीटनेसे वह भी पिट जाती है। आत्मा ,यदि कर्मका सयोग न करे तो उसे दु खका कभी भी अनुभव न करना पड़े, लेकिन कर्मके सयोगकी अवस्था बनाता है अत दु खमे पडना पडता है।

समामृतपूरित सहजसिद्धप्रभुका अभिनन्दन—समामृतपूरित—आप समतारूपी अमृत से पूरित हो। समता जीवका स्वभाव है। जीवके भाव और अजीवके भावकी वह मेड है। जैसे—दो किसानोके पास-पासमे खेतोको अलग करनेवाली मेड होती है इसी तरह जीवभाव और पौद्गलिकभावके अलग करनेकी तरकीव है समता, समता ही जीवका भाव है, जब कि विषय विकारीभाव पुद्गलके संयोगसे जन्य पौद्गलिक भाव है। समतासे जीवके स्वभाव की पहिचान होती है। समता जीवका स्वभाव है, वह पर्यायमे धर्म आनेपर प्रगट होता है। स्वभावमे हमारी आत्मा समतारूपी अमृतसे परिपूर्ण है। लोकव्यवहारमे भी जो जितना गम खाता है वह उतना ही शात रहता है। जो समताभाव रखेगा वह पुष्ट रहेगा, शरीरसे व मनसे। गम खानेसे कलह और विसवाद नही होते, घरमे जो महनशील होता वही वडा कहलाता, यही नही किसी भी क्षेत्रमे जो जितना सहनशील होगा वह उतना ही बड़ा कहलायगा। जरा जरा सी वातमे झगडा करनेवाले वड़े कैसे वन सकते हैं? कभी नही। महात्माकी पहिचान समता है। एक त्यागीजीके पास एक साधर्मी भाई गये, और त्यागीजीसे उनका नाम पूछा, उन्होंने अपना नाम शीतलप्रसाद वताया। कुछ देर वाद फिर पूछा, उन्होने फिर वता दिया। कुछ देर वाद फिर पूछा, अवकी वार वे गुस्सा हो पडे और वोले तुझे कितनी वार वतलाऊ, तव वे यह कहते हुए चले गये कि आपका नाम ज्वाला-प्रसाद है यह मैं समझ गया। उन महाशयको त्यागीजीके त्याग—समताकी परीक्षा करनी थी, सो हो गई। उडदका एक पकवान वडा वनाया जाता है, समतामे उसका रूपक यो कहते हैं—खेतमे जब उडद पक जाता है तव कूटकर छिलकेसे उसे अलग करते है। पीछे चक्कीके ऊपर नीचे दोनो पाटोंके बीच उसको दला जाता है, ओखलीमे मूसलोकी चोटे सहना पडती हैं। पीछे पिसकर टुकडे टुकडे हो जाता है, और जल मिलाकर गूंदा जाता है। फिर उवलते हुए घीमे अपनेको अर्पण करनेपर वडा वनता है। इतना सब कुछ सहते हुए जब वह स्वाद मे बडा बनता है। यही हाल प्रत्येक प्राणीका है। वह समतामे जितने उपद्रवोको सहता है, दुःख भोग लेता है उतना ही वडा वनता है। जो चीज सही होती है वह सुगमतासे समझी जाती। कई लोग ब्रह्मका अनेक प्रकारसे वर्णन करते, लेकिन उनके पूछा जाय कि सच कहो क्या आपको ब्रह्मका अनुभव हुआ? तो यदि वे सचाईसे कहेगे तो नकारात्मक उत्तर होगा। लेकिन सत्यताकी कसौटीपर कसे गये अहिंसाधर्मपर जो अमल करता है वह अधिकसे अधिक ६ माहमे ब्रह्मका अवलोकन करने लगता तो ब्रह्म जो आत्मा उसके सच्चे स्वरूपको जानकर निर्विकल्परूपमे रहकर इसे देखेगा उसके समता आयगी। भगवान अपने आपमे रमने वाले ज्योतिरूप है।

विसङ्ग सहजसिद्ध प्रभुकी उपासना—सहजसिद्ध प्रभु निःसग है। जितना दुःख है वह

परिग्रहका ही है। जगतके जीव परिग्रहके भारसे इतने बोझीले बन गये हैं कि उनके दुखका कोई ठिकाना नही है। जीवके खुदकी विपरीत मान्यतारूप परिग्रह सबसे बुरा और घातक है, उसीके रहते हुए बाह्य चेतन अचेतन परिग्रह उसके दुखका निमित्त कारण बन जाता है। मूलमे परभावोका संग छोडना सबसे बडा महत्त्वका काम है। अनादिसे जीव जो नही कर पाया वह यही कि इसने अपनी भूलको भूल नही समझा और भूलको भूल न समझनेका कारण है अपना वास्तविक स्वरूप न समझना। अपने सच्चे शुद्धरूपको पहिचान ले तो अनादिकी चली आई मिथ्या अहकार और ममकारकी भूल तुरन्त समझमे आ जावे। लेकिन जीव परके सयोगमे जब इतना तन्मय हो गया कि वह अपनेको भूल परको ही अपना मानने लगा तो उस परपुद्गलने भी उस परनिमित्त रूपसे असर डाला, वस्तुत प्रत्येक द्रव्यका असर अपना अपनेमे ही है, दूसरेपर कुछ भी नही, लेकिन उन निमित्तोंके कारण वे जीव या पुद्गल अपने उपादानसे उसरूप परिणमते हैं। निश्चयकी दृष्टिमे देखा जाय तो सम्पूर्ण आत्माएं हमेशासे स्वतत्र ही है, निसङ्ग ही है। पुद्गल परमाणु भी जीवका सगी नही बन सका और न जीव परमाणुका, फिर भी एक क्षेत्रावगाही होकर आपमे जो आश्रयापेक्षया या कहिये अशुद्ध निश्चयनयसे एक दूसरेके विकर्म विकारक बनते है, तो उसी दृष्टिसे उनमे सगपना भी कहलाने लगता है। और आचार्य कहते हैं कि वस्तुको जो जिस रूपमे देखता है उस भाव का कर्ता होता हैं। ज्ञानी अपने शुद्ध स्वरूपको देखता है तो वह उसका कर्ता है और अज्ञानी अशुद्धपर्यायको देखता तो वह अशुद्ध भावोका कर्ता होता है। तो वास्तवमे सगपना विकल्प मे ही है, पदार्थ तो अलग अलग ही है, त्रिकालमे भी जीव पुद्गल न होगा और पुद्गल जीव न होगा। यही नही आकाशके एक क्षेत्रावगाही होकर भी एकके प्रदेश दूसरेमे प्रवेश नही करते। अत सिद्ध भगवान उन संयोगके विकल्पभावोसे रहित हैं और उन सयोगोसे भी रहित हैं।

भावना और असग वृत्तिकी महिमाका वर्णन करना कठिन है। यह वह अवस्था है जिनमे आत्मा परमात्मा बनता। इन्द्र धरणेन्द्र और चक्रवर्ती निसग साधुके चरणोकी रज मस्तकपर बडी श्रद्धाके साथमे लगाते है। उनके चरणोपर मस्तक टेककर अपनेको धन्य मानते हैं। आज तक जितने भी सिद्धपदको प्राप्त हुए है और आगे अनन्तकाल तक होते रहेगे वे सब निसङ्ग होकर ही हुए है, निर्ग्रन्थ होकर ही मुक्त हुए हैं। सातिशय पुण्यके धारी तीर्थंकर भी जब तक निर्ग्रन्थ नही होते तब तक अपने स्वरूपमे स्थिर नही रह सकते, कर्मोको नही काट सकते। हम अपनी आंखोके सामने देखते है कि बडे कहलानेवाले राजा महाराजा साधुके चरणोमे अपना मस्तक टेकते है, साधु कभी भी उन्हे ऐसा नही करता। जो साधु, साधु कहला करके भी धनी मानी और लौकिक प्रतिष्ठासे प्रतिष्ठित व्यक्तियोकी खुशामद करते हैं, उन्हे खुश रखनेकी फिकरमे रहते है वे साधु ही नही है, ढोगी और ससारी है। वे आत्मरससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं, मिथ्या वासनासे ग्रसित है। और अपने सिवा दूसरोको भी कल्याणके मार्गसे दूर ले जाने वाले है। अत दु खसे छूटने वाले मुमुक्षुकी वृत्ति नि सगपने की होती है, और वृत्तिमे पूरा नही तो भावना अवश्य ही नि सगपनेकी होती है। जो अपने को भव्य समझता हो, या उस कोटिमे अपनेको रखना चाहता हो, दु खोसे छूटना चाहता हो, ससार जिसे क्षणिक और दु खमयी मालूम होने लगा हो, वह अपनी भावना और वृत्ति को नि सगपनेकी बनावे, सर्वविविक्त निजको देखे।

आजकल सरकारकी तरफसे धन संपत्तिके बारेमे बडी कडी निगाह है, उसको देखते हुए परिग्रह परिमाण व्रतकी यथार्थतापर अवलबन करना अति आवश्यक हो गया है।

अबन्ध सहजसिद्धका अभिनन्दन—हे सिद्ध भगवन ! आप अबध—बंध रहित हैं। स्वरूपसे सनातनसे आप अबंध ही हैं तथा मिथ्यात्व और कषायोसे जो पुद्गलोको अपने आश्रयसे कर्मरूप किया था और वे कर्म आपके पास बैठकर आपमे रागद्वेष पैदा होनेके कारण बन रहे थे, नवीन कार्माणशरीर निबिड बधन और औदारिक वैक्रियिक आदि नो कर्मबन्धनके जो कारण बन रहे थे वे भी क्षीण हो गये, सिद्ध प्रभु केवल हो गये। स्वरूपसे विचारा जाय तो आत्मा स्वतत्र ही है, किसीके बन्धनमे नही है और न कभी हो सकेगा। लेकिन भ्रमसे अपनेको शरीरके बन्धनरूप अथवा शरीररूप अनुभव करता है। जब उसकी नजर परतन्त्रापर ही रहती है और अपने स्वतन्त्र परमात्मीय गुणोसे परिपूर्ण माननेमे हिचकता ही नही, देवत्वके प्रति अपराध समझता है तब उसका मानसिक स्तर सुदीर्घ कालके लिये इतना गिरा हो जाता है कि वह परतन्त्र ही रहता है। स्वभावमे स्वतन्त्रता होते हुए भी अवस्था उसकी परतन्त्र ही रहती है। तब तक जब तक कि वह अपने स्वतन्त्र स्वरूप को स्वीकार नही करता। तो स्वभावसिद्ध भगवान स्वरूपसे और कर्ममुक्त भगवान पर्याय-

से भी अबन्ध है।

कषायविहीन विमोह सहजसिद्धदेवकी उपासना--कषाय विहीन ? हे भगवन ! आप कषायोसे रहित है। कषायभाव परभाव है, परके सयोगसे होनेवाले भाव हैं, अत शुद्ध स्वभावकी दृष्टिमे कषायभाव आत्माके नही है, यद्यपि कषायरूप पर्याय नियमसे आत्माकी ही होती है, लेकिन वह क्षणिक है, एक समय मात्रकी स्थितिवाली है। यदि अगले समयमे हम अपने स्वभाव भावरूप परिणमन करे तो वह हठात् हमको कषायकी पर्यायमे रखनेके लिये असमर्थ है। पर्यायका कार्य वर्तमानको सत् करनेका है। स्थूलरूपसे पूर्व समयपूर्वी पर्याय को उत्तर समयवर्ती होनेवाली पर्यायका कारण मानते, लेकिन जिस पूर्ववर्ती समयमे पर्याय है उस पर्यायके अस्तित्वमे उत्तर क्षणवर्ती पर्याय नही क्योकि दो पर्यायोका एक साथ होना असभव है। अत जब पूर्वक्षणवर्ती पर्याय नष्ट हो लेती है तब (आगे की) उत्तर पर्याय बनती है, जब इस उत्तर समयवर्ती पर्यायकी सत्ता हुई तब पूर्वसमयवर्ती पर्यायकी सत्ता नही है और जब उसकी सत्ता थी तब इसकी नही थी, तब कारण कार्यभाव कैसे बने ? दोनोका अस्तित्व ही नही है उस क्षणमे तो कारणकार्यपना कैसा ? लेकिन पूर्ववर्ती पर्याय को जो कारण कहते है वह इसलिये कि इसके होनेके पहिले वह होती ही है। और उसके होनेके बाद यह होती ही है। अत निश्चयनयमे भी जब अशुद्ध अवस्थाका विचार किया जाता है जो कि वास्तवमे वस्तुकी नही है, परसंयोगके आश्रयसे बनती है तब कषायभाव आत्माका कहलाता तो इस अशुद्ध निश्चयनयसे माने गये कषाय भावोसे भी आप रहित है। और स्वरूपसिद्ध भगवान तो स्वभावत सनातन नि कषाय ही हैं। हे विमोह ! हे सिद्ध भगवन ! आप विमोह हैं, मोहरहित है। मोहका अस्तित्व भी अशुद्धनिश्चयसे है, उसका अस्तित्वस्वरूप सिद्धिके लिये बडा खतरनाक है अत कर्मोमे मोहको मोहराज कहा गया है। उसका अस्तित्व खतम कर देना बडे भारी महत्त्वका काम है। सो प्रगट सिद्ध परमात्माने उसे क्षीण कर दिया है सो ऐसे हे सिद्ध भगवन तथा स्वरूपसिद्ध आत्मा जो कि विशुद्ध और सुसिद्ध है प्रसन्न होओ और ऊर्ध्वतासामान्यरूप निजतत्त्वको देखो तो वह भी मोह ही क्या सर्वपर्यायसे रहित है, ऐसे हे सहजसिद्ध भगवान प्रसन्न होओ।

निवारितदुष्कृत कर्मविपाश, सदामल केवलकेलिनिवास।
भवोदधिपारग शात विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह ॥

निवारितदुष्कृतकर्मविपाश सहजसिद्धप्रभुका अभिनन्दन--हे विशुद्ध सुसिद्धसमूह-सिद्ध भगवान ! आप प्रसन्न होओ। आप कैसे है ? दुष्कृतकर्मजालका जिन्होने निवारण कर दिया है। विपाश जालको कहते है। जैसे—जालमे उलझा हुआ प्राणी कठिनतासे निकल पाता और यदि मूल मिल मिल गया तो सरलतासे सुलझ जाता है, उसी तरह कर्म

का जाल है। कोई ऊपरी जप, तप, शारीरिक क्रियाकाड आदि द्वारा कर्मसे छूटना चाहे तो कठिन ही नही, असभव है। और जैसे—जालके मूल स्रोतका पता पड जाय तो उससे सरलतासे सुलझा जा सकता है, उसी तरह कर्मके मूलस्रोतको जान लिया जाय तो उससे निर्वृत्त हो जाना सरल है। मोह और रागद्वेष कर्मके और छोर है, कर्मोके आश्रवके द्वार यही तो हैं। दो को मिलानेवाले यही है, अत्यन्त जुदे विभाव—स्वभाव जीव अजीव आदि दो की सन्धि करने वाला जो मिथ्याभाव है यदि इसकी गाँठको खोलकर भ्रम भागे तो कर्मोका निकलना कठिन नही है। यदि इनकी गाठ न खुले तो कर्मजालसे निकलना कठिन ही नही असभव है। जैसे जालमे पडे हुए प्राणीकी दुर्दशा होती है वह बात कर्मके जालमे पडे हुए प्राणीकी है। किन्तु हे जिनेन्द्र! आपने ऐसे कर्मके जालका निवारण कर दिया है। एक एक बातपर ध्यान दो। पाश जालको कहते है, उसमे वि उपसर्ग, विशेषताके लिये है अर्थात् कर्मका जाल ऐसा है कि उससे छूटना सरल होकर भी महान् कठिन हो रहा है। ऊपरी क्रियाकाडसे तो इसकी गाठ खुलती नही किन्तु सयम और तप आदि सम्यक्त्वहीन अन्तरङ्गकी पुण्य प्रवृत्ति भी इसे खोलनेमे समर्थहीन है। जालका और छोर न मालूम हो तो उससे छूटना कठिन है।

कर्मकी विपाशरूपता—कर्म एक जबरदस्त जाल है, जालमे कोई फसना नही चाहता, लेकिन मोही जीव कूद कूदकर हंस हसकर इसमे फसता है। द्रव्यकर्म औपचारिक पाश है, लेकिन विभावकर्म ऐसा पाश है कि इससे निकलना कठिन हो रहा है। ऐसी जो वर्गणाए है, जिनका स्वय कोई नाम नही किन्तु विभावका निमित्त पाकर उनमे ऐसी प्रकृति आती कि फिर उनका निमित्त पाकर उस तरहके विभावकर्म भी होने लगते है। जैसे—कोई बिलाव शेरके रग ढंगका हो उसे भी सिंह कहते हैं। लेकिन वह असली सिंह नही है। असली कर्म तो भावकर्म है। क्यो ? कर्मका अर्थ क्या है, कर्म कारकका अर्थ क्या है ? कर्ताके द्वारा जो किया जाय या क्रियाका जिसपर फल पडे उसे कर्म कहते है। तो यह आत्मा किसे कर सकता है ? आत्मा अपने गुणोके प्रकाशको कर सकता है। वह प्रकाश सम्यक् हो या विपरीत। रागद्वेष आदि चारित्र गुणके विकार है। अतएव श्रद्धान, श्रद्धागुणका विकार है। तो रागद्वेष आदि रूप आत्माकी क्रियाका फल कहाँ हुआ ? आत्मामे ही हुआ। उस विभाव कर्मका निमित्त पाकर जिस चीजका बन्धन हो जाय, संयोग हो जाय उसे भी कर्म कहा जाने लगा। जैसे—केला बेचने वाले को केला कहते है उसके नामका पता नही होने से। तो जिन्हे केलाकी जरूरत है वे उसे 'केला' कहकर पुकारते हैं, इसी तरह कर्म तो विभाव रागद्वेष आदि है, और उनसे जो वर्गणाए बन्धती है वे भी कर्म कहलाये। कोई प्रश्न करे कि सिद्धान्तमे तो 'कार्माण वर्गणाए' नामकी वर्गणाए लिखी हुई मिलती है ? सो ठीक है।

हम तो नाम निक्षेपकी अपेक्षा न कहकर भावकी अपेक्षा कह रहे हैं। 'कर्म' में जो अर्थ भरा है उसकी अपेक्षाके बात कही जा रही है, और उनका निमित्त पाकर जिन वर्गणाओं मे ऐसा निमित्तत्व भरा है कि जिनका निमित्त पाकर रागद्वेष आदि होते हैं वे भी कर्म नाम से संज्ञित हैं। तो जिन्होंने कर्म विपाकको दूर कर दिया ऐसे सिद्धभगवानकी पूजा की जा रही है। कर्म आत्माकी लीनतामे बाधक हैं, इस अपेक्षासे सारे कर्म पाप ही हैं। तीर्थंकर यशःकीर्ति आदि कर्म भी इस दृष्टिसे पाप हैं, लेकिन लोकमे जिनका फल पुण्यरूप है उन्हे पुण्य कहते और जिनका फल पापरूप है उन्हे पाप कह देते। लौकिक व्यवहारकी अपेक्षा इनका फल न्यारा न्यारा इष्ट अनिष्टरूप है इसलिये इन्हे पुण्यकर्म और पापकर्म कह देते हैं। अशुभकर्म कुशील और शुभकर्म सुशील कहलाते हैं लेकिन वस्तुत. नही। जो स्वभावमें प्रवेश करावे सो सुशील कहलाता, सो कर्ममात्रस्वरूपमे प्रवेश नही कराते अत. सुशील नही।

सहजसिद्धकी निवारितदुष्कृतकर्मविपाशता—देखो भैया ! जो कठिनतासे दूर किये जायें ऐसे कर्मोको करनेमे संसारी सुभट लगे रहते हैं। कर्म करनेमे भी सरलता नही कठिनता ही है। इसके विपरीत स्वभावका काम सरल है। पर संसारी आत्मा प्रबल योद्धा है कि कर्मको सरलतासे कर लेता, उनके करनेमे परका आश्रय लेना पडता, परकी आकुलता करनी पडती, योग बनाना पडता तब कर्म होते है। संसारका वैभव क्लेशसे होता और क्लेश रूप होता किंतु मोक्षका वैभव सम्पूर्ण क्लेशोसे रहित है और क्लेशरहित निराकुलतामे किया जाता। स्वभावको करना सरल क्यों है ? इसलिये कि उसमे करना धरना कुछ नही है उसमे शारीरिक वाचिक कोई ताकतकी आवश्यकता नही। जो परिश्रम करेंगे उन्हे कर्म मिलेंगे। परिश्रम नही करेंगे तो कर्म नही मिलेंगे। खूब देख लो कर्म कठिन है या स्वभाव। शायद संसारी प्राणी इन्हे इसीलिये नही छोडता कि ये कठिनाईसे उपार्जित किये गये हैं। निवारित वही होता है जो स्वभावरूप नही होता, मलरूप होता। द्रव्यकर्म अत्यन्ताभाव

सहजसिद्धके सदाशिवरूपमें सहज निवारित दुष्कृत कर्मविपाशता—जव स्वरूपपर दृष्टि दी तो अपने आपको यह ज्ञाता भगवान जानता है। हे सहजसिद्ध निज चैतन्यदेव! तुम अनादि, अनंत, अहेतुक हो, तुममे कर्म है ही नही। वे तो अनादिसे निवारण किये हुए है। द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनो ध्रुव आत्मामे अनादिसे नही है। आपको कहा जा रहा है कि आप सदा शिव हैं, बधरहित स्वतन्त्र है। साख्य जैसा कुछ कहते और अनादि सृष्टि-वादी कहते, उस मान्यताके अनुसार कोई अस्तित्व ईश्वरका नही है। हम जो स्वभावतः ईश्वर है उनका अस्तित्व है। पूर्णसत् द्रव्यपर्यायात्मक गुणपर्यायात्मक होता है। उस ही सत्‌को द्रव्य सामान्य देखनेपर सदाशिव मालूम पडता। जैसे—एक ही मनुष्य अपेक्षासे पिता, पुत्र, मामा और फूफा आदि है लेकिन ऐसा नही कि कोई एक अग पिता है, कोई अग पुत्र मामा और फूफा आदि हो। सारेका सारा शरीर फूफा पामा आदि है। पूरेका पूरा जिस दृष्टिसे देखो उस दृष्टिसे वह मालूम पडता। पिताकी दृष्टिसे देखें तो पूरेका पूरा पिता है और पुत्रकी दृष्टिसे देखे तो पूराका पूरा पुत्र है तथा इसी प्रकार और और। इसी तरह इस ही आत्माको जब हम पर्यायसे देखते हैं तो पूरेका पूरा संसारी है। और जव सामान्यकी दृष्टिसे देखते है तो सदाशिव है। तो हे सहजसिद्ध तुम सदाशिव हो। अनादिसे कर्मविपाशको दूर किए हुए हो। ऐसे हे सहजसिद्ध भगवान प्रसन्न होओ।

सदामल केवलकेलिनिवास सहजसिद्धकी उपासना—सदामल—आप सदा अमल हो, निर्मल हो। यह बात भविष्यके लिये है या भूत आदि किसी भी कालको? सभी कालोके लिये साधारण है। कर्मक्षय सिद्ध भगवान जिस समयसे सिद्ध होते है, वे अनन्त काल तक निर्मल रहते है और यह सहजसिद्ध आत्मा हमेशासे निर्मल है। इसमे परके द्रव्य क्षेत्र काल भावका न आना ही उसकी निर्मलता है ऐसा यह आत्मा जिसमे परकी लपेट नही है। आत्मा-की वस्तु अन्य आत्मामे आ ही नही सकती। केवलकेलिनिवास? हे भगवन आप केवलज्ञान मे केलि करनेवाले हैं। केवल एकको भी कहते हैं, तो एकका खेल कैसे? अकेला भी खेल होता है। अकेला बच्चा जब खेलता तो प्रसन्न ही रहता है, और बहुतोमे जव खेलता तब झगडा फिसाद होकर सक्लेशित भी होता, तो केवल एकका खेल देख लो, कैसा होता? और बहुतोके सगका देख लो। तत्त्वार्थसूत्रमे मैथुनमब्रह्म—सूत्र आया है उसमें मिथुनसे मैथुन शब्द बना है। दोके सपर्कसे जो असर होता उसे मैथुन कहते हैं। जब तक कर्मका उदय है, उनके निमित्तसे जो भी भाव हैं वे सब मैथुन है। निश्चयत दो चीजके सवधसे होनेवाले असरको कहता है मिथुन शब्द। यदि 'मैथुनमब्रह्म' सूत्रसे उल्टा सूत्र बनाया जाय तो होगा 'एक ब्रह्म' अर्थात् एक ही चीज हो, एकका ही फल हो और एकका ही कारण हो वह ब्रह्म है। तो भगवान कैसे हैं? केवलका जो केलि करते या केवल अपनेमे जो केलि—क्रीडा

करते है या केवलज्ञानमे ही लीन रहते है। ज्ञायक ही रहते है ऐसे है। और हमारा सिद्ध भगवान कैसा है ? (कर्मक्षय सिद्ध और स्वभाव सिद्ध दोनोकी दृष्टि चल रही है) सत् सामान्य स्वलक्षणकी दृष्टिसे मैं केवल अर्थात् एक हू और उसीमे केलि करने वाला हू। परपदार्थ वा परभावमे केलि करनेका मेरा स्वभाव ही नही है। ऐसे हे सिद्ध भगवान प्रसन्न होओ। जैसे–घरका कोई आदमी बुरे रास्तेपर चलता है तो कहते है कि प्रसन्न होओ आदत को छोडो। इसी तरह हम अपनेसे ही कह रहे है कि खूब भटक लिया अनादिसे अब तक अनन्त उपद्रवोको सह लिया, नरक निगोद संज्ञी असज्ञी देव मनुष्य आदिकी पर्याये धारण कर करके छोड दी। अब तो प्रसन्न होओ अपने रास्तेपर आओ।

भवोदधिपारग शान्त विमोह सहजसिद्धकी उपासना—आप कैसे हो भगवन ! 'भवोदधिपारग' संसारके पार पहुचने वाले हो। भव कहते उत्पन्न होनेको उत्पत्तिको वही हुआ। उदधि माने समुद्र, सो आप उसके पार पहुचने वाले हो। कर्मक्षय भगवान तो जन्ममरणसे रहित हुए इसलिये और यह हमारी आत्मा सामान्य नानेकी दृष्टिसे, सबके स्वलक्षणसे अपना स्वलक्षण अलग रखता, इसलिये यह भी भवोदधि पारग है, जन्ममरणातीत है, अनादि अनन्त है। ऐसे हे विशुद्ध भगवन ! हमपर प्रसन्न होओ। भव जन्म लेनेको कहते है। मरणको संसार नही कहते। जन्मके बाहर जीवन (भव पर्याय) है इसलिये जन्म ससार है। यही समुद्र हुआ। समुद्रके भीतरका पता नही रहता और छोर नही रहता। मगरमच्छ होते है इसी तरह संसारमे बहुत जीवोको पता ही नही कि हमे क्या करना है ? आहार भय मैथुन और परिग्रह इन ४ संज्ञाओमे लग रहे हैं सज्ञा ज्वरसे पीडित हैं। समुद्रमे जैसे अनेक जलचर होते है वैसे इस संसारमे अनेक आपदाए है उपसर्ग लगे हैं। ऐसे ससारसे हे भगवन आर-पार पहुच गये है। पार पहुच गये इससे मालूम होता है कि आप पहिले इसमे थे। जब कभी काललब्धि आती है तब विशुद्धि होती है और संसारका नाश होता है। जिन संज्ञा चौथे गुणस्थानसे मानी गई है। इस गुणस्थानसे लेकर ऊपरके गुण स्थानोमे स्थित सभी जीव जिन है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि, उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि इनके दर्शन मोह नही रहता। आगे मोहका पूर्ण नाश होनेसे अरहत जिनेन्द्र कहलाते और फिर पूर्ण सिद्ध होते। जब यह जीव आत्मज्ञान करता है उसी समय इसका संसार कट जाता। ससार कबसे है ? अगर कोई सीमा बनाई जाय तो प्रश्न होता कि पहिले नही था। लेकिन पहिले न होकर फिर होना बनता नही है। असत्से सत् नही होता, और सत् असत् नही होता। अत संसार अनादिसे सत् है और जीव भी अनादिसे है, इसकी विकृति परम्परा भी अनादिसे है। ऐसे अनत संसारको जिसने छेद दिया वह जिन है। संसारमे उसे अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन भी रहना पडे तो वह अनादि अनत

ससारको देखते हुए अति थोडा ही है। जिन सज्ञा होनेपर चौथे गुणस्थानमे ही संसारकी जड कट जाती है। फिर चाहे कितने ही दिन क्यो न ससारमे रहना पडे? फिर भी जब तक जन्म धारण करने पडते तब तक संसार बना ही है। जब जन्म न लेनेका अधिकार हो गया, ऐसे अरहंत भी हो जीवन मुक्त कहलाते और फिर सिद्ध तो जिन हैं ही। और हे निज आत्मा तुम भी भवोदधिपारग हो। जब योग्यतापर दृष्टि देते है तो संसारसमुद्रसे पार होने लायक हो, सहज पर्याय स्वभावपर दृष्टि देनेसे। और द्रव्यदृष्टि देनेपर ससारसमुद्रसे पार ही हो। केवल स्वभावपर दृष्टि हो उसमे विकल्पको ही स्थान नही है। और जब उसके अनुरूप विकल्प आता तब उसमे न उत्पत्ति है और न विनाश। इस तरह निज आत्मा भी स्वभावदृष्टिसे भवोदधिपारग है शात विमोह! सिद्ध सदासे शात ही हैं। उपाधिसे जो अशाति थी वह द्रव्यमे नही पर्यायमे थी, जब पर्याय भी स्वभावमे आई तब उपचारसे भी अशाति हट गई। मिथ्यात्व और क्रोध मान आदि अशाति पैदा करने वाले है, अथवा जीवमे वैभाविक भाव ही अशात हैं। इन भावोके उदयमे जीवके प्रदेशोमे चंचलता हो जाती है। ऐसे हे कर्मक्षयसिद्ध वा सहजसिद्ध शात स्वरूपशात भगवान प्रसन्न होओ।

अनन्तसुखामृतसागर धीर, कलकरजोमल भूरि समीर।
विखडितकाम विराम विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥

अनन्तसुखामृत सहजसिद्धकी अभ्यर्चना—हे सिद्धदेव! तुम अनन्त सुखामृतके सागर हो। कहनेमे ऐसी रूढि चली आ रही है कि अमृतको पान करके जीवको विशेष सुखका अनुभव होता। इस उक्तिको चरितार्थ करने वाली दो चीजे हैं—१-ज्ञान और २-सुख। जो मरे नही उसे अमृत कहते है। अनत सुख और अनंत ज्ञान ऐसा ही है। अनत सुख अनन्त ज्ञानका अविनाभावी है। अनत ज्ञानके होनेपर ही अनत सुख होगा और अनत सुखके होनेपर ही अनंत ज्ञान होगा, किन्तु इनमे से एकके न रहने पर दूसरा भी नही होगा। लोकमे भी ऐसा देखा जाता कि जिसके जिस ढंगका जैसा-ज्ञान वैसा सुख। जिसके विकल्परूप ज्ञान है उसके सुख भी विकल्परूप है। और जिसके निर्विकल्प ज्ञान है उसके सुख भी निर्विकल्प है। सुख ज्ञानके अनुरूप चलता। शब्दकी अपेक्षा सुख आनन्दको कहते हैं। ख–इन्द्रियोको जो सु–सुहावना लगे सो सुख है। परन्तु भगवानकी परिणति इन्द्रियाधीन नही। और भगवानके इन्द्रिया नही, अत उन्हे सुखी न कह आनन्द रूप कहना ज्यादा अच्छा है। आ–समन्तात सब तरफसे जो नेह समृद्धिशाली हो, उसे आनन्द कहते। भगवान सिद्धदेव अपने प्रदेशोमे पूर्ण समृद्धशाली है। जो विकल्पोमे घूम रहे है वे गरीब हैं और जो निर्विकल्प है वे धनी हैं। जो अपने आपमे स्वाभाविक रूपसे हो वह है सहजविभूति। ऐसी

विभूति भगवावके होती है। उस विभूतिके वे सागर होते है। यहा भी सागर आया। लेकिन उदधि और सागरमे अन्तर बहुत है। उदधि तो बखेड़ाकी चीज है और सागर सुख रूप। ऐसा कोई नही कहता कि भगवान आप सुखके उदधि है, आप सुखके सागर हो ऐसा ही कहा जाता है। भगवान अनंतसुखके सागर है।

धीर सहजसिद्धका अभिनन्दन––प्रभु कैसे है ? धीर है। जो धी–बुद्धिको रति–देवे सो धीर है। अर्थात् समता भावी धीरको गम्भीर भी कहते है। सो क्यो ? समताकी अवस्थामे ज्ञान ठिकानेसे रहता है, इसलिये गम्भीरकी अवस्थाको धीर कह दिया। निर्विकल्प स्वभावरूप रहने वालेको धीर कहते है। तो जो धीर होता वही समतापरिणाम वाला होता है। इन दोनोका अविनाभाव है। गंभीर समतापरिणाम वालेका नाम है। तो समतापरिणामका नाम धैर्य इसीलिये होता कि बुद्धि ठिकाने रहती है। धीरके शब्दार्थ से जब कहते कि जो यथार्थ ज्ञानको देवे वह धीर है, तो यथार्थ ज्ञानको कौन देता ? स्वयं सिद्ध आत्मा या निजात्मा अपनेसे ही अपनेको ज्ञान देता, आत्माका ज्ञान परिणति करना ही उसका देना है। भगवानके प्रसादसे भक्तोको भी बुद्धि मिलती है। इसलिये भी सिद्ध भगवान धीर है, यहाँ कारण या निमित्तकी अपेक्षासे ऐसा कहा जा रहा है। और निश्चयनय अपने आपमे ज्ञान देते रहते स्वच्छ रहते, इसलिये धीर है। और हे सहजसिद्ध भगवान तुम भी धीर हो। कैसे ? धी–बुद्धिया ज्ञानकी परिणतियोको रति ददासि–प्रकट करते हो, विशेष पर्यायें सामान्यसे ही प्रगट होती हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान—ये पाचो ज्ञान ज्ञानस्वभावके प्रगटरूप है, व्यक्तियाँ है ये। हे धीर–आप अपनेमे ही परिणमन कर रहे है। जिसने अपने आपको न देखा वह उलझता रहता और देखे तो अपने आप ही प्रभु है। किंतु इस नातेसे इसे दिखा नही। और और नातोसे देखता रहा। एक ही व्यक्ति फूफा और मामा बनता। फूफाकी दृष्टिमे सम्मान पाने योग्य और मामाकी दृष्टिमे सम्मान देने योग्य समझा जाता। इसी तरह द्रव्यकी दृष्टिसे देखो तो जीव प्रभु है और ससारी पर्यायसे देखो तो दीन है। तो जिस स्वभावसे ये शक्तियाँ व्यक्त होती उसे देखो जानो। वर्तमानके आविष्कार करने वालोने बहुत आविष्कार किये, परपदार्थोंकी खोजमे अपना सर्वस्व होम दिया लेकिन खुदका पता नही। देश विदेशका अच्छा ज्ञान हो लेकिन गाँवका नाम कहाँसे निकला, यह न मालूम हो ऐसी यह बात है यह संसारी प्राणी भी उन्ही जैसे। अशोधक बालकोके समान है, जो बाह्य सब देखता हुआ भी अपनेको नही देखता। दुनिया भरके पदार्थोकी कुशलता देखते और अपनी कुशलताका पता नही।

कलंकरजोमलभूरिसमीर सहजसिद्धका अभिनन्दन—ज्ञान जिसकी परिणतियाँ है ऐसा सामान्य चैतन्यदेव और कैसा है ? कलङ्करजो मल भूरि समीर। कर्मरूपी कलकरज

को आप प्रचड पवनके समान है। जैसे प्रचड पवन धूलको उडा ले जाती है, उसी तरह आपके विशुद्ध उपयोगने भी कर्मको दूर कर दिया है। जैसे—धूल हवासे अलग चीज है, मूर्त है किन्तु हवा उससे सूक्ष्म है बेरोकटोक चलने वाली है, इसी तरह कर्म कलक धूलकी तरह है और विशुद्ध उपयोग हवाकी तरह है। धूल चढ जानेसे असलपर आवरण हो जाता, कर्म से भी स्वभावपर आवरण होता। रागद्वेप आदि भाव कर्म कलक भी आत्माके स्वभावमे नही हैं परको निमित्त करके आ जाया करते हैं। जैसे—धूल किसीके घरमे ज्यादा देर तक नही ठहर पाती, कर्म भी वा रागद्वेषादि भाव कर्म भी क्षणस्थायी होते है। जैसे हवा का रोकना कठिन है उसी तरह ज्ञानकी परिणतियोका रोकना भी कठिन है। मोहका बडा प्रताप है, उसका थामना बडा कठिन है परन्तु जिस विशुद्ध ज्ञानके बलसे वह ठहर नही सकता उसकी महिमा मूढ प्राणी नही जानता। कहते हैं कि—"कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरे जे ज्ञानीके छिन माहिं त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते।" ज्ञानकी महिमा अपार है। हमारी बातचीतमे मोहको मजबूत करने वाली पद्धति नही चलनी चाहिये। आत्मज्ञानकी महिमा बढे ऐसी बातें होनी चाहियें। पर कोई रागद्वेष और मोहकी ही बातें करनेकी बान पकडे हो तो समझो कि उसका ससार अपार है, दु खके भारी गड्ढोमे ही उसे गिरना है। हमारे समक्ष तो हमेशा अपने स्वभावकी ही बातोको पुष्टि होनी चाहिये। तो हे भगवन! आप विशुद्ध ज्ञानरूपी प्रचंड हवासे कर्मकलंकको उडाने वाले है।

विखण्डितकाम विराम विमोह सहजसिद्धप्रभुका अभिनन्दन—सहजसिद्ध प्रभु आप कैसे हैं? विखडित काम विराम, विमोह—जिन्होने कामका खडन कर दिया ऐसे हैं आप। ऐसा लोग कहते है कि महादेवजीने कामको भस्म कर दिया। सो कैसे? ऐसे कि कामको तो भस्म किया जिनेन्द्रदेव ने, जिसे देख दुनिया उन्हीको कामको भस्म करने वाले मानने लगे। अभिमन्यु नाटकमे जैसे—राजा बहादुर विदूषककी दिखाऊ वीरताका प्रसग है। हे सिद्धभगवान आप सचमुचमे विखडित काम हैं। सच्चे अर्थोमे शिव है, कल्याणरूप कल्याण कर रहे है। क्योकि आपने कामको वशमे किया है, खडित किया है। और विराम कहिये आप आराम विश्राम या शातिरूप है, सारे परिश्रमोसे रहित हैं। राम आत्माको कहते हैं। जिसमे योगी रमे वह राम, तो किसमे योगीजन रमते हैं? आत्मामे। ऐसी आत्मा राम कहलाती तो जो विशेषरूपसे रम रहा है, सदाके लिये पूर्ण निश्चल है ध्रुव है, हे भगवान ऐसा तू है। सो मुझपर प्रसन्न हो।

विकारविवर्जित तर्जितशोक, विबोधसुनेत्रविलोकित लोक।
विहार विराव विरग, विमोह प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥

विकारविवर्जित तर्जितशोक सहजसिद्धकी उपासना—हे सिद्ध समूह! आप विकारोसे

अत्यन्त निर्वृत्त हो चुके हो। जो चीज अपने आपमे है, किन्तु औपाधिक है उसीका त्याग होता है। जो अपने क्षेत्रमे नही परक्षेत्रमे हो उसका त्याग नही होता। मोह आदि विकार ऐसे ही है कि वे आत्मामे ही होते है, पर है उपाधिजन्य। विकारोको बनाने वाला स्वयं आत्मा है और दूर करने वाला भी वही है। विकारोके बननेमें द्रव्यकर्म निमित्त होते है और उनके हटनेमे गुरुका उपदेश, जिनवाणीका श्रवण, मनन, पठन पाठन, जिनबिम्बदर्शन आदि निमित्त होते है। लेकिन इन दोनो अवस्थाओमे परिणति करने वाला स्वतन्त्र है। कभी ऐसा भी होता है कि कर्मके उदयमे भी वह विकार करे या न करे, इसी तरह गुरु उपदेश आदिसे निर्विकार हो या न हो यह उसकी (आत्माकी) योग्यता या परिणतिपर निर्भर है। तो सिद्धोने अपनी योग्यतासे, पुरुपार्थसे विकारोको इस तरह नष्ट कर दिया है कि उनका अस्तित्व कभी भी न पाया जावेगा। तर्जितशोक और शोकका जिन्होने तर्जन कर दिया है, मालूम होता है भगवानको भी शोक सता रहा था (विकारी अवस्थामे) जब विकारोको हटा दिया तो उसकी भी तर्जना हो गई, तर्जना उसीकी हो सकती है जिसका अस्तित्व हो। संसारी अवस्थामे मोहके कारण शोक संताप हुआ करते थे, परपदार्थोको अपना या स्वयं अपने रूप माननेके कारण उसमे इष्ट वा अनिष्ट कल्पनाए उठा करती थी, उन्ही असत् कल्पनाओसे शोक और संताप होता था, इष्ट पदार्थका वियोग होनेपर अथवा नही मिलने पर चित्तमे खिन्नता आती थी, जब उसका मूल आधार मोह गया तो वह कल्पना और उस कल्पनाजन्य शोक भी गया जिस मोहकी बलवत्ता वा गौरवके गीत मूढ प्राणी गा गाकर अपने को कायर बनाये रहते, मोहसे तर्जित होते रहते है, ठगाये रहते है, पराधीन और आकुल बने रहते हैं उस मोहको जब भगा दिया, तिरस्कृत कर दिया तब उसके लिये यह भारी तर्जना थी। चेतनकी अनंत शक्तिको परास्त कर देने वाला अनन्तशक्तिवान मोह जब आत्माको उपाधि पैदा करनेमे अपनी निमित्तता रखता है तो बाह्य दृष्टि वाले उसका गौरवगान क्यो न करेंगे ? लेकिन जिन्हे अपने और अपनी अनतशक्तिकी खबर पड गई वे कब तक उससे तिरस्कृत होते रहेगे ? आखिर मोहको भी एक दिन समूल और सर्वदाके लिये उनसे अपना स्वामित्व हटाना पडता है (यह अलंकारिक भापामे कहा जा रहा है। वास्तवमे विभाव वा द्रव्यकर्म आत्माके स्वामी नही होते, लेकिन उसकी विभावपरिणतिमे वे निमित्त पडते ही है इसलिये उनकी तरफ दृष्टिपात करने से उनका प्रभुत्व मालूम पडता है) तो सिद्ध होने वाली आत्माओने मोहकी हमेशाके लिये तर्जना कर दी है।

विबोधसुनेत्रविलोकितलोक सहजसिद्धकी अभ्यर्चना—'विबोधसुनेत्र विलोकितलोक' हे सिद्धसमूह ! आपने विशेष ज्ञानके द्वारा जो कि उत्तम नेत्ररूप है तीनो लोकोको विशेषरूपसे देख लिया है। चारो इन्द्रियोकी अपेक्षा नेत्रसे होने वाले ज्ञानको अधिक स्पष्ट माना

जाता, और उसके विषयमे ऐसा कहा जाता कि मैंने ऐसा प्रत्यक्ष देखा है। यह विशेषता उसमे इसलिये है कि चारो इन्द्रियोसे तो अर्थावग्रह तथा व्यजनावग्रह होता (व्यञ्जनावग्रह माने अस्पष्ट पदार्थका ज्ञान) किन्तु चक्षुइन्द्रियसे व्यञ्जनावग्रह नही होता उसके अर्थावग्रह ही होता है। यद्यपि प्रकाश पदार्थोंकी निकटता, नेत्रका निर्दोषपना, अन्य पदार्थोका बीचमे आडे नही आना आदि कारणोकी पराधीनता रहनेसे वह नेत्रजज्ञान भी प्रत्यक्ष नही है, परोक्ष ही है, फिर भी लोकव्यवहारकी अपेक्षा उसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते ही हैं। को इसीलिये ज्ञानको नेत्रकी उपमा दी अथवा व्यवहारकी अपेक्षा भक्त भगवानके ज्ञानको व्यवहारी जीवो नेत्रज प्रत्यक्षकी उपमासे उनके प्रत्यक्षज्ञानकी प्रतिष्ठा वता रहा है। वस्तुत उस प्रत्यक्षज्ञानकी उपमाके लिये अन्य कोई पदार्थ नही हैं, फिर भी उत्कृष्टता बतानेके लिये कुछ भी उपमा तो दी ही जाती है। भगवानका ज्ञान पदार्थोंको देख चुका है, देख रहा है और देखता रहेगा। द्रव्यका अपने अनुरूप कार्य कभी खतम नही होता। ऐसा नही है कि भगवानने तीनो लोकोके वा अलोकका पूर्णतया त्रिकालवर्ती जान लिया, सो एक बार जान लेने पर बार बार उसीको क्यो जानते रहेगे, जानना आत्माका स्वभाव है, वह कभी खतम हो नही सकता। वह खतम हो तो द्रव्य ही खतम हो जाय। सर्वज्ञ भगवान पदार्थोंको जानते हुए भी निर्विकल्प रहते हैं। जैसे—बालक नजदीक और पासकी सब चीजोको जानता हुआ और उनकी निकटता या दूरीको जानता हुआ भी निकट और दूरके विकल्पसे रहित है। उसी तरह भगवान पदार्थोंको वे जिस क्षेत्रमे जैसे है उस क्षेत्रमे उस रूप जानते है किंतु यह पदार्थ दूर है यह पदार्थ इसरे पास ऐसा विकल्प नही होता, निर्विकल्प रूपसे जानते अवश्य है। श्रुतज्ञानमे जैसा विकल्प केवलज्ञानमे नही है। क्षेत्रके समान कालमे भी यही बात है। जिस समय पदार्थ जैसा है वह उस समय ही वैसा ही जाना जाता है, लेकिन उसमे कालका विकल्प नही। ज्ञानमे ऐसा ही उत्पाद व्यय होता है। आज जिसे वर्तमान रूपसे जान रहे हैं वह पीछे भूतरूपसे जानते है ऐसा विकल्प उनके ज्ञानमे नही होता। ऐसा विकल्प नही होता कि यह भूत है, यह भविष्यत है आदि। ज्ञानमे तत्कालकी पर्याय उस उस रूपसे झलकती अवश्य रहती है। क्षेत्रकृत आंशिक निर्विकल्पता तो हमको भी है। बैठे हुए सबको हम जान रहे हैं लेकिन पास दूरका विकल्प नही, दृष्टि इस ओर नही देनेसे। जो जहाँ जैसा अवस्थित है उसको वैसा जान करके भी उसमे दूर पास आदिका विकल्प नही होता। इसी तरह ऊर्ध्वतासामान्यमे भी भूत वर्तमान और भविष्यतका विकल्प भगवानके नही होता। इसीलिये निर्विकल्पज्ञानको कूटस्थ या जडवत् कह दिया है। नही तो छद्मस्थ हम मलीनज्ञानका और सिद्ध भगवान निर्मलज्ञानका विकल्प करते यह कहलावे। सो नही कहलाता। यदि यह तरगभूत भविष्यत कहलावे। वर्तमानकी न आवे तो छद्मस्थका ज्ञान भी

निर्विकल्प कहलावे। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टिसे एक ज्ञान होकरके भी नवीन नवीन पर्याये होती है फिर भी कालक्रमकी उसमे तरङ्ग नही है। यद्यपि वह ज्ञान जडवत् नही है, फिर भी छुटपुट नवीन ज्ञानमे रहनेवाले हम लोगोको उस तरह निर्विकल्प ज्ञानका अनुभव बिना निर्विकल्प हुए नही मिल सकता, अत उसे जडवत् कह देते है। जैसे—भगवानको हम जैसा इन्द्रियसुख साधन नही होनेसे या इन्द्रिय सुख नही होनेसे भोले प्राणी भगवानको दुखी कह देते है। वे उनके सुखका मिलान अपने सुखसे करते है। जब विकल्पात्मक ज्ञानमे रहने वाले हम उनके ज्ञानकी तुलना अपने ज्ञानसे करते है तो उन्हे जडवत् कह देते है। लेकिन भगवान चैतन्य आलोकसे सदा परिपूर्ण हमेशा हर पदार्थको सर्वांश किन्तु विकल्परहित होकर जानते रहते है। यह भी व्यवहारका कथन है निश्चयसे वे अपने आपको ही जानते है। और यह सहजसिद्ध भगवान सदासे केवलज्ञानशक्तिसे परिपूर्ण है, इसलिये इसको भी सम्बोधन करके भक्त उसे प्रसन्न होनेकी भावनाको व्यक्त कर रहा है, केवल भगवान अनत-काल तक उन्ही सब अर्थोको जानते है फिर भी नवीन नवीन ज्ञान होता है।

विहार विराव विरंग विमोह सहजसिद्धकी संचर्चना—भक्त आगे कहता है कि हे विहार! आप अपने परिणमनमे विहार करने वाले हो अथवा हार–हरण या त्याग आदि विकल्पोसे रहित हो। स्व विहारी हो। विराव–राव- शब्दसे रहित हो। आप शब्दोसे नही जाने जा सकते। शुद्ध आत्मानुभवनसे ही पहिचाने जा सकते है वह अनुभव भी कहा नही जा सकता। और हे भगवान आप–विरङ्ग–रङ्ग आदिकी उपाधियोसे रहित है। संसार अवस्थामे आपने अनत शरीरोको धारण कर करके अनत वार असंख्य रग वाली पर्यायिका नाम पाया, फिर भी आप हमेशा उस वर्णादि पुद्गलके गुणरूप कभी नही हुए और कर्म क्षय होनेपर तो वह वर्णादिरहित अमूर्तरूप आपका प्रगट हो गया। विमोह–हे सिद्धसमूह आप मोहरहित है-मोहकी वैभाविक परिणति उपाधिसे कहलाती थी सो वह भी निर्मूल हो चुकी, उसका निमित्त मोह–द्रव्यकर्म भी सदाके लिये दूर हो गया। ऐसे हे निर्मलस्वरूप भगवान हमपर प्रसन्न होओ, हमारी भी वह निर्मलता प्रगट होवे। प्रत्येक छदके अतमे भक्त अपना यही लक्ष्य दुहराता है कि आप प्रसन्न हो। आप शब्दका प्रयोग व्यवहारमे मध्यम पुरुषके लिये होता है लेकिन उसका सही मतलब स्वयं अपनेसे होता है। वस्तुत भगवानकी पूजा करनेवालेकी दृष्टि विन्दु अपनेपर ही जाकर टिकता है। उसका सब व्यव-हार और सारी कल्पनाए निश्चय और निर्विकल्पके लिये होता है। भगवानको जाननेवाला अपनेको पहिले जान चुका है, अत वह अब इस दीन दशामे न रह अपने परमपदपर पहुंचने के लिये कटिबद्ध रहता है।

रजोमलखेदविमुक्त विगात्र निरन्तर नित्यसुखामृतपात्र ।
सुदर्शनराजित नाथ विमोह प्रसीद विशुद्ध ससिद्ध समूह ॥

रजोमलखेदविमुक्त विगात्र सहजसिद्धकी उपासना—आप ज्ञानावरण आदिरज वही हुआ मल, अथवा उससे होनेवाला जो रागद्वेष आदि मल उससे आप रहित हो गये हैं। अत उससे उत्पन्न होने वाला जो दु ख उससे भी आप रहित हो गये हैं। स्वभावमे अनत सुख होते हुए भी पर्यायमे कर्मरजके संगसे नाना विकल्प होते थे, जो कि दु ख रूप हैं, सिद्धो ने कर्मको क्षय करके सारे दु खोका अत कर दिया है। विगात्र ? हे प्रभो ! आप ज्ञानशरीरी हो, इस पौद्गलिक शरीरसे रहित हो। शरीरकी मूर्च्छाके कारण आत्मा की प्रभुता प्रगट नही हो पाती थी। उनमे रची हुई इन्द्रियोके द्वारा विषय और उनसे होने वाले कषाय और कर्मजाल चलते रहते थे। इस तरह आत्माकी लघुता अनादिकालसे बन रही थी। जब स्वभावका बोध हुआ तो वह शरीरविषय कषाय और ज्ञानावरणादि कर्मरज सभी नष्ट हुए। कषायोके जानेपर भी शरीर तब तक साथमे था तब तक केवल जीवनमुक्त थे। सिद्ध नही किन्तु उसका सग छूटा कि आप सुसिद्धके पदमे प्रतिष्ठित हुए, ज्ञानमय हुए, ज्ञान शरीरी बने। यद्यपि वह ज्ञान शरीरीपन अनादिसे था, पर पुद्गलशरीर उसको प्रच्छन्न किये था जीव की मुग्ध अवस्थामे।

निरन्तरनित्यसुखामृतपात्र सहजसिद्धका अभिनन्दन—निरन्तरनित्य सुखामृत पात्र—*आप सर्वदा नित्य सुख रूपी अमृतके पात्र है। ससारके जितने भी सुख है वे सुखाभास हैं,* सो भी ये निरन्तर नही रहते। ससारी प्राणीको सुखाभास भी एकसा कहाँ रहता है ? कौन सर्वदा सुखी रहता है ? चिता, शल्य, उद्वेग, निरत्साह, भय और तृष्णा सताया ही करती है। महा सुखिया कहलाने वाले पुरुषोको भी सुखाभास निरन्तर नही रहता। ससारका स्वरूप भी ऐसा ही है। विवाह आदि शुभ और सुखके कहलाने वाले कार्य भी कितनी आकुलता पूर्ण होते हैं ? रातो रात जागकर अति परिश्रम कर दूसरोकी आवभगत-आर्जू मिन्नत कर परेशान हो जाते हैं, मानमर्यादाका भय हमेशा बना रहता, दोनो पक्षोमे विसंवाद न हो, आगन्तुक अतिथियोमे कोई नाराज न हो जाय आदि अनेकानेक विकल्प चित्तको चैन नही लेने देते। इसी तरह अन्य अन्य सुखके कहे जाने वाले कार्य दु खपूर्ण हैं। तो ये सुखाभास होकर भी सान्तर है, क्षणस्थायी हैं, क्योकि पराधीन है। पराधीन चीज निरन्तर नही रहती। स्वाधीन चीज ही निरन्तर रहती। पराधीनतामे परेशानी ही रहती है। परेशानी नाम पडा इसलिये कि परका ईश परेश कहलाया और भाव अर्थमे आनी प्रत्यय हो गया। अर्थात् परके स्वामीपनेको परेशानी कहते। जहाँ परका स्वामीपना है वहाँ आकुलता है, श्रम है, अशाति है। अत उस परके काममे पडनेको ही परेशानी कह दिया। संसारके सब काम

देख लो ऐसे ही है। वस्तुतः सब पदार्थ अपना अपना मालिक है, पर दूसरा उसका स्वामी बननेकी चेष्टा करता तब परेशानी होती। लेकिन भगवान सर्वथा स्वाधीन होनेसे पूर्ण और शाश्वत सुखके धनी है और सब निरन्तर हैं, अन्तररहित है, एक सदृश ज्ञानपुञ्ज है।

सांसारिक सुख दुःखको समान मानने वालोंकी निरन्तरनित्यसुखामृतपात्रता—संसार मे महापुरुष भी जितने हुए है वे अनेक कठिनाइयोमे से गुजरते रहे है। क्या राम क्या कृष्ण क्या पाडव और क्या पवनजय सभी ने दुर्घटनाओंको झेलकर जो जब कर्मजाल तोडनेमे लगे-तभी शाश्वत सुखको पा सके, अन्यथा रुलते रहे। पवनजयके जीवनके कुछ रूपोपर विचार करे तो विरक्तता आये बिना नही रहती। कुमार अवस्थामे जब अजंनाको पत्नीरूप से मानने लगे तब विवाह होनेके पूर्व ही उसे देखने गये। अंजना अनेक सखियो सहित बैठी थी, किसी ने पवनंजयको देख न पाया और उनमे से एक उनका कुछ दोष बताने लगी। अंजना कुछ न बोली। इस पर पवनजयने समझा यह मेरे दोषोके कथनको सहकर मेरा तिरस्कार कर रही है। अत तलवार लेकर मारनेको उद्यत हो गये। मित्र प्रहस्तके समझाने पर तलवार म्यानमे रखली लेकिन मनमे विचार किया कि इसको अधिकसे अधिक तकलीफ कैसे दे सकता हू? विवाह करके इससे सम्पर्क कुछ भी न रख, इसको तरसाऊ तभी मेरा जी शात हो। ऐसा विचार विवाह तो पूरा कर लिया, लेकिन २२ वर्ष गुजर जानेपर भी उसके सुख दुखकी एक बात न पूछी, सूरत न देखी, वह घुलती रही,। रावणके युद्धमे जब पवनजयको जाना पडा और रास्तेमे चकवा चकवीके वियोगकी हालत देखी तब अपनी पत्नीके पतिवियोगका दुख अनुभव किया। वे तुरन्त ही प्रहस्थके मना करने पर भी रातो रात अजनाके निवास स्थान पर आये। रात भर रह प्रच्छन्न ही वापिस चल दिये। अंजनाके गर्भ रहा। उसकी सासूने उसे कुशीलका दोष लगा निकाला। वह पिताके घर गई लेकिन वहा भी तिरस्कारपूर्वक गृह प्रवेशसे रोक दी गई, तब जगलमे चली गई, पवनजय जब घर आते है और अजनाकी यह घटना सुनते है तो मूर्च्छित हो जाते हैं और सचेत होनेपर वे भी जंगलमे उसे खोजने चल देते हैं। प्रतिज्ञा करते हैं कि अमुक समय तक उसका पता न पडने पर अग्निमे प्रवेश करूगा। देखा संसारी सुखका चक्कर? मानना पडेगा कि लौकिक सुख ही ऐसे हैं जिनके बीचमे दु.ख आया ही करते है, और वे सुख स्वयं दुखरूप होते, लेकिन भगवानके आत्मीक सुख ही सुख है जो कि रहता भी निरन्तर है। ऐसे सुखके हे प्रभो आपही पात्र हैं, यह सहजसिद्धभगवान भी ऐसे सुखका पात्र है यदि अपनी कुटेव छोड दे तो वह स्थिति आ सकती है जो कि सिद्धोकी है।

सुदर्शनराजित नाथ विमोह सहजसिद्धकी उपासना—सुदर्शनराजित! और हे भगवान आप सुदर्शनराजित है। सम्यक् दर्शनसे श्रद्धानसे अलंकृत है। भगवानके ऐसा सम्यक्त्व है,

जिसका नाम वस्तुन नही कह सकते। क्षायिक सम्यक्त्व नाम तो औपाधिक नाम है। हे नाथ। आप विमोह है—मोहसे सर्वथा रहित है। मोह जीवको बहुत रुलाता है उसीका अस्तित्व मेटना सब सुखोका मूलाधार है। मोहके नाश होनेपर ही परमपद प्रगट होता है। अत जब उसपर दृष्टि जाती तब भक्त भगवान और अपनेमे मिलान करता और कहता आप तो मोहसे सर्वथा रहित है। मेरा स्वभाव भी ऐसा ही है किन्तु मैं पर्यायमे मलिन हो रहा हू। हे सिद्धोके समूह विशुद्ध आत्मन! मुझपर प्रसन्न होओ, मेरी भी प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता प्रगट हो। ऐसे गुणानुवादसे मोक्षका मार्ग दृढ होता है, इसमे कोई सन्देह नही। नरामर-वदित निर्मलभाव अनन्तमुनीश्वर पूज्य विहाव। सदोदय विश्व महेश विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥

नरामरवंदित सहजसिद्धकी उपासना—हे विशुद्ध सुसिद्ध समूह! प्रसन्न होओ। आप कैसे है? मनुष्य और देवोसे वन्दनीक हैं। नृ धातुसे जो कि ले जाने अर्थमे आती है 'नर' शब्द बना है। कहा ले जाय—यह अर्थ लगाना हमारी मरजीपर है। धर्मके प्रकरणमे, ससारके दुखोसे छुडाकर जो मोक्षमे ले जाय उसे नर कहते हैं। लोकमे भी हर चीजको ले जाने वाला प्राय मनुष्य ही है। मोटरगाडी आदिको ले जाने वाला मनुष्य ही है और वस्तुत अपनेको ससार अथवा मोक्षपर्यायमे भी ले जाने वाला मनुष्य अवस्था आत्मा ही है, अर्थवाले नर शब्दसे मनुष्यकी उत्कृष्टता प्रगट होती है। देव भी उत्कृष्ट है। कई लौकिक मनुष्य देवोकी आराधना करते है तथा ऋद्धि और ऐहिक भोगविलासोकी प्रचुरताके कारण देव भी उत्कृष्ट होता है ऐसे उत्कृष्ट नर और अमर द्वारा वन्दनीक होनेसे आप उत्कृष्टोमे उत्कृष्ट है। वैसे तो सारे जीव अमर है पर भगवान ही सर्वथा अमर हैं, जो कभी भी मुक्त से ससारी नही बन सकते। फिर भी ससारमे जिसकी अपमृत्यु नही होती है वही अमर है, ऐसे जीव देव हैं। प्रश्न हो सकता है कि भोगभूमिया भी नही मरते तो उत्तर यह है कि सब मनुष्य अपमृत्यु रहित नही हैं, कर्म भूमियाके अपमृत्यु होती है, अत मनुष्यके लिये अमर शब्द रूढ नही है। यदि कहो कि नारकी भी अपमृत्यु वाले हैं वे अमर क्यो नही? तो इसलिये नही कि वे अमर होना नही चाहते। जो अमर नही होना चाहते उन्हे अमर कहा जाय तो शोभा नही देता। अत देवोके ही अमर शब्द लागू है। ऐसे नर और अमर से सिद्धदेव वन्दनीक हैं। मनुष्य और देवोमे भी सम्यग्दृष्टि, देव और मनुष्य सिद्ध भगवान की आराधना ठीक कर सकते है क्योकि वे ही भगवानको जान सकते हैं, अनुभवमे ला सकते है, उनकी प्रतिष्ठा समझ सकते है। बहुतसे भाई मन्दिरमे भगवानके दर्शन कर जाते लेकिन भगवान और दर्शन क्या चीज है? जीवनभर यह नही समझ पाते, क्योकि उन्होने अपनेको समझा नही। यही कारण है कि निर्मलता नही आती और क्रोध, माया, मान और कलह

आदिमे प्रवृत्त होते रहते तो सिद्धकी आराधना वही कर सकते जो सम्यग्दृष्टि हो। जिसके चैतन्यकी अनुभूति हो गई वही पूजा वन्दना कर सकते है। सच पूछो तो जिसका आत्मा पर अधिकार है, वही भगवानको जानता। भगवानको जाननेसे अपना जानना होता, पर अपनेको जाननेसे भगवान वस्तुत जाना जाता। देवदर्शन करनेसे जो सम्यग्दर्शन बताया वह इस तरह कि जिनेन्द्र भगवान वा उनकी मूर्तिका दर्शन, रूपनिमित्त पाकर आत्मामे स्वरूपकी प्राप्ति होती है, आत्मबोध होता है, इसके पीछे ही वह भगवानका अनुभव कर सकता है। पहिले भगवानका अनुभव होकर पीछे सम्यग्दर्शन आत्मानुभव होता हो, यह बात नही है। जिन अथवा जिनबिम्बदर्शनसे आत्मानुभवके योग्य निर्मलता अवश्य आती है। भगवानको जाननेसे स्वरूपकी दृढता होती है। तो वे वंदना पूजा करनेवाले नर और अमर चैतन्य अनुभूतिवाले होते है।

निर्मलभाव सहजसिद्धका अभिनन्दन——मर्त्य अमर्त्य द्वारा वन्दनीक प्रभु आप कैसे है? निर्मल भाव रागादि मलसे रहित परिणाम वाले हैं। पहिले अपने निर्मल स्वभावको जाने तो वे प्रतिष्ठा पाते है। नही हो नही। किसी राजाने दो चित्रकारोको सुन्दर चित्र बनानेकी आज्ञा दी और सर्वोत्तम चित्रके उपलक्षमे उचित पुरस्कार घोषित किया। एक कमरेकी आमने सामनेकी दोनो दीवारोपर दोनो चित्रकारोने अपना अपना चित्र बनाना प्रारभ कर दिया। दोनोके बीच परदा डाल दिया गया ताकि एक दूसरेके चित्रको न देखे। एक चित्रकार सुन्दर रगोके द्वारा अपनी कलाको काममे ले रहा था और दूसरा केवल दीवालको घोट घोटकर चिकना करनेमे तन्मय था। जब अवधि पूर्ण हुई तो राजा दोनो कलाकारोकी कलाएं देखने आया, पहिले उसने रंगवाला चित्र देखा तो प्रसन्न हुआ और जब दूसरी दीवालपर बीचका परदा हटाकर चित्र देखा तो और भी अधिक प्रसन्नता हुई, क्यो कि उस दीवालपर सामनेकी दीवालका प्रतिबिम्ब पडकर कलाका सुन्दरतम रूप दृष्टिगोचर होता था। ठीक इसी तरह जिस भक्तका हृदय जितना निर्मल होता है उसके हृदयमे उतनी ही प्रतिष्ठा भगवानकी होती है। अत. भगवानकी भक्तिके लिये भी सम्यग्दर्शन चाहिये। प्रयत्न तो सारा सम्यग्दर्शनका हो, चारित्र तो आये बिना रहेगा नही। भैया! जो न निर्मल और न समल, ऐसे अमल निज चैतन्यकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन होता है। हे सिद्धसमूह आपकी यही प्रक्रिया हुई। श्री रत्नत्रय धारण करनेसे आप अविनाशी बने, ऐसे हे देव प्रसन्न होओ।

अनन्तमुनीश्वरपूज्य विहाव महजसिद्धकी उपासना—अनन्त मुनीश्वर पूज्य! हे प्रभो! आप अनन्त मुनीश्वरो द्वारा पूज्य हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि ३ कम नौ करोड मुनि जिसमें स्नातक निर्ग्रन्थ अरहंत भी शामिल हैं, होते हैं तो अनन्त मुनीश्वरो द्वारा वन्दनीय कैसे कह दिया? तो उत्तर है कि जितने भूतकालमे हो चुके, वर्तमानमे है और आगे होंगे वे सब

मिलाकर अनन्त होगे उनके द्वारा वन्दनीक है। जितने भी सिद्ध हुए हैं या होवेगे वे सब पहिले मुनि अवस्थामे आये थे और सिद्धोकी आराधना की थी तब सिद्ध हुए और आगेकी भी यही बात है। और स्वरूपपरिणमनके भावसे देखो तो स्वय स्वयके द्वारा पूज्य है। वस्तुत किसीमे किसीके पूजनेकी ताकत नही है। मुनि ज्ञानवानको कहते है।' मनु' धातुसे अवबोधन अर्थमे मुनि शब्द बना है। जो मनन कर रहे है, स्वरूपाचरणचारित्रमे है ऐसे अनन्त मुनियोके द्वारा चैतन्यदेवकी आराधना होती है। जिसका अंत नही उसका आदि भी नही होता। प्राणीके संसारका अत हो जाता लेकिन उसका आदि नही ऐसा कहा जाता है, लेकिन ससार कोई ध्रुव चीज नही है। वह तो पर्याय है। पर्याय क्षणिक है। और जो क्षणिक है वह सादिसात है, ससार तो परम्परा अनादि है चैतन्यका अत नही तो आदि भी नही और बीच भी क्या ? तो आदि, मध्य, अत तीनोसे रहित (उपल क्षणसे) ऐसे मुनिभाव हैं, मुनिभाव कहो या चैतन्यभाव-अनत कहलाया और उस अनत चैतन्यभावका आधार आत्मा है, उससे हे भगवन आप पूज्य-हैं। गुणानुरागको पूजा कहते हैं और किसी वस्तुका नाम पूजा नही। जल चंदन आदि द्रव्य उठाने धरनेको ही पूजा नही कहते, किन्तु उस क्रियाके साथ पूजाके भाव हो सकते है अत उस बाह्य प्रवृत्तिको भी पूजा कह देते हैं। तो आप अनन्त मुनीश्वरोके द्वारा पूज्य हो अर्थात् इस ही आत्माके द्वारा यही आत्मा पूजाका विषय है और हे चैतन्यदेव ! अनन्त मुनी श्वर आपमे अनुराग करते है अत उनसे पूज्य है तथा आप विहाव सम्पूर्ण आकुलताओसे रहित हैं। वे आकुलता आप के स्वभावमे थी ही नही, उपाधिसे जो होती हैं वे परकृत है, उनका भी अभाव कर्मक्षय सिद्धमे हो जाता है और यह सहजसिद्ध आत्मा स्वभावसे विहाव ही है।

सदोदय सहजसिद्धकी उपासना—सदोदय ! हे भगवन ! आप सदा उदितरूप हो, कर्मक्षयसिद्ध भगवान पर्यायसे भी सदा उदितरूप हैं। देखो—इस चैतन्यतत्त्वके बारेमे अनेक रूप दार्शनिकोने माने है। कोई कहता है कि सारे ससारका मूल एक व्यापी सदाशिव और अमूर्त ब्रह्म है। यह कहना चैतन्यकी कलाको कितना प्रगट करता है ? यदि सृष्टिकर्तृत्वका विरोध न करके दृष्टि अपेक्षासे उसका हम समर्थन करना चाहे तो भी कर सकते। उक्त चारो बातें आत्मापर घटाओ। सदाशिव भगवानको जो एक मानते, उस एकपनेपर ख्याल करे तो अपनी आत्मा एक ही है। जिसकी देव नारकी आदि पर्यायें चलती रहती। जिसकी पर्याये चलती है उसे यथार्थतया देखे, परिणमनके सपर्कसे देखे तो न देख सकेगे, उसे तो पर्यायको गौण कर सामान्यदृष्टिसे देखें तो अनुभवमे आ सकता है, ऐसा अनुभवमे आनेवाला जब पर्यायसे नही दिखता, स्वभावसे दिखाता तो मिल गया सदाशिव। अन्यत्र नही खुदमे खुद है वह। और उस सामान्य एकमे हमारा और आपका आत्मा ऐसा भिन्न

विकल्प हुवा होता यह तरग जब व्यक्तिपर नजर होती। और व्यक्तिकी नजर माने पर्याय की नजर कहलाई और पर्याय दृष्टिको करना नही चाहते। तो अपना और परका सदा-शिव ऐसी कल्पना नही होती। अवान्तरसत्ताका नही उसमे महासत्ताका अनुभव होगा। अत उसको सामान्य सत्तासे समझानेके लिये एक कहेगे कि वह सदाशिव एक है। यह एक सामान्य सत्को दृष्टिका एक रूप है। आगे अपनी सृष्टिका कर्ता स्वयं आप है, इसको रूपी और अरूपीमे से देखें तो अरूपी ही है। आत्मा शरीराकार है क्या ? नही शरीर पुद्गलका आकार है आत्माका नही, उपचारसे भले ही शारीराकार कहो। भगवानसिद्धको अतिम शरीराकारमे समझेंगे तो समझमे न आ सकेगा, सिद्धत्वको समझनेके लिये दृष्टिको गंभीर बनानी होगी, अमूर्त या अरूपी आत्माको उसी ज्ञानस्वभावके रूपसे परखना होगा जो ध्रुव एक है। ऐसे गुणवाला आत्मा रहता कहाँ है ? जब सत् सामान्यमें जीव समुदायको एक रूपसे देखा तो यहाँ भी एक जीवका विचार न कर सब जीवोके ख्यालसे देखना चाहिये, तब सारे संसारमे जीव ठसाठस भरे हुए हैं, अत चैतन्य भगवान सर्वव्यापक भी है। ऐसा प्रभु सहजसिद्ध है। वह तथा कर्मक्षय सिद्ध हमपर प्रसन्न हो। वस्तुत प्रसन्न निज सहजसिद्ध भगवान ही हो सकता।

विश्वमहेश सहजसिद्ध प्रभुकी अभ्यर्चना—हे प्रभो ! आप विश्व महेश है। जिसको सर्व जीव पूजें और वह स्वयं पुजे वे हुए विश्वमहेश, ऐसे हे देव प्रसन्न होओ। ससारमे अनेक तरह तरहसे ईश्वरकी कल्पना करते हैं लेकिन आप तो अपने ही रूप हो। लोगोके चित्तमे वे ईश्वर केवल मान्यता या कल्पनाके ही ईश्वर होते है वस्तुत चैतन्य तो शुद्ध बुद्ध जैसा है सो है। वह अपने गुणोसे विश्वत सब तरफसे प्रदेश-प्रदेशमे महान गुणोके प्रभुत्वसे व्याप्त है। अत वह विश्व महेश है। अपना सहजसिद्ध भगवान भी ऐसा है। वस्तुत पर-ईश्वरकी कल्पना और मान्यतामे सारा संसार डूब रहा है, भ्रमण कर रहा है, दु खी हो रहा है, यदि वह अपने प्रभुको जो प्रभुत्वसे परिपूर्ण है देखें तो उसका रोना मिट जाय, उसका ईश्वर प्रगट होकर सदाके लिये शुद्ध चैतन्य रूप परिणमन करने लगे, कभी भी उसमे विकार पैदा न हो। पर ईश्वर है तो अवश्य किन्तु वह तो अपने ही ज्ञानानन्दरूपमे लीन है। वे तो हमारे भगवत्त्वके स्मरण करानेके लिये संकेत स्वरूप है अतश्च व्यवहारमे ध्येय है।

विदभ वितृष्ण विदोष विनिन्द्र परात्पर शंकर सारवितन्द्र।
विकोप विरूप विशंक विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥

विदंभ सहजसिद्धका अभिनन्दन—हे सिद्ध समूह आप विदंभ–कपट रहित हैं। जहाँ आत्मा ही ठगाया जाता है वह है दभ, कपटसे दूसरा नही स्वय ठगाया जाता है। लोकमे भी देख लो, कपटी ही ठगाये जाते, सरल नही वे ही अन्ततोगत्वा क्लेशमे रहते है। क्योकि

कपटसे उनकी आत्मा पतित होती रहती, कर्म बध पाप रूप किया करती। तब वर्तमान और भविष्य आकुलता पूर्ण बन जाता। लेकिन जो अपने आपके स्वरूपमे रम रहे है वे है विदंभ, मायासे सर्वथा रहित। तरक्की वही करता है, जो अपना काम करता चला जाय, विरोध या विरोधीपर दृष्टिपात न करे, जिसको अपने स्थानपर जल्दी पहुचना होता है वह द्रुतगतिसे उस ओर बढता है, बीचमे रुकता नही और न किसीकी बातोमे समय खर्च करता। तब वह शीघ्र ही अपने इष्ट स्थानपर पहुच जाता। स्वरूपकी ओर जाने वाले भी अपनी ही ओर चले जाते है परकी तरफ लक्ष्य नही करते। इस तरह आप अपने निश्चय और निश्चल मजिल पर पहुच चुके है। दभसे अतमे तिरस्कार और दुख होता उसका एक उदाहरण इस प्रकार है—एक स्त्री अपने पतिसे हमेशा कपटका व्यवहार किया करती थी, एक दिन पतिको नीचा दिखानेके लिये वह पेटके दर्दका बहाना लेकर लेट गई और रोने चीखने लगी। पति घबडाया, स्त्रीने कहा छुटपनमे भी ऐसा दर्द हो जाता था सो हमारा जो सबसे प्यारा होता था वह अपने सब बाल मुडा लेता तो दर्द शात हो जाता। तब उसने शीघ्र ही अपने सिरके व दाढी मूछके केश मुडवा लिये, स्त्री चंगीका रूप ले उठ बैठी और दूसरे दिन आटा पीसते समय गाती है—अपनी टेक रखाई पतिकी मूछ मुडाई। पति उसकी चालबाजी जान गया। अब उससे न रहा गया और स्त्रीको नीचा दिखानेके लिये एक ढग रचा कि अपनी सुसराल वालोको एक चिट्ठी भेजी, उसमे लिख दिया कि सवेरा होते होते आप सब घरके व्यक्ति अपना अपना सिर मूछ वगैरह मुडाकर आओ तो आपकी लडकी (ससुरके प्रति लिखता है) की जान बच सकती है अन्यथा दिन निकलनेपर वह मर जायगी, ऐसा ही रोग है देवताने ऐसा बताया है। चिट्ठी पाते ही स्त्रीके माता पिता और भाई वगैरह सबोंने अपने-अपने केश मुंडवाना शुरू किये और रातो रात दामादके गाँव चल दिये। सवेरा होने को ही था, पतिने देख लिया कि सुसरालकी मुँडन पल्टन आ रही है, उसी समय जब कि स्त्री चक्की पीसते समय वह गीत दुहरा रही थी कि पतिकी मूंछ मुडाई अपनी टेक रखाई। तब पति तुरन्त ही छद पूर्ति करता है कि पीछे देख लुगाई मुडनकी पल्टन आई। स्त्री जब पीछे देखती है तो सचमुच माँ बाप और भाई वगैरह पीहरके सब व्यक्ति मूंड मुडाकर भागे आ रहे है, इससे उसको अत्यधिक तिरस्कृत और दुखी होना पडा। दभका फल दुख ही है, जो जितना सुखी है वह उतना ही निष्कपट है, अथवा जो जितना निष्कपट है वह उतना ही सुखी है। तो भगवान पूर्ण सुखी हैं अत पूर्ण निष्छल होने ही चाहिये। उनकी आत्मा सर्वत चैतन्यप्रकाशसे सदा प्रकाशमान एकरूप रहती है। देखो दभ अत तक निभता नही रोके भी अटक जाते हैं। अपने कार्यमे वह सफल नही हो पाता। पर वस्तुका उपयोग करना यह बडा दभ है। अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमे न ठहर कर, सेवा करूगा और भक्ति

आदिके रूपमे भी कुछ करना सो कपट ही है। क्योकि आत्मस्वरूप और भांति और करता कुछ और भांति, दुकान धन और परिवार आदि तो क्या, व्रत संयम और उपवास आदि भी जो आत्मामे स्वभाव नही है उनमे रुचि करना सहजभावके प्रति दंभ है। सो इससे आत्मा स्वरूपस्थ नही होती है। हे भगवन आप इससे रहित है और मैं भी स्वभावमे सर्वथा दंभ रहित हू। जो जान बूझकर और बाहिरी लाग लपेटकर कपट कर रहा है, अपना स्वरूप छुपा रहा है, अपनेको पररूप प्रगट कर रहा है यह अपने अज्ञानका फल है। सोचता जरूर वह यह है कि मैंने तो चतुराई की किन्तु की अज्ञानता।

वितृष्ण सहजसिद्धका अभिवन्दन—वितृष्ण! हे भगवन आप तृष्णारहित है। लोभ कषाय जब प्रगट होती है तब वह बाह्य वस्तुके आश्रयको लेकर ही होती है। कहा जाय कि बाह्य पदार्थका ध्यान न करो और लोभ करो सो नही बनता, वह तृष्णा तभी प्रगट होती जब बाह्य पदार्थको विषय किया जाता। भगवान् आप सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञाता है, फिर भी आपमे राग नही है, लोभ नही है। सामान्यतया ज्ञानमे विशुद्ध ज्ञान स्वभाव आता। निज आत्मतत्त्वके सिवाय किसीमे राग या रुचि करना तृष्णा ही है। आत्माके सिवा चाहे वह शरीर हो, कषाय हो या अल्पज्ञान स्वभाव ज्ञान नही) हो, उन सबमे रुचि करना तृष्णा है। परमाणु मात्र भी जिसे राग आवे वह तृष्णालु और मिथ्यादृष्टि भी है। कोई कहे कि हमको एक ही चीजमे ममत्व है और किसीमे नही तो उतने दरजेका सम्यग्दर्शन हो जायगा सो ऐसी बात नही है। उसकी तृष्णा व मिथ्यात्वकी तीव्रताका ही यह रूप है कि उस एक (चाहे वह पुत्र हो स्त्री हो पति हो अथवा पिता हो उस) पर ही ममता अटक गई है। उस एकपर इतनी तीव्र ममता है कि अन्य सबको ओझल कर दिया है। एककी भी आसक्तिसे ज्ञान सुलझता नही। देख लो—घरके कुछ व्यक्तियोमे स्नेह कम होनेपर बाहिरमे उतना ही स्नेह अधिक लोगोपर हो जाता, ससारके उतने ही अधिक प्राणियोसे प्रेम करने लगता या कर सकता। ऐसी हालतमे मंद राग भी हो जाता। यह बात सर्वथा एकात नही है, हो सकता है कि कारणवश और सबसे मोह तोडकर भी एकसे प्रेम बना रहना पडता हो। और हो सकता है कि घरके बाहिर दुनियाके बहुत लोगोसे स्नेह करके रागको तीव्र किया जा रहा हो। आपेक्षिक दृष्टिकोण हर स्थानमे यथोचित लागू करना चाहिये। हे प्रभो! आपमे विभावभाव सर्वथा नही है। अत सब प्रकारसे वितृष्ण हैं और हे सहजसिद्ध! तुम भी वितृण स्वभाव हो। स्वभावमे विभाव कषाय नही होती।

विदोष व विनिद्र सहजसिद्धकी उपासना—हे भगवन आप निर्दोष याने दोषरहित है। स्वभावका स्वलक्ष निर्दोष है। तो स्वभावसे देखें तो विदोष ही है हम सबकी आत्माए। वह तो एक स्वच्छ ज्ञायक वस्तु है, इसकी प्रसन्नतामे हित है। भगवानके औपाधिक शरीर

आदि नही होते । 'जन्म जरा तिरखा क्षुधा विस्मय आरत खेद । रोग शोक मद मोह भय निद्रा चिता स्वेद ॥ रागद्वेष, 'अरु मरण' मे मोह जनित सारे दोष अरहंत भगवानमे भी नही होते । भगवानके मरण भी नही, उनके आयुका अत मरण नही कहलाता, निर्वाण कहलाता है । उन्हे शीत आदिकी वाधा नही, भूख प्यासकी बाधा नही । यदि ये वाधाए उनमे हो तो वे पूर्णज्ञानी और वीतरागी भी नही रह सकते । वे किसीके द्वारा स्पर्श भी नही किये जा सकते । विहार भी अकेला हो होता है, ५ हजार धनुष ऊपर उनकी स्थिति होती है। उन्हे कोई तरहका उपद्रव नही हो सकता, उस अरहत अवस्थाका ऐसा ही प्रभाव है । वे स्वरूपमे लीन रहते है ध्वनि भी निकलती है तो हम साधारण पुरुषोसे विचित्र, विना इच्छा के तीर्थङ्कर प्रकृतिके उदयसे और भव्योके कल्याणभावनाकी प्रेरणासे स्वयमेव निरक्षरी ध्वनि खिरती है । उनके रोग आदिका दोष भी नही है, क्योकि शरीर परमऔदारिक है, पवित्र और प्रकाशमान परमाणुओसे अरहतका शरीर होता है । सामान्यकेवलीरूप जो अरहत होते है, छद्मस्थ अवस्थामे शरीर कुरूप और रोगी भी रहा हो, वृद्ध और वालरूप रहा हो पर केवलज्ञान हो जानेपर उसमे ऐसा अपूर्व परिवर्तन हो जाता है कि अतिसुन्दर प्रकाशमान रोग वृद्धादि दशारहित, परमसौम्य होता है, केवल नोकर्म वर्गणाओसे शरीरकी पुष्टि होती है, हम जैसा आहार उनके शरीरको आवश्यक नही रहता, किसी भी प्रकार दोष उनके नही हैं तथा देहदोषाभावके कारण आप विनिद्र हो, हे प्रभो ! आप निद्रासे रहित हैं। शरीर नही तो निद्रा क्या होगी ? अरहत भगवानके भी निद्रा नही आती, क्योकि निद्रा पैदा करने वाला कर्म उनके नही रहा । देवोके भी निद्राके उदय होते भी उन्हे नीद नही आती, आखोकी पलकें नही झपती, फिर केवलीका तो कुछ आश्चर्य ही नही और असली निद्रा तो मोहकी है, जिसमे अनेक आपत्तियाँ है, क्लेश हैं, यह हमारी आत्मा भी स्वभावत विनिद्र है, शरीर वा कर्मोकी दशाओसे वा कर्मके निमित्तसे होने वाले विकारी भावोसे रहित है ।

परात्पर सहजसिद्धकी उपासना—परात्पर ! उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट हैं आप । उत्कृष्ट के विकल्पोसे भी आप रहित हैं। जिन जिन तत्त्वोपर विकल्प दृष्टि होती वह वह सबपर है, शरीरपर दृष्टि गई तो वह पर हो गया, कषायपर दृष्टि गई तो वह पर हो गया। केवलज्ञानपर दृष्टि गई तो वह भी पर हो गया, दृष्टि भी पर है, चैतन्यके स्वलक्षणसे न्यारा होने से। भगवानपर दृष्टि गई तो वह भी पर हुआ । मैं सत्तावान चैतन्यद्रव्य हू आदि दृष्टिसे जिसे जाना वह भी पर है, मैं ज्ञानवान हू इस दृष्टिसे जो निरखा गया वह भी पर है और ज्ञान दूसरेको नही निरखता, अपनेको ही देखता है। अपना परिणमन अपने को देखता । ज्ञेयाकार ज्ञानमे जो पडता वह भी पर है। जहाँ दृष्टि और दृष्टा एक हो वह मैं

एक चैतन्यस्वभाव हू। मैं एक असाधारण चैतन्य स्वभाव रखता हू, उसके विषयमे जो तरगे है वह मैं नही हू, जिसकी तरगे उठती है उसे दृष्टिमे लाये परतु किसी दृष्टिसे उसमे जो आकार बनेगा, वह सब पर है। जहाँ ध्यान ध्याता और ध्येयका विकल्प रहे और उससे निज भी समझा जाय तो वह भी पर है। उससे रहित एक मैं हू। ऐसे परात्पर भगवान प्रसन्न हो, पर्याय निर्मल हो।

शंकर सहजसिद्धकी अभ्यर्चना--शंकर–शं–सुख करोतीति शंकर। भगवान अनन्त सुखमय है और उनका ध्यान कर प्राणी भी अनन्त सुखको प्राप्त होता है इस दृष्टिसे वे शंकर है। अरहंत और सिद्ध परमात्मा अनन्त सुखसे परिपूर्ण हैं, और द्रव्यसे हमारी आत्मा भी। निश्चयत. आपके शकर आप है। और भगवान शंकर कब बने ? जब इनके सिरसे गगा बह निकली। चेतनका सिर ज्ञानगुण है, उससे प्रवाहशील ज्ञप्ति–ज्ञान परिणति गगा है। वह निर्मलरूपसे प्रवाहित होती रहती है, थमती नही है। भगवानके भी केवलज्ञानकी परिणति होनेपर वह रुकता नही है, प्रतिक्षण एकसा बेरोक टोक बहता रहता है, अत ज्ञान-गगाको प्रवाहित करने वाले भगवान वीतराग सिद्धदेव शकर हैं। जब इस आत्मासे केवल-ज्ञान गगा बह जाय तब यह शकर है, जब तक केवलज्ञान न हो तब तक दु खकर है। और ये सहजसिद्ध भगवान भी शकर है। जब कभी भी शं (सुख) होगा तो इसीसे होगा। आखिर सुखकी खदान तो यही है। वह शकर जो स्थिर रहता है और ज्ञानगगा बहती रहती है वह अनादि अनत अहेतुक सहजसिद्ध भगवान हमारा आत्मा ही है। मेरा शंकर मुझमे ही है। सुखके खातिर दूसरेमे शंकरकी कल्पना क्यो करता ?

सार सहजसिद्धकी उपासना– सार–सरति, गच्छति, उत्कृष्टत्वमिति सार। अनेको ने इसही चैतन्यके विषयमे नाना कल्पनाए करके इसे उत्कृष्टतत्त्व माना है। ब्रह्माद्वैत, चित्राद्वैत, ज्ञानाद्वैत आदि कहकर एक चैतन्यकी ही स्तुति की है। उन्हे स्याद्वादका सहारा न मिल सका और उनका ज्ञान एकागी रहा, यह बात दूसरी है। जिसको हम पर्यायदृष्टिसे दूर होकर जगतके सब पदार्थोका मूल पहिचान सकते है इसके ही विषयमे लोगोने नाना कल्पनाएं की है। वह भगवान निर्विकल्पकज्ञानसे देखा जा सकता है, सविकल्पकज्ञानसे नही देखा जा सकता। ऐसे भगवान ! प्रसन्न होओ। देखो भैया ! जैन सिद्धान्त व्यक्तिको नही मानता, माना है तो एक ब्रह्माद्वैतको देखने के लिये माना है। जैन सिद्धान्त तो यही कहता है कि जो रागद्वेषकी धारासे रहित चैतन्य तत्त्व है वह हमारा आराध्य है। ऐसा गुण जिसमे भी पाया जाय, चाहे वह ऋषभ हो, महावीर हो या और कोई नाम वाला हो, राम हो, हनुमान हो, विष्णु नाम वाला हो, शकर नाम वाला हो। नाममे विवाद नही है। किन्तु पुराणोमे जिनका चरित्र ऐसा मिलता है उन्हे ही आराध्य मानते है। जिनका

चरित्र ऐसा नही उन्हे आराध्य नही मानते । ऐसे हम और आप सभी आराध्य बन सकते हैं । मनुष्य भव पाया है तो हमे अपना वैभव पानेकी चेष्टा करना चाहिये । सारा उपयोग परमे लगा कर जीवन बर्बाद न करना चाहिये । निज चैतन्यदेव ही सार वस्तु है ।

वितन्द्र सहजसिद्धकी उपासना--वितन्द्र ! हे प्रभो ! आप तन्द्रारहित हो, जो प्रमाद मे नही, कषायमे नही वह वितन्द्र होता है । जो सतन्द्र है वह स्वरूपकी सावधानी नही कर सकता । मोहकी तन्द्रा बडी भारी है । एक बडा पहलवान जो हजारोको पछाडता हो, एक बडा व्यापारी जो करोडोका व्यापार चलाता हो, एक बडा कलाकार जो अनोखी रचनायें करता हो ये सब तन्द्रावाले हैं । क्योकि स्वरूपकी उन्हे खबर नही है । यत्न उसमे न करें तो क्या करें ? वे जीव आलसी हैं जो स्वरूपकी सावधानी नही कर सकते । निर्मल परिणामो को करते करते अन्तर्मुहूर्तमे क्षणिक विश्राम लेना पडता है और शरीरका श्रम करनेवाला तो लगातार ६ घटे भी मेहनत कर सकता है । निर्बलोके प्रथम पुरुषार्थमे ऐसा ही होता है । विसयोजनके बाद अन्तर्मुहूर्त बाद विश्राम लेना पडता है तव आगे चढ सकता है । तो आलस्य है परकीय ध्यान और तो निरालसीपन है तो एक अपने उपयोगमे लीन होता । लेकिन प्रभो आप निरन्तर अपनेमे लीन रहते हो, थकते नही हो, विश्राम नही लेना पडता । हे चैतन्य-देव ! सामान्यदृष्टिसे पहिचाने गये तुम वितन्द्र हो ।

विकोप सहजसिद्धकी उपासना—विकोप ! आप क्रोधरहित हो । भगवान या सहज सिद्ध भगवानके क्रोध नही है । कर्मक्षयभगवानके द्रव्य और पर्याय दोनोमे क्रोध नही किंतु सहजसिद्ध हमारी आत्मामे केवल द्रव्यसे । सामान्यध्रुव एकस्वभावी होता है । उस दृष्टिमे वे सिद्ध भगवान और मैं एक ही हू । अरहतदेव भी और इससे पहिलेकी अवस्था यतिरूप जो श्रेणियोमे लगे रहते वे भी (विशिष्ट मुनि) विकोप है । हे नाथ ! आपने क्रोध तो पहिले ही खतम कर दिया था । फिर कर्मोका नाश करनेका आपके कैसे पुरुषार्थ हो गया भगवन ! ऐसा वितर्क होता है देखो भैया ! ससारी प्राणियोका ऐसा ख्याल है कि क्रोध करके विजय पाई जाती, शत्रुको खत्म किया जाता लेकिन यह वात नही है । सच्ची विजय क्षमासे ही मिलती है । जलानेका दृष्टात देखना हो तो अग्निसे ही चीज नही जलती । अतिशीतसे भी बडे बडे पेड जल जाया करते हैं । जाडेके दिनोमे जब बर्फ पडता है तो असख्य वनस्पतियाँ सूख जाती है । क्रोधसे लोकमे इज्जत जाती रहती है । जो क्रोध करके अपनी इज्जत बनाना चाहते हैं, परिणाम इससे ठीक विपरीत होता है । अर्थात् उनकी इज्जत बननेके वजाय घट जाती है । क्रोध करके शाति प्राप्त नही की जा सकती, दूसरोसे सहयोग प्राप्त नही हो सकता और न स्वय दूसरोकी सेवा कर सकता, प्रिय वचन नही वोल सकता और न दूसरोसे वैसे मनोहारी वचन प्राप्त कर सकता । आदरका भी पात्र नही रहता और धनकी

कमाई, कुटुम्बका स्नेह या प्रेम आदि सब कुछ बिगड जाता है। इसकी बुराई गाई नही जा सकती। इस लोकमे भी शाति नही परलोकमे भी नही। भगवान तो सर्वथा क्रोध रहित है। क्रोधके कितने ही निमित्त मिले लेकिन जवाब शातिसे देना चाहिये। तो उसका असर अच्छा होता है। क्रोधमे अहित ही अहित है। एक मुनि नदीके किनारे एक शिला पर ध्यान लगाते थे। धोबी भी कभी-कभी उसी शिलापर वस्त्र धोया करता था। चर्या करके मुनि ध्यान लगाने वहा आये और उसी समय धोबी भी कपडे धोनेके लिये आया। दोनोमे हट पड गई। मुनि कहे इसपर तू कपडा नही धो सकता और धोबी कहे मैं यही पर धोऊगा। अन्तमे दोनोमे हाथापाई होने लगी। धोबीका अधोवस्त्र खुल गया, तब वह भी नगा हो गया। कुछ देर कुश्ती होते होते मुनि ऊपर देखते है कि मुनिकी रक्षाके लिये देव नही आते। तो ऊपरसे आवाज आती है कि देव तो रक्षा करनेको तैयार खडे है, लेकिन मुनि कौन है और धोबी कौन है समझ नही पडता। देवका मुनिके लिये यह व्यंग था कि जैसा धोबी लडने पर उतारू हो गया इसी तरह तुम भी अपना क्षमापद छोड धोबी जैसे उद्दण्ड वृत्तिमे आ गये। और नगे हुए तो क्या हुए, धोबी भी कपडा खुलनेसे नगा हो गया है। साराश यह कि यदि क्षमा भाव मुनि रखते तो अवश्य ही उनका वह तिरस्कार न होता जो हो गया। क्षमाका बर्ताव होनेसे शातिसे बात समझानेपर वह मान भी जाता और इतना भी नही यह भी हो सकता था कि धोबी अपनी गलती कबूल कर नतमस्तक होकर जाता और अधिक निर्मलता आती तो दर्शन व्रत भी ग्रहण करता। लेकिन क्रोध जहाँ आ गया वहाँ इन सब अच्छी बातोकी क्या आशा की जा सकती है? वहाँ तो बुराइयाँ ही बुराइया बनेगी। क्रोधका जवाब क्रोधमे देनेसे शाँति नही मिलती। अपने आपमे क्रोध प्रगट न होने दो तो दूसरोको भी शाँत रहने या शाँत होनेका अवसर रहेगा। सहजसिद्ध भगवान स्वरूपसे निक्रोध ही है, **और कर्मक्षय सुसिद्धसमूह** तो अनन्त क्षमाके प्रगट रूप ही हैं।

विरूप, विशंक सहजसिद्धकी उपासना—विरूप! हे भगवन! आप रूपरहित है। काला, पीला आदि वर्ण पुद्गलके गुण हैं, वे चेतनमे नही है। संसारी अवस्थामे शरीर आदिका सयोग होनेसे कदाचित् वर्णादिमान् कहा जाता था लेकिन कर्मक्षय कर देने पर सर्वथा वर्णरहित ही हैं, कोई अपेक्षासे उपचारसे भी वर्णादिमान नही कहला सकते। आत्मामे वर्णादि है ही नही लेकिन मोही मिथ्यादृष्टि शरीरको अपना मानकर शरीरके रगसे अपनेको समझता है मैं काला हू गोरा हू आदि। सो आत्मा तो उसके माननेसे वर्णादिमान नही हो जाता, लेकिन कल्पनामे तो वर्णादि आ ही जाते है, सो मोहके जानेपर वह कल्पना नही रहती। भगवानके मोहके सर्वथा नष्ट होने से वे सर्वथा अरूप वर्णादि

रहित अतीन्द्रिय गोचर ज्ञानशरीरी चैतन्यधन है। मैं भी अनादिसिद्ध ऐसा ही हू। यहाँ शका रच भी न करना। इस मैंको देखो जिसे 'मैं' कह रहा हू। विशक हे प्रभो! आप शका रहित है। अपने स्वरूपमे धडाधक परिणमते जा रहे हैं। किन्तु ससारी अनन्त शङ्काओसे अस्त व्यस्त चित्त हमेशा अपने स्वरूपके परिणमनमे अटकते रहते हैं। कभी भी अपने स्वभावपरिणमनमे नही आते। यद्यपि स्वरूपको देखो तो नि शक ही है, निर्भय ही है। अनतकालसे कोई द्रव्य उसको स्पर्श तक नही कर पाया, फिर उसके विगाड करनेकी बात तो अलग रही लेकिन यही अपनी भूलसे अपनेको परतत्र और दूसरे पदार्थोसे भयभीत रहता है। परपदार्थमे इच्छाका विषयत्व माना है अत ये सव शंकाए और भय हैं। यह सहजसिद्ध भगवान भी विमोह है और कर्मक्षय तो है ही (पर्यायमे भी) सो हे सिद्ध समूह! प्रसन्न होओ। जरामरणोज्भित वीतविहार विचिंतित निर्मल निरहकार। अचिंत्य चरित्र विदर्प विमोह प्रसीद विशुद्धसुशुद्धसमूह ॥

जरामरणोज्भित सहजसिद्धकी उपासना--हे भगवन! आप बुढापा और मरणसे रहित है। लोगोको इन दोनोमे आफत दीखती है। सो आप इन दोनोसे रहित है। और जन्मकी कहो तो आप इससे भी रहित है। बुढापेकी तकलीफ अनुभवमे तभी आती जब स्वय बुढापा भोगना पडता है। उस दशाका विचार करनेसे वैराग्यके परिणाम होते है ऐसा होता है बुढापा। जहाँ शरीर जीर्ण होने लगे वह है जरा। सो हे भगवन! आप जरा से रहित हैं, क्योकि शरीर ही नही है, और शरीररहित है और मरणसे भी रहित है। बुढापेमे कमर लचक जाती है और झुक कर चलना पडता है, मानो अब खोई हुई जवानी को ढूढ रहा हो अथवा जवानीमे घमडसे जो अकड कर चलता था, सो बुढापा मानो सीख दे रहा है कि अकडना ठीक नही, आखिर वह झुकने के लिये बाध्य करता है। बूढा और तो क्या प्रिय कुटुम्बियोके लिये भी भारभूत हो जाता है, सन्मानहीन हो जाता। घरके लोगोको उसकी टहल आफत सी मालूम पडती। हितू लोग भी यह विचारने लगते कि इनकी जल्दी सुनले तो अच्छा (मृत्यु जल्दी आ जाय तो अच्छा)। इस अवस्थामे दु ख विशेष है, फिर भी समाधिमे लगा जाय तो दु ख नही। इस अवस्थामे भी जिसको अपने स्वरूप की दृष्टि नही आई उसे यह बडे दु खका कारण है। धर्मात्माको किसी भी अवस्थामे दु ख नही। फिर भी आंशिक दु ख तो लगा ही है जब तक कि ससार है। पर हे सिद्धभगवान! आप जरा और जराका कारण शरीररहित होनेसे उस दु खसे पूर्ण रहित हैं। मरणका दु ख भी भारी है। कहते हैं मरते समय आत्मा खिंचती सी है सो खिचना तो क्या निकलने को तो एक समय मात्रमे ही निकल जाती है पर शरीरसे जो मोह लगा रखा था अब उससे संयोग छूटनेका समय आया, सो इसका ही महान दु ख होता है तथा शरीरसे आत्माके

अलग होनेके पहिले शरीरमे विशेष हलचल भी होती होगी, जिससे मरणका संकेत मिलता होगा और जिसके नामसे डरता था अब सिरपर आ खडी होनेसे गम्भीर वेदनाका अनुभव होता होगा। मरते हुए व्यक्तियोके कुछ दुःख भरी टीससे इसका दुःख समझा जा सकता है। मनुष्यभवकी सफलता अपने आपके सुधारमे है। हमे करना यह चाहिये कि जरा मरण रहित सिद्ध भगवानकी उपासना करे ताकि उसके दुःखसे छूट जाएं। निश्चयतः जरा मरण आत्माकी दृष्टि करनेसे वह निरापद अवस्था प्राप्त होती है।

वीतविहार, विचिन्तित व निर्मल सहजसिद्ध भगवानकी उपासना—वीतविहार ! जिनका परिभ्रमण मिट गया और अपने ही प्रदेशोमे ही विहार कर रहे, ऐसे हे भगवन प्रसन्न होओ। स्वरूप अपने आपमे ही गमनका था लेकिन विकल्पोसे परिभ्रमण रूप बनाया। हमारा सामान्य स्वरूप भी भगवानके अनुरूप है। लेकिन भ्रमसे परको अपना रहा है और विकारोमे भटकता रहता है। लोकके क्षेत्रमे भी इधरसे उधर और उधरसे इधर भटका ही करता है, पाच परिवर्तनके अनतकालको पूरा करता रहता है, लेकिन जब अपनेकी सुध आती है तब वह परिभ्रमण मिटता है। विचिन्तित हे भगवन ! आप चितारहित हो। अथवा मनसे नही विचारमे आ सकते, आत्माके अनुभवमे ही आ सकते हो। यह सामान्य आत्मा भी ऐसा ही है। उपाधि भावको हटाकर जब स्वका लक्ष्य बनावे और उसमे लीन होवे तब अपना अनुभव होता। जैसे आत्माका यथार्थस्वरूप अवक्तव्य है और विशद बोधके लिये मात्र आत्मानुभवसे ही गम्य है मनसे भी गम्य नही, यह है सहजसिद्ध निज चैतन्यदेव की चर्चा। ठीक वैसे ही कर्मक्षय सिद्धमहाराज भी चिन्तवनसे आगे है। हे सहजसिद्ध देव ! प्रसन्न होहु निर्मल होहु जिससे मैं सर्वथा विचिन्तित बनूं। निर्मल ! हे भगवन व सहज-सिद्ध आत्मदेव ! तुम निर्मल हो, सिद्ध कर्मक्षयसे पर्यायमे भी निर्मल है और तू द्रव्यमे। यदि दृष्टि निर्मलकी बनावे तो तू निर्मल ही है क्योकि जैसी दृष्टि रखी उसी रूप तत्त्व नजर आता है, उसीका कर्ता बनता है और फल भी वैसा ही मिलता है अन्यथा बतावो भैया ! आत्मा तो यह अभी मलीन है और अपने सिवाय अन्यको कोई देख जान सकता नही तथा यदि आत्मा मलीन तत्वको ही देखता जानता रहे तो निर्मलता कैसे आवेगी ? सो भैया बात ऐसी है कि आत्मा सामान्यविशेषात्मक है, विशेष तो निर्मल समल होता है और सकल पर्यायोमे रहनेवाला तो वह एक है उस अन्वयी एकको देखो तो वहाँ पर्याय ही नजर नही आती ऐसा अन्तग निर्मल है उसके लक्ष्यसे पर्याय निर्मल होता है।

निरहंकार सहजसिद्ध प्रभुकी उपासना—निरहंकार प्रभो ! आप अहंकाररहित है। परमे स्वकी बुद्धि अहकार है। सो आपमे वह नही है। अहंकारी पुरुष क्रोधी, मायावी और लोभीकी तरह सुखी नही रह पाता, जब कि निरभिमानी सुख शांतिसे रहता है। जगतके

प्रत्येक जीवने अनादिसे अहकारकी बुद्धि ली, रागादिकी दशाको अपना माना, किंतु यह न जाना कि यह रागादि अध्रुव चीज है मेरी नही है। मैं तो अध्रुव हू। जो सब ओरसे दृष्टि हटाकर अपनेको अपनेमे देखता है वह निरहकारी है। हे भगवन्! आप और सिद्ध भगवान आप चित्य भी ऐसे ही हो। ससारी तो भूलसे व्यर्थ ही अहंकारी बन रहा है। अचरित्र! जिसके चरित्रको व्यापारको परिणमनको कोई विचार नही सकता, हे भगवन आप ऐसे हैं और हे सहजसिद्ध भगवान आप भी ऐसे हैं। स्वयके द्वारा अनुभवमे आ सकते हो, तुममे तुम छिपे हो, उससे जाननेके लिये इन्द्रियोकी वा मनकी सहायता मत लो, केवल अपनेसे ही उसे देखो, वह दिखेगा और अवश्य दिखेगा। उसके दिखनेमे आनन्दका समुद्र मिलेगा ऐसे चरित्र-वाले हो तुम। स्वय अपने आपके अज्ञानसे खोटे मत बनो, अपनेको मत भूलो। अपने उच्च पदकी तरफ देखो और उसीमे तन्मय हो जाओ। विदर्प! आप दर्परहित है, ममतारहित हैं। अहकारसे पैदा होनेवाली ममता भी जीवको जलाती रहती है। अत उसका अभाव भगवान मे देख अपनेको तद्रूप देखनेकी भावना भक्त बना रहा है। निश्चयत हमारा आत्मदेव विदर्प है। झूठे ही यह घर मेरा, यह धन मेरा आदि करके अपनेको भटका रहा है। सो हे प्रसिद्ध सुसिद्ध समूह और सहजसिद्ध प्रसन्न होओ।

विवर्ण विगध विमान विलोभ विमाय विकाय विशव्दविशोभ।
अनाकुल केवल सर्व विमोह प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह॥

विवर्ण सहजसिद्धकी उपासना—हे प्रभो! आप वर्णरहित है। वर्ण पुद्गल द्रव्यका अभिन्न गुण है, जिसकी पर्यायें हैं काला, पीला, नीला आदि उनसे आप रहित हैं। जब कि आत्मामे वर्णादि हैं ही नही उसके कहनेकी आवश्यकता ही क्यो? इसलिये कि शरीरमे जीव अनादिसे अपनापन बना रहा है। और शरीरमे काला पीला आदि वर्ण है तो उसका ज्ञान करानेके लिये कहा जा रहा है कि आप उस मिथ्या कल्पनाके आश्रयभूत वर्णादिसे रहित हैं और मैं भी स्वभावत वर्णादिसे रहित हू। शरीरमे वर्ण गन्धादि पुद्गलके कारण तो हैं ही, फिर भी वर्ण नाम कर्मके उदयसे वर्णादि माना गया है। कहते हैं कि शरीर पुद्-गल है तो वर्ण आदि अपने आप होगे ही। फिर उस प्रकारके रूप रस गंध और स्पर्श नाम कर्मके माननेकी क्या आवश्यकता? इसका उत्तर यह है कि प्रतिनियत जातिमे प्रतिनियत वर्ण आदि रहे ऐसी व्यवस्था नामकर्मके कारणसे है। जैसे—घोडेके शरीर जैसा रूप स्पर्शादि यदि मनुष्यमे भी पाया जाने लगा और मनुष्य जैसा वर्णादि घोडे आदिके शरीरमे पाया जाने लगा तो बडी अव्यवस्था होगी। लेकिन ऐसा नही होता। यह सब वर्णादि नामकर्म की व्यवस्थाके कारण है। भगवान शरीरके सयोगसे रहित होनेके कारण सर्वथा विवर्ण हैं तथा मैं सहजसिद्ध शरीरका सयोग रहते हुए भी स्वरूपसे सर्वथा अमूर्तीक ही हू, रूप रस

आदिसे रहित ही हूं। मनुष्य जीव तिर्यञ्च जीव आदि व्यवहारसे भले ही कहलाओ लेकिन मैं तो सत्तामे इस पुद्गल पिंडसे सर्वथा भिन्न ही हूं।

विगन्ध विमान विलोभ सहजसिद्धकी उपासना—विगंध ! हे भगवन और हे सहज-सिद्ध आत्मन् तुम वर्णके समान गधरहित भी हो, वर्णके साथ इसका भी निषेध हो जाता है, फिर भी पृथक पृथक नाम लेकर इस भावनाको पुष्ट किया जा रहा है कि अनादिसे मिथ्यात्वके कारण वर्ण गधादि गुणात्मक शरीरको आत्मा मान रक्खा है यह भारी भ्रम है। मैं इन पुद्गलोके गुणोसे रहित ही हू, अमूर्तीक चैतन्य गुणवाला ही हू जब कि वर्ण गध आदि जड पुद्गलके गुण है, वे हमारे त्रिकालमे भी नही हो सकते। हे विमान ! प्रभो ! आप मानरहित हो। पहिले मानका पर्यायवाची दर्प और अहंकाररहित भगवानको कह आये हैं फिर यहाँ मानरहित कहनेका मतलब साधारणत परबुद्धिके लिये है, जब कि अहकार मिथ्यात्वके सम्बन्धपर जोर देनेके लिये है और दर्प अहकार चारित्रमे उद्वृत्तिके लिये आता है। स्वाभिमान और गौरव जिसे कहा जाता है उसमे भी मानकी पुट है। उसके बिना-स्वाभिमान और गौरवकी बात नही आती। अपने गौरवसे रहना चाहिये, इसमे मान कषायका भाव है। भगवान मानकी सर्वपर्यायोसे रहित है। अत बडे-बडे महतोके लिये गौरवकी वस्तु है। विलोभ ! भगवन ! आप लोभरहित है। लोभ कई तरहका होता है, शरीरका लोभ, कुटुम्बका लोभ, दानका लोभ, प्रतिष्ठाका लोभ, यशका लोभ आदि। भगवान आप सब प्रकारके लोभोसे रहित है। आत्माका स्वभाव सर्वकलङ्कोसे परे है, सब वस्तुओसे भी अत्यन्त पृथक् है। ज्ञायकस्वरूप इस निजतत्त्वके अधिकारी सहज ही सर्व लोभसे पृथक् रहते ही है। लोभ गहन अन्धकार है, सर्व आपदावोका मूल है। यदि सम्यक् प्रकारसे निरखो तो सभी विभाव लोभमय है। लोभ कषाय इतनी प्रबल है कि सब कषायो के नाश होनेपर भी अन्तमे यही एक बचती है परन्तु आत्मस्वभावकी दृष्टिरूप असिका वह प्रहार नही झेल सकती, सो अन्तर्मुहूर्तमे यह भी नष्ट हो जाती है। हे कर्मक्षय सिद्धदेव ! तुम लोभसे सर्वथा दूर हो व लोभके निधानसे भी परे हो। हे सहजसिद्ध परमपारिणामिक भाव तुम तो अनादिशुद्ध हो। अब प्रकटमे भी प्रसन्न होइ।

ग्रहण ही नही, फिर शरीर कैसे बने ? संसारी पर्यायमे व्यवहारसे जो जीवको कायवान कह दिया जाता है। ससारी जीवोको कायकी अपेक्षामे गिनती करनेके लिये कहा जाता है कि ससारी प्राणी ६ तरहके है—१—पृथ्वीकाय, २—जलकाय, ३—अग्निकाय, ४—वायुकाय, ५—वनस्पतिकाय और ६—त्रसकाय। वस्तुत जीव और काय हमेशासे पृथक् पृथक् वस्तुएँ है। यह चेतन है तो वह जड, यह अमूर्तीक है, तो वह मूर्तीक, यह निज है तो वह पर। फिर उसका संयोग हमारी रागद्वेष आदिकी परिणतिसे लगा हुआ है। अत कायवान कहलाता, सिद्ध परमात्मा कषायरहित होनेके कारण कायसे सर्वथा रहित हो गये है। केवल प्रदेशीपनाका कायवान है जो कि अनादिसे है और अनत काल तक उसके स्वरूपमे रहेगा। मै भी सहजसिद्ध भगवान कायरहित हूँ, ज्ञान शरीरी हू। यह पुद्गलका सयोग केवल सयोगीमात्र है। विशब्द ! हे प्रभो ! आप शब्दरहित है। शब्द वर्गणा होनेसे शब्द बनता। आप ज्ञानमय ही है, शब्दका काम क्या ? वह तो पुद्गलका मूर्तीक जडका गुण है, अमूर्तमे शब्द नही और चेतनामे तो कदापि नही। इसी लिये शब्दो द्वारा आत्माको नही कहा सकता नही समझा सकता क्योकि शब्द जड हैं उनमे वह ताकत नही कि आत्माका ज्ञान करा दें, यही कारण है कि भगवानकी दिव्यवाणी सुनकर भी अभव्यको प्रतिबोध नही हो पाता उसके चेतनकी अयोग्यताके कारण। शब्द मात्रसे जो कुछ भी कहा जाता है वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, आत्मानुभवमे जो आता है सत्यार्थ तो वही है। संसारी प्राणीके लिये यह बात है तो जो कर्ममुक्त आत्माए शरीर और शब्दके सयोगसे रहित हो चुके है वे तो इससे अलिप्त है ही। विशोभ ! आप शोभारहित है। पुद्गलमे अपेक्षासे सौन्दर्य असौन्दर्य माना गया है वह मोहकी कल्पना है फिर भी वह शोभा और अशोभा पुद्गलमे दर्प पाई जाने वाली चीज है, चेतन तत्त्व उससे परिमुक्त है, वह तो अपने चैतन्यगुणसे अपने ही ढगका अभिराम पदार्थ है। अथवा हे प्रभो ! आप सर्व क्षोभसे रहित हो।

अनाकुल केवल सहजसिद्ध प्रभुका अभिनन्दन—अनाकुल ! हे सिद्धसमूह ! आप अनाकुल हो। अज्ञानसे अनाकुलता होती है। परमे अपना मानना सबसे ज्यादा अज्ञान है। परसे सम्बन्ध बनाते इसलिये दुख है, यदि यह बात न हो तो दुख है क्या ? सबका सत न्यारा न्यारा है जब सब पदार्थ अत्यन्ताभाव वाले हे फिर उनको सम्बन्ध वाला मानना, सो दुखका मूल है। यदि कोई स्वतन्त्र सत्स्वरूपपर दृष्टि रखे रहे तो दुखी न हो। किन्तु अज्ञानीने सयोगोको देखा, दशाओको देखा, अध्रुव और क्षणिकको देखा। ध्रुव एकरूप सहजसिद्ध चैतन्य पुञ्जको नही देखा। प्राणी अन्य सबको देख आकुल है अपनेको देखे तो निराकुल है। मूढतामे दूसरेपर स्नेह और वैर विरोध आदिकी जबरदस्ती की। पर हम अपनेको नही देख अपने से सबसे बडा वैर कर रहे है, यह नही समझा। हे भगवन

आप सर्वथा निराकुल है। निराकुलता आत्माका सहजसिद्ध गुण है। वह हममे भी सर्वदा मौजूद है। लेकिन पर्यायपर दृष्टि रखनेसे व्यर्थ ही आकुल बन रहे है। प्रभो! आपकी पर्याय द्रव्यके अनुरूप है। फिर आकुलताका काम ही क्या? ममेदं बुद्धि न हो तो आकुलता क्यो? यह चीज मेरी थी, मेरी है और मेरी है अनात्म तत्त्वोमे ऐसा जो विकल्प है वही दुःख का कारण है। जैसी वस्तु है वैसी मानते जाओ तो कोई आकुलता नही। जहाँ कर्ता कर्म स्वस्वामी सबध माना वहा ही सब दुःख आये। मोक्षमार्ग पानेके लिये यह परबुद्धि दूर करना चाहिये। सद्‌बुद्धि आनेपर यही ज्ञान तप सयम सवर और निर्जराका कारण होगा। और जब तक असद्‌बुद्धि रहेगी तब तक आस्रव और बध चलता रहेगा। जब तक अभिप्राय ठीक नही हुआ तभी तक शुभोपयोगको उपादेयरूपसे मानता और वैसा ही कहने सुननेकी आदत भी पडी हुई है। कर्ता कर्म और स्वस्वामी सम्बन्ध इन दोनोके होनेसे यह होता। अमुकने अमुकको ऐसा कर दिया, अमुक अमुकका स्वामी है—यही अभिप्राय खोटा है। यहाँ की कोई चीज आत्माके साथ नही है। साथ मान रहे हो तो परभवमे तो वह साथ न जायगी, कार्माण शरीर भी खिरता ही रहता है और मतिज्ञान आदि भी क्षणिक है। एक ध्रुवसे स्वभावका स्वस्वामी सम्बन्ध है परन्तु वहाँ विकल्प नही। अमुकने हमको सुख दिया, दुःख दिया, मैने अमुकको सुखी किया दुःखी किया जिलाया मारा आदि विकल्प परवस्तुके सयोगजन्य मिथ्या विकल्प हैं। इस अभिप्रायमे पदार्थके स्वतन्त्र परिणमनका ख्याल नही है। सबका परिणमन अपना-अपना जुदा है, कोई किसीका कभी भी परिणमन कर ही नही सकता, फिर भी वैसा मानना अज्ञान है। व्यवहारमे कहनेमे जो बात आवे यदि अभिप्रायमे उसको ठीक जाना हो तो अज्ञान नही है। किन्तु शास्त्रमे ऐसा लिखा है या ऐसा सुना है इससे निश्चय कैसी बात कहना भी अज्ञान है। यदि अभिप्राय ठीक नही हुआ है तो निश्चय भी विकल्प है किन्तु इसका प्रयोजन निर्विकल्प होनेके लिये है। भैया जो करो विकल्प हटानेके प्रोग्रामसे। बच्चेकी सगाई हुई कि उसके दसो विकल्प उठने लगते। और विवाह हुआ तब तो पूछना ही क्या? कई प्राणी कुटुम्बमे अकेला रह जानेमे अपनेको पापी समझते। लेकिन अकेला रह जाना बहुतसी आकुलताओके मिटनेका कारण है। अत वह पुण्योदयका कार्य है यदि उसे पापरूप न माना जाय तो। और वास्तवमे देखा जाय तो दुःख ममताका ही है। लेकिन सयोगकी बहुलतासे आकुलताएँ भी बढ सकती है। अत उसका थोडा रहना ही अच्छा है। अनाकुलताके लिये अकेलेका वातावरण अच्छा है। जो जितना अकेला है वह उतना ही सुखी है। भगवान सिद्ध सर्वथा अकेले है। अत सर्वथा अनाकुल हैं और सर्वथा सुखी है। हम अकेले नही हैं मान्यतामे सयोग है। इसलिये रोग, शोक और अपमान आदिका प्रसग आता, विडंबनाएं आती। शरीरमे कर्ताकर्म बुद्धि है

यही आकुलताका मूल है। नही तो दुःख नही। तो भगवान आप अनाकुल हैं क्योकि आप केवल (एक) हैं। अपने स्वरूपमे रह जानेको केवल कहते है, सो आप सर्वदा अपने स्वरूप मे ही है। मैं भी अपने द्रव्यमे ऐसा ही हू।

सर्वविमोह सहजसिद्ध प्रभुकी अभ्यर्चना—सर्व विमोह! आपने अपने मोहरहितपने को प्राप्त कर लिया है। ससारमे जो मोहकी अनेक दशाए हो रही थी उन्हे दूर कर दिया है। हम देह, कर्म और विभावके ददफदमे लगे हुए हैं। देह कर्म और विभावके फद ऐसे लगे हुए है कि हम इनमे उलझ रहे हैं। अनर्गल कल्पनाए होती रहती है। प्राणी अपने आपकी संभाल नही करता परमे उलभा रहता है, परकी सम्हालमे उलझा रहता है। स्वस्थ चित्त बैठकर और बाह्य चीजको अपने ज्ञानमे न आने दे ऐसी स्थिति पैदा करे तो अनाकुलताका स्वाद आवेगा। ६ माह इसका ही अभ्यास जीवनमे करके देखना चाहिये। व्यापार धधा तथा जिन्दगीका और कारोबार तो चलेगा ही, चलता ही रहेगा, कर्मोदयसे जो अवस्थाए होनी होगी सो होगी। भूखो तो मरेंगे नही। और धर्मकी आराधना करते भूखों भी मरना पडे तो आत्माके लिये बडा सौभाग्य होगा। वहाँ समताभाव रखिये कर्मोकी भारी निर्जरा होगी। समाधिमरण त्यागकी हालतमे होता है। लेकिन उसे आत्मामे भूखका क्लेश नही होता, प्रत्युत आत्मस्वादका अपार आनन्द आता। हमारे मनोबलमे कुछ दृढता आनी चाहिये तब कल्याण होना दूर नही है, कठिन नही है, सब कोई सब हालतमे कर सकते हैं। निःसङ्ग बुद्धि बनाओ। मुनि निःसङ्ग होनेसे सुखी रहते हैं, अन्यथा वे महान दुःखी कहलावे।

सर्वविमोह सहजसिद्धकी अभ्यर्चनाके प्रसंगमें अविमोहताके क्लेशका एक चित्रण—जगलमे एक साधुसे राजाकी भेंट हो गई। गर्मीके दिन थे। वे साधु पावमे कुछ नही पहिने थे। शरीरपर भी गर्मीके बचावको कोई कपडा वगैरह न था। राजा भोगोमे पला हुआ क्या जाने आत्मवैभव और आत्मानदको? उसने प्रार्थना की कि महाराज आपको गर्मीसे वचनेके लिये पैरमे सुन्दर जूता और ऊपर छतरीका इतजाम मैं कर सकता हू आप आज्ञा दें तो। साधु बोले—तब उस ढगके वस्त्र भी चाहिये, अलकार भी चाहिये। राजाने यह सब करनेकी सहर्ष स्वीकारता दे दी, फिर साधु बोलते है ऐसी वेश कीमती पोशाकमे पैदल चलना ठीक न लगेगा तब एक मोटरकी भी जरूरत होगी उसके लिये आदमी भी चाहिये। राजा बोला—मोटर और ड्राइवर भी महाराज दूंगा। साधु वोले, फिर भोजनके लिये इधर उधर भटकना ठीक न होगा, तब एक सुन्दर स्त्रीसे आपका शादी करा दी जायगी राजा बोला। तब इतने सब खर्चके लिये इन्तजाम? साधुने कहा। राजा बोले—आवश्यक जागीरी लगा दी जायगी। साधु बोले और स्त्रीसे वाल वच्चे होगे उनमे कोई मरेगा भी तव रोना किसको पडेगा? राजा बोला—साधो यह काम तो हमसे न होगा, रोना तो आपको ही पडेगा।

साधु बोले--जिस काममे रोना खुदको ही पडे उसे मैं नही चाहता । सो संबंध मात्र दु खका ही कारण है । इसमे उपादेय बुद्धि करके इसका सयोग जुटानेमे ही अपना जीवन बरबाद मत कर दो । और संयोग वियोग चलते रहे चलने दो, झुकाव तो अपनी ही ओरका रखो, धर्ममे तो चित्त लगाओ । ऐसा करोगे तो बेडा पार है । वर्तमान और भविष्य दोनो सुन्दर होगे । अतीत तो जितना बीत चुका वह असुन्दर ही रहा । यदि ऐसा नही करते, सम्भलते नही तो अनादिसे जो होता आया वही होगा । नर्क निगोद आदिकी पर्यायोमे कौन पूछेगा तुम्हारे दु खकी बात ? वहाँ पूछने वाला भी कोई नही रहेगा । और चेत गये स्वरूपकी सावधानी कर ली तो मोक्षपथमे बढते जावेगे और मोक्ष प्राप्त हो करके रहेगा । हे सिद्ध-समूह ! आपने यह विमोह दशा प्राप्त कर ली है, मेरी भी वही स्थिति हो । आप प्रसन्न हो । निर्मल हो निजके भगवान ।

असमसमयसार चारुचैतन्यचिन्हं, परपरिणतिमुक्तं पद्मनन्दीद्रवद्य । निखिलगुण-निकेतं, सिद्धचक्र विशुद्धं स्मरति नमति यो वा स्तौति सोऽभ्येति मुक्ति ।।

असमसमयसार सिद्ध प्रभुके स्मरणका परिणाम—असमसमयसार—आपके समयसार की तुलना नही की जा सकती । संसारमे आपके समान कोई नही । आप जैसे आप ही है । समयसार दो तरहके होते हैं—१ कारणसमयसार और २ कार्यसमयसार । कार्य-समयसार सिद्ध है उनका परिणमन स्वभावके अनुकूल चल रहा है । और कारणसमयसार शुद्ध आत्माकी तरह जिनकी परिणति हुई ऐसे मोक्षमार्गी आत्माओंके जो ध्रुव तत्त्व ज्ञात होता है वह कारणसमयसार है । जो सब हालतोमे एक रहे ऐसा शुद्ध आत्मतत्त्व समयसार कहलाता, जब तक वह पूर्णसिद्ध नही होता तब तक कारणसमयसार कहलाता और जब सिद्ध हो चुकता तब कार्यसमयसार कहलाता । हस और आपमे जो शुद्ध ध्रुव आत्मतत्त्व है वह कारणसमयसार है, अत कर्ममुक्त परमात्मा भी असमसमयसार है और हम भी तथा स्वरूपकी दृष्टिसे विचारे तो मिथ्यादृष्टि आत्माएं भी । समयसार असम है, समयमार सदृश कोई वैभव नही, समयसार कहिये पारिणामिक भाव वह तो सभी आत्मावोमे सहज अनादिसिद्ध है परन्तु उसकी दृष्टि ही विभूति है । आत्माका शक्ति व पर्याय किसी भी अंशसे भेद न करके जो अखंड चैतन्यस्वभाव है जो क्रमश· अनेक अनतपर्यायरूप होकर भी किसी भी पर्यायरूप बनकर नही रहता वह है समयसार । जगतके जीवोकी जब तक इस निज स्वभावपर दृष्टि नही होती तब तक क्लेश नही मिटता, ऐसी परमोपकारिणी समयसार दृष्टि जयवन्त प्रवर्तो ।

चारुचैतन्यचिन्ह सिद्धदेवकी अभ्यर्चना— चारुचैतन्यचिन्ह—भगवानका रोचक चिन्ह चैतन्य है । वृषभनाथका चिन्ह आदि जो कहते वह मूर्ति पहिचानका चिन्ह है । वृषभ-

नाथकी आत्माकी पहिचानका वह चिन्ह नही है। अरहत भगवानके जो अशोक वृक्ष, सिंहासन, तीन छत्र, भामडल, दिव्यध्वनि, पुष्पोकी वर्षा, दुन्दुभिबाजोका बजना और ६४ चमरो का ढुलना ये ८ प्रतिहार्य-तथा समवशरण ये चिन्ह मानते है वह भी ऊपरी तौरपर है, यह तो सब पुद्गलका चमत्कार है। आत्माकी पहिचान कराने वाला गुण चैतन्यरूप ही हो सकता है। भगवान अरहतके फिर भी शरीर आदिका सयोग लगा है, अत सिद्ध आत्माएं ही ऐसी है जो केवल चैतन्यसे परिपूर्ण हैं, परका सयोग किसी रूपमे भी नही। सयोग दृष्टि को हटाकर कहे तो अरहत तो चारुचैतन्य चिन्ह हैं ही अपितु हम भी हैं, जिसकी उपमा नही ऐसे चैतन्यसे ही हम व्याप्त हैं। हमारेमे अन्य जो दिखें या कहे जायें वे हमारे चिन्ह नही।

परपरिणतिमुक्त वन्द्य सर्वगुणात्मक सिद्ध प्रभुका अभिनन्दन––परपरिणतिमुक्ति–नर नारक आदि पर्याय व राग द्वेष आदि परपरिणतिसे आप रहित है। ये परिणतियाँ परको निमित्त पाकर होती हैं। जीवका कर्मके साथ अनादिसे सम्बन्ध रहा आया, पर हम अपनी ही परिणतिसे परिणमे। कर्मोको दुष्ट कहते सो कर्म दुष्ट नही हैं, हमारी ही दुष्टता है जो हम इन्हे कर्मरूप परिणमा रहे हैं। वे तो विचारे जड है, उन्हे कर्मरूप होनेका बोध ही कहा है ? ये विभाव भाव ही दुष्ट हैं जिनसे आप रहित हो गये हैं। और सामान्य स्वभावसे देखो तो जो सब अवस्थाओमे चल रहा है वह एक सहजसिद्ध भी परपरिणतिसे रहित है। सामान्य स्वलक्षणमे आत्मा परिणतिसे भी रहित है। संसारियोको ऐसा दीखता कि नौकर मालिककी आज्ञासे अपनी परिणति करता सो यह भ्रम ही है। मालिक तो अपनी परिणति करता, सो यह भ्रम ही है। मालिक तो अपनी परिणति आज्ञारूप इच्छा प्रगट करनेका ही करता लेकिन उस आज्ञाका निमित्त पाकर नौकरमे जो परिणति होगी, जैसी इच्छा बनेगी वैसा वह कर्म करेगा। हो सकता है उसका वह कार्य अनुकूल लगे या प्रतिकूल। और नौकर ने बाहिरी कार्यकी परिणति की यह भी स्थूल दृष्टि है। उसने तो मात्र अपना विकल्प उस कार्यको उस रूप करनेका किया यही परिणति कर सका वह, पुद्गलमे हुआ वह अपनी परिणतिसे, कोई किसीका कुछ नही करता। सब अपनी परिणतिसे परिणम रहे हैं। राम और सीताकी जीवनघटनाओपर विचारें तो इस बातको समझनेमे पर्याप्त मदद मिलेगी। सीता जैसी सती अग्नि परीक्षा देनेके बाद जब अपने वैराग्य परिणमनमे आती है तो रामके अनुनय विनय करने पर भी एक नही सुनती और ध्यानस्थ हो जाती है। राम मूर्च्छित हो जाते हैं फिर भी इस ओर दृष्टि ही नही। अन्त समयमे सान्त्वनाका एक भी शब्द नही कहा। तो सब अपनी-अपनी परिणतिमे है। मोहसे अपने अनुकूल प्रतिकूल मानते हैं। ससारमे परदृष्टि परपरिणतिके विकल्पका ही दुःख है। सिद्ध भगवान परपरिणतिसे

मुक्त है। पद्मनदी आचार्य द्वारा वदनीक और सम्पूर्ण गुणोसे सहित या सम्पूर्ण गुणोके आगार अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त सिद्ध समूहको जो स्मरण करता है, नमस्कार करता है स्तवन करता है वह मुक्तिको प्राप्त होता है। मुक्तिप्राप्त सिद्धोकी आराधनासे स्वय मुक्ति प्राप्त होती है। वे मुक्ति देते हो सो बात नही किन्तु पूजक स्वय अपनी निर्मलतासे मोहको निर्बल करता हुआ, या और ठीक कहो तो वह अपनी स्थिरताको बढाता हुआ एक समय वह प्राप्त कर लेता है और हमेशाके लिये अपनेमे पूर्ण स्थिर हो जाता है। यदि वद्यवदक भाव अपनी सहजसिद्ध आत्मामे ही घटाना चाहो तो जो विशेषण मुक्त सिद्धमे द्रव्य और पर्यायिसे लागू है यहाँ द्रव्यरूपसे लागू करना, और पद्म कमलको कहते हैं यहाँ हृदयरूपी कमल लेना, उसको आनन्दित करने वाला जो इन्द्र जागृत आत्मा उससे वदनीय अर्थात् स्वय स्वयंसे वदनीय जो भगवान रूप हम है यदि उनकी अर्चा स्तुति करे आत्मा अपने पदको आप स्वयं सभाले तो वह विभाव परिणतिसे रहित अवस्थाको प्राप्त कर लेता है। इस तरह मुक्ति प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी वा स्वभावसे सिद्धस्वरूप निजात्माकी पूजा समाप्त हुई। इति ॥

शातिजिन शशिनिर्मलवक्त्रं, शीलगुणव्रतसंयमपात्र।
अष्टशतार्चितलक्षणगात्र, नौमि जिनोत्तममम्बुजनेत्रम् ॥

अभ्यर्चनाके उत्तर समयमें शान्तिजिनकी उपासना—शातिपाठमे श्री शातिनाथ तीर्थंकरकी स्तुति की गई है। क्योकि शाति शब्दके साथ उनमे नामकी समानता है और अन्य अलौकिक अनत गुण जो दूसरे तीर्थंकरो व केवलियोमे है वे तो हैं ही। यहाँ यह नही समझना कि अन्य शुद्धात्मावोका ध्यान शाँतिकर नही. सभी इसी प्रकार है। पूजक कहता है कि मैं शाँतिनाथ जिनेन्द्रको नमस्कार करता हूँ। कैसे है वे ? उनका मुख चन्द्रमाकी तरह निर्मल है। चन्द्रमा जैसे उज्ज्वल होता है, कातिमान होता है, ऊपर है और कई लोगोका विश्वास है कि उसमे से अमृत झरता है उसी तरह भगवानका मुख उज्ज्वल और कातिमान होता है। भगवान साधारण पृथ्वीसे ५ हजार धनुष ऊपर विराजते है। अत उनका मुख भी उन्नत है। उनके मुखसे वचनरूपी अमृत झरता है। यद्यपि भगवानकी वाणी सारे अङ्गसे खिरती है फिर भी वे पहिले मुखसे ही बोलते थे अथवा मुखसे ही बोला जाता है। अत मुखसे वाणी खिरना कह देते है। मुखवाची मुख आस्य लपन आदि कई शब्द है लेकिन इन सबमे वक्त्र शब्दकी विशेष महत्ता है, वह यह कि 'उच्यते अनेन इति वक्त्रम्' इस अर्थके अनुसार प्रकृत अर्थके कहनेमे वक्त्र शब्द ही समर्थ है। भगवानकी वाणीमे साधारण मनुष्योसे विशेपता है, वह निरक्षरी होकर भी श्रोताओके कर्णपुटमे जाकर साक्ष हो जाती है। और समवशरणके प्रत्येक जीवको अलग-अलग अपनी-अपनी भाषामे उनक

वाणी समझमे आती है। इसके सिवा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात उनकी वाणीकी है तो यह कि वह पूर्ण निर्दोष और जो कुछ भी कहा जा सकता है या अल्पज्ञ (छद्मस्थ) समझ सकता है वह सब उनकी गंभीर वाणीमे होता है। उन्हीकी वाणीकी परम्परासे आगे भी चिरकाल तक मोक्ष मार्गका प्रणयन उनके पथपर चलने वाले ज्ञानी ध्यानी पुरुष करते रहते हैं। हम जैसे अल्पज्ञोको जो ज्ञान ऐसे समयमे (तीर्थंकरके अभावमे) उपलब्ध हो रहा है वह उनकी ही वाणीका प्रसाद है, ऐसी भगवानकी वाणीका महत्त्व है। निमित्तकी दृष्टि से कहा जाय तो उनकी वाणीकी महिमा वचन अगोचर है। प्राणियोको तत्त्वज्ञान जो होता है वह तो उन्हीकी योग्यतासे होता है परन्तु निमित्त—जिसकी समकक्षता अन्यसे नही—यह ध्वनि होती है, अरहन्तके दर्शनसे व उनकी वाणी द्वारा अधिक लाभ होता है। दर्शनसे भी आत्मबोध होता है, पर उसमे भगवानकी वाणीका निमित्त (चाहे वह परोक्ष परम्परा या परभावका ही क्यो न हो) चाहिये ही चाहिये। उनकी वाणी पौद्गलिक होती हुई भी उसमे चेतनके ज्ञानकी ऐसी निमित्तना (आत्माके सयोगसे) समाई हुई है कि उसको श्रवण करनेके निमित्तसे आत्मामे सम्यग्बोधका सूर्य चमक जाता है। ऐसी वाणीकी महत्ताके अर्थ मे भगवानके मुखको अनेक उपमाओ सहित वक्त्र शब्दसे कहा गया।

शीलगुणव्रतसंयमपात्र श्री शान्तिजिनकी उपासना—शील गुणव्रत सयमपात्र—शील आत्माका ऐसा प्रधान आचार है कि जिससे संसारके दु खोसे पार हुआ जा सकता। काम विषयकी भावना न होनेको शील कहते है, लेकिन इसका ठीक अर्थ लो तो अपनेमे स्थिर होनेको शील कहते है। शील स्वभावको कहते हैं, और जो विभावमे न भटक स्वभावमे एकाकार हो गया वह है शीलवान। इस तरह शील मोक्ष कार्य रूप है और स्वभावमे स्थिर होनेकी निमित्ततासे देखे तो वह मोक्षमे कारणरूप भी है। शीलको ही उसके अर्थकी स्पष्टतासे कहनेवाला ब्रह्मचर्य शब्द है, जिसका मतलब स्पष्ट है कि ब्रह्म अर्थात् आत्मामे चर्या अर्थात् आचरण करना। तो ब्रह्मचर्य आधारके भेदसे ४ प्रकारका कहलाता है। वास्तविक रूपमे भगवानके अनतकाल तकके लिये ब्रह्ममे या स्वरूपमे लीनता हो गई सो सर्वोच्च और पूर्ण ब्रह्मचर्य वह है उससे नीचे दरजेका किन्तु हमारी अपेक्षासे उत्कृष्ट साधुओमे पाया जाने वाला ब्रह्मचर्य है जो स्वरूपमे ठहरने का सतत प्रयास करते रहते हैं और समय समय पर समाधिस्थ होते भी है। उससे नीचे दरजेका मध्यम ब्रह्मचर्य सप्तम प्रतिमाधारी आदि नैष्ठिक श्रावक होता है, जिसने स्वरूपकी सावधानी पूर्वक स्त्री मात्रका परित्याग कर दिया है। और सबसे जघन्य ब्रह्मचर्य सप्तम प्रतिमासे नीचे जघन्य नैष्ठिक श्रावक या पाक्षिक श्रावक जो परदाराका त्याग करते हैं उसे भी अणु ब्रह्मचर्य कहते है। आत्मस्वरूपकी ओर ध्यान जानेसे इतनी निर्वृत्ति इसमे हो जाती है कि वह अपनी स्त्रीके

सिवा संसारकी सभी स्त्रियोमे मातृत्व वा पुत्रीत्वकी भावना रखता है, इन सबमे विषयका त्याग होनेसे अंशत उसे भी ब्रह्मचर्य कह दिया। वस्तुत स्वस्त्रीका सेवन भी कुशील है। परदाराका सेवन तो कुशील है ही। परदारासेवनमे विषय और कषायकी तीव्रता होनेसे कुशील शब्द रूढ हो गया, चाहे वह संसारकी अन्य स्त्रियोको छोड एकमे ही क्यों न हो? और स्वस्त्रीसन्तोषमे विषयकी मदता होनेसे अणु ब्रह्मचर्य नाम दे दिया। सो वह भी जितने अंशोमे परदारानिवृत्तिके भाव है उतने अंशोमे और उस अपेक्षासे ब्रह्मचर्य है, न कि स्वस्त्रीको भोगना ब्रह्मचर्य है। वह तो व्यभिचार ही है। एक बार शारीरिक शील भंग करनेपर कितने ही करोड जीवोकी हिंसा होती है। चाहे स्वस्त्रीके विषयमे हो और चाहे परस्त्रीके विषयमे, विषयसेवन करने वालेको यह पाप तो लगता ही है। आत्मस्वरूपको पाने के लिये शारीरिक शीलव्रत जितना अधिक पले पालना चाहिये, इसके अलौकिक गुण हैं। ध्यान अध्ययन जप तप सब इसीसे सार्थक होते है। आजकलके मनुष्योकी आयुका विचार करते हुए यह आवश्यक है कि ४० वर्षके बाद मनुष्य वा ३५ वर्षके बाद स्त्री पूर्ण ब्रह्मचर्य पाले। यदि इसके बाद भी संतान होनेका सिलसिला जारी रहा तो वृद्धावस्थामे भी कल्याण करनेका ठिकाना नही रहेगा। संतानको पालते पोषते ही जीवनका दुखद अंत हो जावेगा। मनुष्यभव निरर्थक चला जावेगा। और सतान भी न हो तो भी उस अवस्थाके बाद पापके गड्ढेमे पड़े रहकर अपनी मानसिक शक्ति और शारीरिक शक्तिको निचोडते रहना महान अज्ञानता है। फिर ज्ञान और ध्यान बढानेकी शक्ति कैसे आ सकती है या बढाई जा सकती है? और तो क्या णमोकार मंत्रका ठीक उच्चारण लाना भी कठिन पडेगा। श्री शातिनाथ भगवान नीचे दरजेका शील पालने वाले नही, किन्तु शील और ब्रह्मचर्यका जो वास्तविक और पूर्णरूप है उसके धारी है। निरन्तर चिदानंद चैतन्यस्वरूपमे लीन रहते है। भगवान अनंत चतुष्टय वा और अनंतगुणोके धनी हैं। अब अरहत अवस्था मे सर्व विभावभावोके त्यागसे (विरतिसे) उच्च व्रत नाम पाया है। क्योकि व्रतका अर्थ है— विरमण व्रत। अर्थात् त्याग करनेको व्रत कहते हैं। इसी तरह आप व्यावहारिक संयम नही किन्तु पारमार्थिक संयमको प्राप्त है। यम संकोचको कहते हैं। आत्माको बाह्यवृत्तिसे सकोचकर आत्माकी तरफ लगाना यम है और सं अर्थात् सम्यक् प्रकारसे परिपूर्णरूपसे आत्माको आत्मामे लगा देना बाह्यवृत्तिका सर्वथा त्याग हो जाना यह है संयमका पारमार्थिक या उत्कृष्टरूप। आप ऐसे उत्कृष्ट संयमको धारण करने वाले हैं।

अष्टशतार्चित लक्षणगात्र अम्बुजनेत्र जिनोत्तमकी अभ्यर्चना—अष्टशतार्चित लक्षण गात्र। आपका शरीर १००८ लक्षणोसे चिन्हित है। सारे शरीरमे शुभ चिन्ह होते है लोक मे अन्य साधारण किन्तु जनताकी मान्यतासे कुछ विशेष पुरुषोके १–२ या १०–५ ही और

वे भी साधारण रूपमे शुभ—शख, चक्र, गदा और ध्व आदि चिन्ह होते है लेकिन भगवानके १००८ और वे भी स्पष्टतम और उत्तम चिन्ह होते है, जिससे उनके शरीरकी सर्वोत्कृष्टता प्रगट होती है । तीर्थङ्करोके सिवा ऐसे १००८ शुभ चिन्ह और किसी भी महापुरषोके नही होते । तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सहभावी पुण्यकर्मकी विशेषतासे ही ये होते है । पुण्यवान जीवोके शरीरकी बनावट भी उस तरहकी उत्तम होती है । अब भी हम लोग ऐसा आभास पाते हैं, किसी भले मनुष्य और भील आदिके शरीरमे इस अतरको समझा जा सकता है । शरीरके अच्छे होनेसे आत्मा अच्छी होती है यह बात नही है । पर आत्मामे विशेषता होने से शरीर भी विशिष्ट होता है, प्राय यह बात अवश्य है । शरीरको देखकर आत्माकी बहुत सी बातोका पता पड जाता, क्योकि उसका निमित्तनैमित्तिक सबव ऐसा ही होता है । जिस आत्माने पाप कर्म सचित किया है उसके हुडकस्थान नीचगोत्र, दुर्भग, दु स्वर अनादेय अस्थिर और अयश कीर्ति आदि अशुभ प्रकृतियोका उदय होता है । और पुण्यात्माओके समचतुरस्र संस्थान वा तीर्थंकर आदि पुण्य प्रकृतियोका उदय होता है । 'नौमिजिनोत्तमम-बुजनेत्र' आप जिनोमे उत्तम हैं । साधारण लोगोकी दृष्टिकी अपेक्षा अन्य सामान्य केवलियो की अपेक्षा आपमे अतिशय अधिक होनेसे आप उनमे भी उत्तम हैं । अथवा जिन संज्ञा सम्यग्दृष्टि होनेसे शुरू हो जाती है अविरतसम्यक्त्व गुणस्थानमे मिथ्यात्व आदि बहुतसी कर्मप्रकृतियोपर विजय पाली जाती है । अत वे जिन है इससे ऊपर और गुणस्थानवर्ती भी जिन कहलाये । तो इन सब जिनोमे आप उत्तम है ।

अम्बुजनेत्र इन्द्रनरेन्द्रगणपूज्य जिनोत्तम श्री शान्तिजिनकी उपासना—'अम्बुजनेत्रं' आप कमलके समान सुन्दर और कमलाकार विशाल नेत्रवाले है । अथवा कमलका विकास जैसे दर्शकोके लिये सुखकारी होता है, उसी तरह आपका ज्ञाननेत्र विकसित होनेपर आपका दर्शन (उस शुद्ध ज्ञान सहित) करनेसे दर्शकोको (आत्मदर्शियोको) अलौकिक आनन्द होता है, इसलिये भी कमलके साथ आपके ज्ञाननेत्रकी तुलना करते है । चैतन्यघन ज्ञानको जड कमलकी तुलना तो क्या हो, लेकिन जो भी अच्छी उपमा यहाँ मिल सकती है वही देते है । अरहंत अवस्थामे भगवानकी दृष्टि अलौकिक सौम्यताको लिये होती है मूर्तिमे जिसकी कलात्मकता उतारनेकी हम भरसक कोशिश करते हैं लेकिन इस कृत्रिम व चैतन्यशून्य मूर्ति मे और फिर हम जैसे नाममात्रके कलाकार वह दृष्टि वह सौम्यता वीतरागताका चित्रण कहाँ ला सकते है ? तो आपके नेत्र प्रफुल्लित कमलके समान हैं । आत्मामे वह परमात्मीय शक्ति प्रगट होनेसे नेत्रोमे भी अपूर्व चमत्कार और सौन्दर्य आ गया है । मनरूपी राजाके भावको कहने वाला या बताने वाला नेत्ररूपी मत्री होता है । सो भगवान आपके अनत चतुष्टयकी झलककी असर आपके दिव्य नेत्रोमे है । 'पचमभीप्सितचक्रधराणा' हे शाति-

जिनेन्द्र आप चक्रवर्तियोमे पांचवे चक्रवर्ती है। व्यवहारमे आप छह खड भरत क्षेत्रके स्वामी होकर भी अन्तरगमे अणुमात्रके भी स्वामी नही है। जो स्वामी बनना चाहते है वे लोगोमे आदरके पात्र नही होते। और जो परके स्वामीपनसे दूर रहते वे आदरणीय होते। आपने परपदार्थोके स्वामित्व भावको बिल्कुल दूर कर दिया। अत पूरे भरतक्षेत्रके छह खडोका आदर्श व्यावहारिक स्वामित्व प्राप्त हुआ। व्यवहारसे विचारें तो कर्मके उदयका यह नाटक मालूम पडता है कि जो तीन लोकका राजा बनने वाला है उसे ६ खंड भरतका राजा बनना पडा। लेकिन शातिनाथ तीर्थंकरने गृहस्थ अवस्थामे भी इस चक्रवर्तित्वको अपनी शोभा नही माना, उपाधि ही मानी। इसमे सुख नही माना परन्तु क्लेशका कारण ही समझा। 'पूजितमिन्द्रनरेन्द्रगणैश्च' आप इंद्र नरेन्द्र और गणधरोसे पूजित हैं। जो वैभव सम्पन्न होता वह इन्द्र कहलाता, और जो मनुष्योमे वैभवशाली होता वह नरेन्द्र, अपने आपको जो सन्मार्गमे ले जावे उसे नर कहते है। नर शब्दसे ही नारायण शब्द बना है। नरोका जो उत्तम आचरण हो उसे अयन कहते हैं जो सन्मार्गके भावमे प्रतिष्ठित हो गये वे नारायण कहलाये। इसीलिये उत्तम प्रकृति वा आचरणके मनुष्यको लोग नारायण कहा करते है। तो आप ऐसे सन्मार्गी नरेन्द्रो द्वारा व इन्द्र तथा गणेशो द्वारा पूजित है।

शान्तिकर श्री शान्तिजिनका अभिनन्दन--शातिकर गणशातिमभीत्सु ऋषि, यति, मुनि, अर्जिका और अनगार--इन ४ प्रकारके साधुगणोकी वा मुनि श्रावक, श्राविका इन गणोकी व समस्त प्राणी समूहकी शांतिको चाहने वाला भक्त शांतिको करनेवाले 'षोडश तीर्थंकर प्रणमामि' सोलहवे शातिनाथ तीर्थंकरको नमस्कार करता है। शाति आत्माका स्वभाव है, सुख शातिमे ही मिलता है। अशाति सबको अप्रिय है, पर अज्ञानतासे उसकी भी इच्छा की जाती है। संसारके वैभवको चाहना, ससारके वैभवको गौरवकी दृष्टिसे देखना, सांसारिक वैभवशालियोको विशेप सम्मान देना, वर्तमानमे व भविष्यके लिये सांसारिक इच्छाओकी पूर्तिको चाहना आदि विकल्प तथा शरीरमे कर्तृत्वकी बुद्धि बनाना ये सब अशातिको चाहनेके रूप है। लेकिन जिसने अशातिको दु खरूप अनुभव कर लिया और वह कर्तृत्व बुद्धिसे मिलती है, ऐसा मान लिया वह स्वरूपकी दृष्टि रखनेवाला भक्त भगवानसे अपनी भावना व्यक्त कर रहा है कि मैं आकुलताके फदमे अनादिकालसे फसा था, अब निराकुलताका इच्छुक हू जो कि मोक्षरूप है, अर्थात् अपना नाता मैंने संसारसे तोड मोक्षसे जोड लिया है। जिस तरह मैं अपनेमे निराकुलता चाहता हू उसी तरह धर्मात्माओमे तथा सारे संसारके प्राणियोमे निराकुलताका साम्राज्य हो, ससारकी परिणतिसे छूट मोक्षकी दिशामे पग बढावे क्योकि निराकुलताका रास्ता वही है, इस तरह अपनी श्रद्धाको मजबूत करता हुआ, भावनाको निर्मल बनाता हुआ कि सर्वत्र शाति हो, भक्त भगवानको नमस्कार करता है। यद्यपि शांति

अपनी परिणतिसे ही आयगी परन्तु निमित्तकी अपेक्षासे भगवान शातस्वरूप जो हैं उनको नमस्कार करके अपनेमे बल लाता है। क्योकि शात स्वरूप दोनोके हैं। पर्यायमे इसके नही है। तो भी इसका इच्छुक है। पूजक अपने लिये व जगतके जीवोको शुद्ध चैतन्यका विकास ही चाहता है, सुखशाति चाहता है। वह ऐहिक इच्छा नही रखता। फिर भी पूजा करने वालेको ससारका वैभव अव नही तो तव मिलता अवश्य है। वह यह भी नही चाहता कि भगवान हमे मोक्ष दे। क्योकि सच्चे पूजककी श्रद्धा सच्ची होती है। वह इतना खूब अच्छी तरह जानता है कि अन्य पदार्थ अन्य पदार्थका कर्ता नही हो सकता। भगवान हमको कुछ देगे ऐसी श्रद्धा भक्तके नही है। फिर भी गुणानुरागमे और स्वरूप मिलानकी उमगमे अपनापन प्रगट करता है। भगवानका आदर जो हृदयमे बैठ गया है, वह ऐसा भी कहलवाता है। अनादिसे तो संसारके तत्त्वोमे आदर बुद्धि कर रखी थी। अव आत्मवैभवका पता पडा है तव दृष्टि वहाँसे हटकर यहाँ गड गई है।

पूजाके प्रयोजकत्वकी समस्याका समाधान—कई लोग कहते कि आज भगवानकी पूजा नही हुई, भगवान पुवासे रह गये सो यह बात नही है, भगवान पुवासे नही रहते और न किसीके पूजनेसे ही उनमे पूज्यपना आता। वे तो अपने रूपसे जैसे हैं सो हैं। उनका प्रभुत्व सदाके लिये अमर है। पर पुवासा तो वह रहता जो पूजा भक्ति व दर्शन नही करता। सच बात यह है कि जब तक विकाररहित चैतन्यका ध्यान नही आता तब तक सारी परिपाटी अस्तव्यस्त चलती है। इच्छाए नाना तरहकी वनती हैं। जिनको हटानेसे अभीष्ट प्राप्त होता है उन्हीको वढाता है, क्योंकि अभीष्टकी पहिचान हुई नही, चाहना क्या चाहिये यह जाना नही और चाहकी पूर्ति कहाँसे होगी, यह भी जाना नही और मेरा स्वरूप चाहसे रहित चिदानन्दमय है यह जाना नही। जिनको ऐसा ज्ञान हुआ है वे ही भगवानके सच्चे पूजक हैं। शातिके मार्गपर वे ही चल सकेंगे।

दिव्यतरु सुरपुष्पसुवृष्टिर्दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ।
आतपवारणचामरयुग्मेयस्य विभाति च मण्डलतेज ॥

अष्टप्रातिहार्यराजित श्री शान्तिजिनका स्तवन—दूसरोके चित्तको हरनेवाली अलौकिक विभूति जिसके होती है उसे प्रतीहार कहते हैं, ऐसा प्रतीहार (सेवक) इन्द्र होता है उसका जो काम होता है उसे प्रातिहार्य कहते है। जैसे इष्टछत्तीसीमे रहा है—तरु अशोकके अशोकके निकटमे सिंहासन छविदार। तीन छत्र सिरपर लसै भामण्डल पिछवार॥ दिव्यध्वनि मुखतै सिरै पुष्पवृष्टि सुर होय। ढोरें चौंसठ चमर जख बाजे दुन्दुभिजोय॥ ये आठ प्रतिहार्य किसके हैं? उत्तर— ये प्रातिहार्य इन्द्रके हैं, भगवानके नहो। पर भगवानके कहे जाते हैं इस लिये कि भगवानके निमित्तसे भगवानके लिये ही इन्द्र करता है। दिव्यध्वनिको

प्रसारित करनेमे भी इन्द्रका हाथ है इसलिये वह भी उन सातोमे शामिल है। दिव्यध्वनिके श्रवण वगैरहकी समोशरणकी सारी व्यवस्था इन्द्र करता है। अत वह भी उसका कार्य कहला सकता है।

श्री जिनका प्रथम प्रातिहार्य, दिव्यतरु—दिव्यतरु—अशोक वृक्ष, भगवानको केवलज्ञान होने पर इन्द्र कुबेरकी मददसे जो अशोकवृक्ष बनाता है, वह दर्शकोके शोकको हरने वाला होता है। समवशरणमे आते ही शोक तो भगवानके प्रतापसे और निश्चयत अपनी भावनाओकी निर्मलतासे रहता ही नही। फिर भी उसमे अशोकवृक्ष अलकार देता है। उसकी अनूठी रचना और सुन्दरता मनोमोहक होती है। पृथ्वीकायिक रत्नादिसे निर्मित उन्नत विशाल वृक्ष श्रीमण्डपके ऊपर जो कि स्फटिक मणिका होता है नीचे बैठे हुए भव्यो को जो कि भगवानकी दिव्यध्वनि सुनते है जब दृष्टि वृक्षपर जाती तो समवशरणकी जैसी अतिशय वाली चीजोके निमित्तसे विशेष आल्हादित होकर सुकोमल और निर्मल भावोका उद्दीपन होता। अथवा जिस वृक्षके नीचे सभाओमे बैठे हुये भव्य भगवानके निमित्तसे शोक रहित हो जाते है उस वृक्षको ही अशोकवृक्ष कहा जाने लगा। वास्तवमे तो असली निमित्त शोक हरनेमे भगवानका ही है। कवि कल्पना करते है कि जिस अशोकवृक्षकी कातिके समक्ष अन्य वृक्ष नीराग (काति सौदर्य रहित) हो जाते हैं वहाँ सभामे बैठे हुये संज्ञी प्राणी क्यो न नीराग रागरहित वीतराग हो जायेगे ? अर्थात् होगे ही। भगवानके धर्मोपदेशसे जब वृक्ष भी शोकरहित हो गया तो मनुष्योका तो कहना ही क्या ? यह तो अलकारिक भाषा की बात है, लेकिन यह तो बात यथार्थ ही है कि भगवानको केवलज्ञान होते ही वह वृक्ष जिस वृक्षके नीचे उन्हे बोध प्राप्त होता है अशोकवृक्ष कहलाने लगता है और यह भी बात ठीक है कि भगवानके समवशरणमे जो भी प्राणी जाते है उनके रोग, शोक, क्लेश, भय, उन्माद, चिंता, भूख, प्यास बैर और विरोध आदि दोप उतने समयके लिये शात हो जाते हैं। जहाँ मोह गया या मन्द पडा वहाँ शोक कहाँ ? प्राणी तो मोहके कारण कल्पना मात्रसे दुखी हो रहे हैं। दुःख केवल अज्ञानका है। अज्ञानके रहते ही संयोग वियोग वा अन्य चेष्टाओसे दुखी होता है। परके साथमे कर्तृत्व और स्वामित्वका भाव दोनो दु.खके कारण है। कल्पनाके सिवा दु ख है क्या चीज है ? इसका निदान यदि ठीक समझमे आ जाय तो दु ख नही रहे। भगवान पहिले दर्शनमोहको जीत जिन बने, आगे बढे मुनि हुये, श्रेणी माडी और क्षीणमोह होकर जिनेन्द्र कहलाये। शोक समूल नष्ट हो जाने से उनके समीपमे जो पहुचता है वह भी शोकरहित हो जाता है। जैसे सूर्यके प्रताप और प्रकाशको पा जीव जागृत हो जाते है उसी तरह शाति जिनेन्द्रके जिन्होने दर्शन किये वे भी शान्त हो जाते हैं।

श्री जिनका द्वितीय प्रातिहार्य सुपुष्पवृष्टि—दूसरा प्रातिहार्य है। पुष्पवर्षा-देवता लोग आकाशमे चलते हुये जिनेन्द्रके स्थानपर पुष्पवर्षा करते है। फलोका डण्ठल भाग ऊपर रहता है और पाँखुडी नीचे। परन्तु भगवानके समीप गिरते हैं तो वहाँ डण्ठल नीचे हो जाता है ऐसे वे पुष्प हमे शिक्षा दे रहे है डठल अर्थात् वंधन नीचे या शिथिल हो जावेगे, जो कि भगवानके निकट आवेगा। इसको यदि हम अपनेपर घटावे तो भगवान तो हम स्वयं चैतन्य प्रभु हैं उसके पास पुष्प या कहो काम आ रहे है क्योकि कामका बाण पुष्प बतलाया है। तो पुष्प काम विकार या उपलक्षणसे रागद्वेष आदि कहलाये। ये विकार यहाँ चैतन्य प्रभुकी सेवामे दौड दौडकर आते है (बरसते है) शानके साथ आते है, लेकिन विरूप निम्न बधनी बन जाते हैं जैसे फूल। इसी तरह चैतन्यपर हमला तो जरूर करते पर पददलित हो जाते है क्योकि चैतन्यकी भूमिकामे स्वलक्षणमे उनका प्रवेश नही है। ऐसा चैतन्यदेव अपने ही निकट बना रहे (परपदार्थोको न भटके) तो कर्मोको दूर कर सकता है। और शांतिनाथ जिनेन्द्रके पास जो जाता है उसकी रुचि धर्ममे प्राय होती ही है।

दुंदुभि व सिंहासन नामक तृतीय चतुर्थ प्रातिहार्य—तीसरा प्रातिहार्य दुदुभि वाजोका बजना है। देवता लोग दुंदुभि बाजे बजाते है जो कि अतिमधुर कर्णप्रिय होते हैं। वे बाजे सैकडो तरहके बजते है फिर भी वेस्वर नही होता। दुदुभिके शब्द मानो यह कह रहे हैं कि भगवानकी सेवाका यह अपूर्व अवसर है। ये जिनेन्द्र मोक्ष मार्गके नेता हैं, मोक्षमे ले जानेके लिये सारथीके समान है, इन प्रभुकी सेवामे आवो। इन दुंदुभिके शब्दोसे जैसे धर्मोत्साह बढता उसी तरह चैतन्य प्रभुकी उपासनाके अर्थ अन्तर जल्प ओम शब्दका आदिके द्वारा स्वरूपकी उत्कण्ठा होती है। जब चित्तमे प्रसन्नता होती है तो गानेका स्वर निकलता है। उसी तरह स्वरूप प्राप्तिकी प्रसन्नतामे जो गुनगुनाहट निकलती है वह चैतन्य प्रभुका स्मरण है। चौथा प्रातिहार्य—सिंहासन है, जिसकी रचना अनुपम होती है। उसके ऊपर ४ अगुल ऊचे अधर अन्तरीक्ष भगवान विराजते हैं। इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर अत्यन्त भक्तिभावसे यह सब सुन्दर रचना करते है। जैसे पचकल्याण आदिके उत्सवोपर भक्तिके वश जहाँ तक बनती है सुन्दर रचना करते हैं।

दिव्यध्वनिनामक पञ्चम प्रातिहार्य—पाचवा प्रातिहार्य भगवानकी दिव्यध्वनिका होना है। यह इद्रकी प्रातिहार्य नही है, फिर भी इद्रकी आज्ञासे मागध जातिके देवो द्वारा उस ध्वनिका प्रसार दूर दूर तक किया जाता है इसलिए दिव्यध्वनि भी कदाचित इद्रका प्रातिहार्य है। दिव्यध्वनिके बारेमे दो मत है। कईका कहना यह भी है कि भगवानकी वाणि मुखसे ही खिरती है और सर्वांगसे खिरनेकी प्रसिद्धि तो है ही। यह आत्मा स्वय अजर अमर है चिदानन्द प्रभु है, फिर भी अपनेको दीन मानता है। जब भगवानकी वाणी कानो

मे पहुँचती है तो अनुभव होता है कि मैं ज्ञानपुज हू। जगतके जीवोको अपने स्वतन्त्र सत् का ज्ञान नही है। यह हो जाना वडा भारी काम है। अपने आपकी व्यवस्था करना सबसे गडा काम है। यह बडा काम भगवानकी वाणीके निमित्तसे बहुतोका हो जाता है। भगवान की वाणी कहलाती है लेकिन वाणी तो पुद्गलात्मक है, जड है और भगवानका चैतन्य पुज उनकी वाणी कहनेसे एक तरह भगवानका अपमान है। लेकिन दूसरी तरहसे, इसमे भगवान का गौरव ही है कि जिसे वाणीमे ऐसा जादू है कि अगणित जीवोके मोहका परदा हट जाता है, अपने प्रभुत्वको पहिचानकर भगवान सम बन जाते है। शुद्ध चेतनामय भगवानके ससर्गसे, निकली हुई ध्वनिका यह महत्त्व वर्णनातीत है। मोक्षमार्गका प्रणमन हमेशासे भगवानकी इसी वाणीसे होना आता है और अनन्तकाल तक होता रहेगा। यदि यह निमित्त न होता तो मोक्षका मार्ग बन्द ही रहता। लेकिन यह न हुआ और मोक्ष मार्ग रुद्ध हुआ। अनन्तानन्त जीव जो सिद्धि लाभ करते है उसमे बाह्य निमित्त साक्षात् या परम्परा भगवान की दिव्य ध्वनि ही है। दिव्यध्वनिका ऐसा महत्त्व है।

श्रीजिनका षष्ठ प्रातिहार्य अनुपम छत्र— छटवां प्रातिहार्य है तीन छत्रोका भगवान के सिरपर शोभित होना। भगवान तीन लोकके राजा है मानो ये वैभव इसी लिये अपना रूप छत्रका बनाकर भगवानकी शोभा बढा रहे है सेवाके लिये प्रस्तुत हुए है। कल्पनामे कवि कहता है कि छत्रोने सौन्दर्यमे चन्द्रमाको जीत लिया है। तभी तो भगवानकी निकटता को पा सके अन्यथा चन्द्रदेव तो दूर ही रहता है। अथवा भगवानके शरीरकी काति ने चन्द्रमाकी कातिको जीत लिया। अत वह त्रिविधरूपसे बलि बलि होकर भगवानकी सेवामे आया हुआ है। राजा, महाराजाओ वा दुल्हाके छत्र लगाते है। वह क्या है ? बडोकी नकल लोग इसलिये करने लगे है कि उस चीजको बडोके पास रहने से प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है। भगवानके सिरपर उनकी महत्ताका द्योतक छत्र रहा तो बडप्पन बनानेके लिये अन्य साधारण प्राणी भी उसे लगाने लगे। लेकिन इससे भगवानका महत्त्व घटता नही किन्तु उससे हमे उनके अतिशयोकी प्रामाणिकताका एक सबूत मिलता है। जब साधारण पुरुषोके भी उनके महत्वको दिखलाने वाली बातें मिलती है तो भगवानके होना तो सम्भव ही है जबकि कई लोग उन्हे असम्भवसा मान लेते हैं। क्योकि उनके हृदयमे उतनी कल्पना नही बन सकती। सीमित ज्ञानमे सीमित ही विषय पडता है। लेकिन इतना तो हर कोई विचार कर सकता है कि जिसको पूर्ण समाधिके महान पुरुषार्थसे पूर्ण ज्ञान, पूर्ण सुख, पूर्ण शक्ति और पूर्ण निर्विकारता प्राप्त हुई हो उस आत्माके वैभवका क्या पूछना ? उसका अचिन्त्य अनन्त वैभव तो उनके अन्तस्तत्त्वमे ही समाया रहता है जिसे साधारण तुच्छ प्राणी देख नही सकते। उसे तो कोई बिरले आत्मानुभवी पुरुष ही अपने किञ्चित आत्मवैभवके बल

पर परख सकते है। फिर उस दिव्य आत्माके ससर्गसे उस शरीरमे वा आसपासका वस्तुओ मे कुछ चमत्कार झलके, अलौकिक सौन्दर्य और कला प्रकट हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? कई आश्चर्यकी सी बातें तो हमको साधारणसे प्रसंगो वा पदार्थोमे देखनेको मिलती रहती हैं। फिर भगवानके विषयमे शङ्का ही क्यो ?

श्री जिनका सप्तम प्रातिहार्य चंवर ढुलन——सातवां प्रातिहार्य है भगवानके दोनो पार्श्व भागोमे ६४ चमरोका ढुलना। चमर ढुलनेके समय नीचेसे ऊपरको जाते हैं, इससे वे यह बताते है कि भगवानके चरणोमे जो आवेगा झुकेगा वह उन्नत होगा ऊपर उठेगा गौरव प्राप्त करेगा। इसमे क्या सदेह है कि जो भगवानकी सेवामे आते हैं वे कृतार्थ हो जाते हैं। जिस स्थानपर भगवानने निर्वाण पाया है वह स्थान भी पूज्य हो जाता है और कई तो ऐसा भी कहने लगे कि तीर्थराजकी भूमिपर जो असख्य घास फूस उगती है वह भी तिर जाती है। इस बातमे कितनी सच्चाई है यह बात दूसरी है। किन्तु ऐसा कहनेसे भगवानके संपर्कका महत्त्व प्रगट होता है, इतनी बात तो अवश्य है।

श्रीजिनका अष्टमप्रातिहार्य भामण्डल——भामण्डल-आठवा प्रातिहार्य है। भगवानके दिव्य शरीरसे एक आभा निकलती है जिससे पीछे की तरफ वलयाकार एक कान्ति मण्डल बन जाता है। देवता लोग उसीके अनुरूप एक और पभा मडल रचते हैं। वह भी पीठ पीछे होता है। उसकी काति ऐसी अद्भुत होती है कि सूर्य चन्द्रमाओका प्रकाश और सौंदर्य भी मात खाता है और सबसे बडी विशेषता उसकी यह है कि उसमे भव्य प्राणियोको अपने अपने भव पहलेके तीन आगेके तीन और एक वर्तमान मौजूदाका ऐसे ७ भव दिखते हैं। पूजक शाति तथा तीर्थंकरका नाम लेकर ये ८ प्रातिहार्य अरहन्त अवस्थाके बखान रहा है। ऐसे ही प्रातिहार्य प्रत्येक तीर्थंकरोके हुआ ही करते है। जो भी तीर्थकर होते हैं उनके ये प्रातिहार्य होते है। इसकी शोभाका वर्णन करना कठिन है। इद्र अपनी अतुल ऋद्धिके द्वारा इस रूप सेवा करके अपनेको सफल बनाता है।

त जगदर्च्चितशातिजिनेन्द्र शातिकर शिरसा प्रणमामि।
सर्वगणाय तु यच्छतु शाति मह्यमर पठते परमा च॥

श्री शान्तिजिनकी उपासनामें सर्वगणके लिये शान्तिलाभकी अभ्यर्थना—भगवान सबको शाति दें और मुझे भी। वे शातिनाथ जिनेन्द्र संसारके महापुरुषो द्वारा भी पूज्य हैं और जिनके निमित्तसे असख्य प्राणियोको शाति लाभ होता है ऐसे शातिनाथ भगवानको अथवा शातिस्वरूप अरहत समूहको मैं शिरसे प्रणाम करता हू। मैं उनका पाठ उत्कृष्टता पूर्वक श्रद्धा और विनयपूर्वक मन वचन और काय इन तीनो योगोको लगाकर कृतकारित और अनुमोदनासे करता हू। पूजकका हृदय भगवानकी स्तुति और पूजामे इतना झुक जाता

है कि वह नम्रताका प्रतीक बन जाता है। वह भी लौकिक कार्योकी श्रद्धासे नही किंतु शुद्ध चैतन्यकी श्रद्धासे प्रेरित होकर होती है। अपने चैतन्यकी खबर होनेसे उसमे अकल नही आती कि स्वरूपसे हम भी तो भगवान हैं क्यो किसीको पूजे ? प्रत्युत होता यह है कि अपने स्वरूपकी महानताकी खबर पडनेसे जिन्होने वह रूप प्रगट कर लिया है उनके प्रति उसके भाव अत्यन्त समादरके हो जाते है, उनको वह अपने हृदय-कमलमे विराजमान रखनेकी भरसक चेष्टामे रहता है। जबकि उसके विकल्प आते है उनके दर्शनोके लिये (शुद्ध चैतन्यके अनुभवके लिये) लालायित रहता है, उनके दर्शनको सबसे बडा लाभ मानता है। वह निजको निज और परको पर समझता हुआ भी अरहत सिद्धोके प्रति भक्तका भाव खिचा रहता है, उनके स्मरण कीर्तनमे परम आनन्दका अनुभव होता है, उनके स्वरूपका आस्वादन करके भूखा रहता हुआ भी अमृत पान किये हुयेके समान तृप्त और सतुष्ट रहता है ऐसा प्रभुके प्रति खिचाव जब हो जाता है तो कभी कभी पूज्य और पूजकका भेद मिट जाता है, इनकी एकारता प्रगट हो जाती है अर्थात् वे विकल्प मिट वह चिदानद भगवानमे लीन हो जाता है। फिर यदि जब समाधि विभाव टूटता है तो उस अनुभवके स्मरणसे वह गद्गद् हो उठता है। पूजककी यह वृत्ति उसे पूज्य पदमे आसीन करनेको समर्थ होती है। जितने भी परमेष्ठी या पूज्यपदमे जो प्राप्त हुये है वर्तमानमे है और होते रहेगे वे इसी तरह पूज्य आत्माओमे अनन्य भक्तिपूर्वक याने सच्चे पूजक बन पूज्य हुये है। प्रत्येक भव्यके लिये यह रास्ता खुला हुआ है वह अपनी स्वतन्त्रताका सदुपयोग पूज्य आत्माओमे अनन्य श्रद्धा और भक्ति करके कर सकता है, ऐसा करके साधारण लोकमे तो वह तत्क्षण पूज्य बन जाता है और आगेको सुदृढ भावना और साधनासे आत्माका जो परम विकास होगा उससे उसकी पूज्यताकी तुलना भगवानसे ही की जा सकेगा या कहिये वह स्वयं भगवान बनेगा। यहाँ पर पूज्यताका लोभ या पक्षकी तरफ दृष्टि नही खीची जा रही है किंतु यह स्पष्ट किया जा रहा है कि हमारी दीनवृत्तिकी इति महान आत्माओकी श्रद्धा करने, उनके संपर्कको बढानेसे हो सकती है। वे ही ऐसा कर देगे सो बात तो नही है, करना तो सब आपको ही है, किन्तु वह निमित्त ही ऐसा योग्य है कि योग्य आत्माओको (उपादानोको) निमित्त रूप पडता, असमर्थ उपादानोके लिये कदापि नही।

येऽभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नै, शक्रादिभि सुरगणै स्तुतपादपद्मा।
ते मे जिना प्रवरवशजगत्प्रदीपास्तीर्थंकरा, सतत शातिकरा भवन्तु ॥

अभ्यर्चित शान्तिजिनकी सतत शान्तिकरताकी भावना—दीक्षा लेनेसे पूर्व कुमार या राज्य कालमे इन्होने दिव्य मुकुट कुडल और हार आदि आभूषणोसे तथा वस्त्र और जीवनोपयोगी सभी सामग्रियोको भेट करते रहकर अपना भक्ति भाव जिनके प्रति प्रगट करते

रहे वे तीर्थङ्कर महान श्रेष्ठ कुलमे प्रवर ससारको प्रकाश देनेके लिये उत्पन्न हुये थे। उन्होने अरहंत अवस्थामे तो मोक्षमार्गका प्रणयन कर संसारको आलोकित किया हो, लेकिन संन्यास लेनेके पहिले भी उनकी अनुपम वाल अवस्था और यौवन अवस्था भी सपर्कमे आये हुये भाग्यशालियोके लिये कम आल्हादकारी नही थी। अभी भी कोई विशेष पुण्यात्मा जो कि साथमे सब कलाओसे परिपूर्णके सौदर्य और ज्ञानसे सम्पन्न हो और हो निर्मल विचारका परोपकारी तो ऐसे होनहार बच्चेको देख कौनकी आँखे तृप्त नही हो जाती हैं ? अर्थात् उसे देखते रहनेको किसका जी नही चाहता ? तो भक्तका भाव कुछ पूर्व अवस्थाकी महिमा की ओर खिच गया, वह निर्मल आत्माके वाह्य वैभवपर एक झलक डालता है, आपकी महानता हर तरहसे है और वह अभी ही नही बनी है। आप गर्भमे आने के पहिले से ही इसका सन्देश लेकर आये हैं। आपका जन्म होते ही संसारने आपको एक अलौकिक पुरुषके रूपमे देखा है। ऐसे हे भगवन ! आप हमे हमेशा शाति करने वाले हो। हे भगवन हम सबमे ऐसी निर्मोहता आवे कि जिसमे शाति रहे उसमे कारण आप हो। आपका स्वरूप चिंतवन, मनन स्मरण कर हम निर्मोही और वीतरागी वने।

सपूजकाना प्रतिपालकाना, यतीन्द्रसामान्यतपोधनाना।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ, करोतु शान्तिभगवाञ्जिनेन्द्र ॥

श्री शान्तिजिनकीउपासनामे देश, राष्ट्र, नगर व राजाके शान्तिकी अभ्यर्थना— भगवानकी अर्चा करने वाला अपनी निर्मलता व्यक्त करता कि सम्यक् प्रकारसे भक्ति करने वाले या विवेकपूर्वक सत्यार्थ तत्त्वोकी वा सच्चे देव शास्त्र गुरुओकी धर्म धर्मायतनोकी यथायोग्य पूजा करने वालोको प्रजाकी रक्षा करने वाले शासकोको महान् तपस्वियो वा साधारण साधुओको तथा देश राष्ट्र वा नगरके व्यक्तियो को वा राजाको शाति लाभ आपके प्रसादसे आपके बताये हुये सत्यार्थपथके अनुसरणसे प्राप्त हो। सबको एक साथ शातिकी कामना की जा सकती थी, लेकिन अलग अलग कहनेकी कुछ विशेषता है। वह यह यद्यपि पूजक लोगोमे शाति होती ही है, फिर भी बाह्य उपाधि रोग उपद्रव वा कलह आदिका निमित्त उनकी शाँतिमे बाधक न हो जिससे कि मनमे क्षोभ वा क्लेश बढकर निर्मलतामे कमी पडे। यही बात यतीन्द्रो और साधारण साधुओंके लिये है। वे शान्तिके पथपर चलने वाले शान्त ही होते हैं लेकिन परकृत उपद्रव ऐसा रोग उपसर्ग आदि उनकी शान्ति मे बाधक न हो तथा कर्मोदयकी तीव्रता भी न आवे, जिससे कि शातिमे फरक पडे अथवा मोक्षमार्गमे लगे हुये इन सवको वह आत्मस्वरूपकी स्थिरता प्राप्त हो जिससे पूर्ण वीतरागी बनकर शान्ति लाभ करे। देश राष्ट्र वा नगरमे शान्तिकी भावनाका मतलब है उनमे स्वय शान्तिकी योग्यता आवे। आधि व्याधि और उपाधि न होकर भी यदि आत्मदृष्टि न होगी

तो शान्ति कैसे आवेगी ? अत इनमे-इन सबको आत्माओमे से मोहका अस्तित्व खतम हो जाय या मन्द पडे । इन्हे अपना, अपने शांत स्वरूपका भान हो जिससे ये शाति लाभ करें । भक्तकी यह भावना अपने लिये स्वयं शाँतिमे रहनेकी प्रेरणा करने वाली है । क्योकि जब दूसरोको वह शात देखना चाहता है तो स्वय क्या अशान्त रहना चाहेगा ? कदापि नही । फिर दूसरोको शान्तिके लिये भी अपना व्यवहार सच्चा सात्विक और कष्टहर बनाना पडेगा, परोपकार, दया समता और क्षमा, सरलता, निरभिमान, निर्लोभिता, संयम, और ब्रह्मचर्य की साधना रखनी पडेगी । यदि इन बातोपर ध्यान न रहेगा इनको नही पालेगा तो अपनेमे विषय कषायोकी तीव्रता होगी और विषयकषायोकी तीव्रता होने से संपर्कमे आये हुये प्राणियोको आकुलता पैदा हुये बिना न रहेगी, अत जगतकी शान्तिको सच्चे अर्थोमे चाहने का मतलब है स्वयं विषयकषायोपर विजय पाते हुये त्यागी सम्मानी और वीतरागी साधु का जीवन व्यतीत करे । गृहस्थाश्रममे भी इनका यथा साध्य निर्वाह हो सकता है । गृहस्थाश्रममे भी साधुपना न हो तो अशातिकी बहुलता ही रहा करे, घर कुटुम्बके अडौस पडौसके व्यक्ति दुख, चिन्ता विवाद और विसवादमे ही पडे रहे । अत सात्विक जीवनकी उपादेयता हर एक श्रेणीमे अवश्य ही है । जीवन जितना सात्विक होगा उतनी ही शाति रह सकेगी । इसमे कोई सन्देह नही है ।

क्षेम सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल ।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा, व्याधयो यान्तु नाशम् ॥
दुर्भिक्ष चौरमारीक्षणमपि, जगतां मास्मभूज्जीवलोके ।
जैनेन्द्र धर्मचक्रं प्रभवतु सर्वसौख्यप्रदायि ॥

राजा व प्रजाके लिये मंगलभावना करके सर्वात्महितकारी जिनधर्मचक्रके प्रभावकी अभिभावना—पूजक शान्तिके लिये आगे कहता है कि सब सुखोको देने वाला या सम्पूर्ण प्राणीमात्रको सुख देने वाला जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञ आपके द्वारा प्रणित अहिंसा धर्म निरन्तर प्रवर्धमान रहे कि जिससे मानसिक विकारोका जो कि शातिमे बाधक ही नही स्वयं अशान्ति रूप हैं यथासभव उन्मूलन हो जाय, अशातिकी जड कट जाय । मानसिक अशांति लिये अधार्मिकताका हटना नितात आवश्यक है । बाहिरमे सब सुख सुविधाए हो, कोई तरह की आकस्मिक घटनाये न हो, फिर भी मनकी अधार्मिकता शात न रहने देगी । अशाति पैदा करने वाला कोई न कोई फितूर खडा ही रहेगा । और फिर बाहिर कलह उपद्रव ही तो अशाति नही है, भीतर आत्मामे जो चचलता आकुलता व्याकुलता होती है वही तो अशाति है । अशान्तिको हटाना कल्याणको चाहना इसका मतलब है कि मनके इन सकल्प विकल्पो को दूर किया जाय और इनका दूर होना धर्म आनेपर निर्भर है । धर्म आत्मा

का स्वभाव हे, स्वभावका अस्तित्व तो कभी खत्म नही होता, फिर भी जब तक उसे पहिचाने नही, माने नही, उसमे रमे नही तब तक धर्म नही आया कहलाता, अत कल्याण चाहनेके लिये मूलतत्त्व है धर्मकी प्राप्ति। वह आनेपर वाह्य उपद्रव रोग मारी अतिवृष्टि अनावृष्टि दुर्भिक्ष आदि भी ना आवेंगे, क्योकि ये सब अनिष्ट प्रसंग पापके कारणसे उपस्थित होते हैं। फिर भी पूजक कहता है कि ये वाह्यपदार्थ उपद्रव क्लेश करने वाले नही, इनको नही चाहनेका भी मतलब अपना पुण्य जीवन बनानेका है। जगतका क्षेम चाहना स्वय क्षेमरूप रहनेका द्योतक है। हम दूसरोको सुखी देखना चाहते हैं—यह निर्मलता उदात्त भावनाओका रूप है। जिसका हृदय कुटिल है, कठोर पापी और स्वार्थी है उसको क्या गरज पडी दूसरोके सुखके चाहकी ? अत हे भगवन मैं स्वय तथा सभी सभी प्राणी कल्याणके मार्गमे लगे रहे, कल्याणमय हो, स्वय तथा दूसरोके लिये कल्याणकर हो। किसी को किसी भी तरहका कष्ट न हो। रोग तथा और उपद्रव आवें ही नही। यदि आवें तो उन्हे समतापूर्वक सहन करने की हममे क्षमता हो जिससे कि हमारा कल्याणपथ प्रशस्त बनता जाय और हम पूर्ण कल्याणरूप हो।

प्रध्वस्तघातिकर्माण केवलज्ञानभास्करा ।
कुर्वन्तु जगत शान्ति वृषभाद्या जिनेश्वरा ॥

वृषभा जिनेश्वरोंकी उपासनामें सर्वलोकके शान्तिकरणकी अभ्यर्थना—घातिया कर्मोको नष्ट करने वाले तथा केवलज्ञानरूपी सूर्य जिनके उदित हो गया ऐसे ऋषभनाथसे लेकर महावीर पर्यन्त इस अवसर्पिणीके वर्तमान तीर्थंकर तथा धातकीखड और पुष्करार्धके अन्य ४ भरत क्षेत्रोमे हुये २४, २४ तीर्थंकर इसी तरह ५ ऐरावतोमे वर्तमान २४ तीर्थंकर तथा भूतकालमे हो गये। इन सब क्षेत्रोके तीर्थंकर और भविष्यमे होने वाले इन सब क्षेत्रो के तीर्थङ्कर इसके अतिरिक्त विदेह क्षेत्रोमे विद्यमान २० तीर्थङ्कर वा भूत भविष्यके असख्य तीर्थंकर वा तीर्थङ्करपदके अलावा भूत भविष्य वर्तमान कालसबधी अनन्त केवल ज्ञानी अरहत जगतकी शाति करे। भरत और ऐरावतक्षेत्रोके चौथे कालमे जो तीर्थङ्कर या केवल-ज्ञानी हो चुके उन्हे वर्तमान कालिक कहते है, क्योकि वे इसी अवसर्पिणीमे हुये हैं तथा आगे पीछेकी उत्सर्पिणीमे होने वाले भविष्यत वा भूत कालीन तीर्थङ्कर या केवली कहलाते है और विदेह क्षेत्रोमे तो निरन्तर एकसा ही चौथे कालके प्रारम्भकालके समान समय रहता है। जहा तीर्थङ्कर केवली वा सामान्य केवली हुआ करते हैं वहा कभी भी तीर्थका विच्छेद नही होता। जम्बूद्वीपका एक और पुष्करार्ध तथा धातुकी खंडके दो दो ऐसे ५ विदेह क्षेत्रो में अभी भी सीमन्धर युगमध आदि तीर्थङ्कर (कमसे कम २०) मौजूद हैं जिससे वहाँ अबाधगतिसे मोक्षमार्गकी देशना वा साधना चल रही है वे सब विद्यमान तीर्थङ्कर कहलाते है। ऐसी प्रसिद्धि है कि यहाँके आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अपनी तपविशेषकी शक्तिसे एक

देवके सहयोगसे विदेह क्षेत्रमें सीमन्धर भगवानके समवशरणमे गये थे और ७ दिन वहाँ रह कर साक्षात भगवानकी दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्गका उपदेश सुना था। कुदकुद भगवानने समयसार आदि ग्रन्थोमे आत्माका वैभव इस तरह प्रकट किया है जिससे उक्त बातकी प्रामाणिकता प्रगट होती है। ग्रन्थोमे जगह-जगह ऐसा भी कहा है कि यह तत्त्वोपदेश केवली द्वारा कथित है। साराश यह है कि जगतकी शाति तीर्थङ्करो वा अन्य केवलियो द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्गके उपदेश द्वारा ही सम्भव है। आचार्यके ग्रन्थोमे जिनेन्द्रदेवके उपदेश की ही परम्परा है। विदेहमें मोक्षमार्गका द्वार कभी बन्द नही होता। भरत ऐरावत क्षेत्र मे बीच-बीचमे तीर्थ प्रवर्तकोका विच्छेद हो जाता है, परन्तु विदेह क्षेत्रोमे कभी भी नही होता और ढाई द्वीपके पाँच विदेहोमे से एक एकमे कमसे कम ४, ४ तीर्थङ्कर तो हमेशा ही रहते है और अधिक हो तो ३२, ३२ तक हो सकते है। पूजक अपनी निर्मल भावना व्यक्त करता है कि तीर्थ प्रवर्तक जिनेश्वरो द्वारा जगतकी शाति रहती है सो वे जगतकी शाति करे। यहा कर्ता न समझ लेना किन्तु निमित्त ऐसा है।

वृषभादि जिनेश्वरोंका कालझांकी मात्र संक्षिप्त इतिहास—एक कल्पकालके दो भाग होते हैं—१ उत्सर्पिणी और २ अवसर्पिणी। ये १०, १० कोडाकोडी सागरके होते है। उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी काल आया करते हैं। अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी काल आया करते है। अवसर्पिणीके बाद जब उत्सर्पिणी आती है तब दुखमदुखमदुखम अवसर्पिणीके और दुखम तथा दुखमदुखम अवसर्पिणीके काल २१, २१ हजार वर्षके होते है। ८४ हजार वर्षोका अन्तर तीर्थङ्करोके विच्छेदका होता है और जब उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी आती है तब अन्तरायका समय बडा लम्बा १८ कोडाकोडी सागरका पडता है। उत्सर्पिणी सुखमदुखम सुखम और सुखमसुखम काल जो कि २, ३ और ४ कोडाकोडी सागरके होते है। इस तरह भोग भूमिकालके ९ कोडाकोडी सागर तथा उसके बाद लगने वाले अवसर्पिणी कालके सुखमसुखम, सुखम और सुखमदुखम कालके ९ कोडाकोडी सागर, इस तरह १८ कोडाकोडी सागरोका अन्तर तीर्थङ्करके होनेमे होता है, क्योकि भोगभूमिमे तीर्थङ्कर वा तीर्थ (मोक्षमार्ग) की प्रवृत्ति नही होती। वह तो कर्मभूमिके चौथे दुखमसुखम कालमे ही होती है। यह नियम उन्ही क्षेत्रोके लिये हैं जहाँ अवसर्पिणी उत्सर्पिणीका क्रम चलता रहता है। ऐसे क्षेत्र ५ भरत और ५ ऐरावत ढाई द्वीपके हैं। तो इस जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें इस अवसर्पिणीके चौथे कालके प्रारम्भमे हुए ऋषभदेव तीर्थंकर होने तक १८ कोडाकोडी सागरका अन्तर पडा। और सागर तथा कोडाकोडीकी तो भारी संख्या सबको ज्ञात ही है। स्पष्टताके लिये यहाँ

भी कह देते है– कल्पना कीजिये कि दो हजार कोसका लम्बा चौडा और उतना ही गहरा एक गढा हो उसमे उत्तम भोगभूमियाके पशुओके जैसा बालोका ऐसा कतरन भरा जाय जिसके दूसरे टुकडे न हो सकते हो। (हमारे बालोंसे जघन्य भोगभूमियोके पुरुषका बाल आठवा हिस्सा महीन होता है उससे आठवा हिस्सा बारीक बाल मध्यम भोगभूमियाके होता है और उससे आठवा हिस्सा बारीक उत्तम भोगभूमियाका बाल होता है) ऐसे बालो को खूब ठास ठास कर भरा जाय, फिर सौ वर्षमे एक बाल निकाला जाय, जितने समयमे वे सब बाल निकल जावे उतने समयका व्यवहार पल्य होता है। उससे असख्यातका गुणा करने पर जो लब्ध हो वह उद्धारपल्यका प्रमाण होगा। उद्धारपल्यसे असख्यात गुणा एक अद्धापल्य होगा तथा एक करोडमे एक करोडका गुणा करनेसे जो सख्या आवे उसे कोडा-कोडी कहते है, जो कि सबसे ऊपर बहुत अधिक संख्या होती है। ऐसे १० कोडाकोडी अद्धापल्योका एक सागर होता है। इस तरह १८ कोडाकोडी सागरका समय ऋषभदेव तीर्थङ्कर होनेके पहिले हुए तीर्थङ्करके बीचमे गुजरा। जब ऋषभदेव तीर्थङ्कर हुए (भरत क्षेत्रमे) और उन्होने तीर्थ मार्ग चलाया। इस अपेक्षासे तथा कर्मभूमिके सबसे आदि तीर्थ-ङ्कर होनेके कारण शान्तिपाठमे उनका ही नाम लेकर आदि शब्दसे अन्य सब कालोके सब क्षेत्रके तीर्थङ्कर वा सामान्य केवलियोका स्मरण जगतकी शान्तिके अर्थ किया है। सो भगवान तो अपने स्वरूपमे लीन है, उनकी उपासना करनेसे जो निर्मलता होगी उससे शाँति प्राप्त होगी।

श्रीजिनकी प्रध्वस्तघातिकर्मता—भगवान अरहत कैसे होते हैं? घातिया कर्मोको नाश करने वाले होते हैं। घातियाकर्म ४ है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। इनमे मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है उसमे भी दर्शन मोहनीय वा चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषायें और भी अधिक जीवके गुणोको घातने वाली है। अत सम्यग्दर्शन से पहिले इन्ही प्रवृत्तियोको नष्ट किया जाता है, बादमे चारित्रमोहनीय कर्म नष्ट होता है। मोहनीयके नष्ट होनेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनो एक साथ क्षीण होते हैं। ऐसे जीवके अनुजीवो गुणोको घातनेवाले घातिया कर्मोका अभाव होनेपर केवल-ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होता है जो कि शक्तिरूपमे आत्माके अनादिकालसे होता है। उसकी प्रगटता घातिया कर्मोंके अभाव होनेपर ही होती है। इस कार्यमे सबसे पहिला मोर्चा सम्यग्दर्शनका है। सम्यग्दर्शन होनेपर अन्य घातिया और फिर अघातिया कर्मोका नाश नियमसे होता ही है। ऐसा सम्यग्दर्शन भेद विज्ञानसे प्रगट होता है और भेदविज्ञान तब होगा जबकि वस्तुको समझनेमे उपयोग लगाया जाय। मनुष्यपर्यायमे यह कार्य और उसके भी आगे सयम धारण करनेका कार्य होना सुसाध्य है, अत यह तन मिला है तो उसको

इसीमे लगा दो। मनकी विशेषता पाई है तो उसे इसीके ध्यान और मननमे लगा दो और धन मिला है तो उसका भी उपयोग इसीके अर्थ कर लो। मिली हुई शक्तियोका सदुपयोग इसीमे है। वचनकी प्रवृत्ति भी आत्मकल्याणकी बातोंमे करो। हित मित और प्रिय बोलो। सामने देखते ही रहते हो कि जन्म मरनेके लिये होता है। समय नजदीक जानो वापिस बचपन या जवानी न आवेगी और वृद्ध ही मरते है। यह बात भी नही है किसी भी क्षण मृत्यु आ सकती है। सो सार बात यही है कि बाह्य वस्तुसे उपयोग हटाकर अभेद स्वरूपकी प्राप्तिमे जिस किसी तरह लगा दें।

श्री जिनकी केवलज्ञानभास्करता—कर्मोके नाश करनेके इस प्रकरणमे हमे इस बात की शिक्षा लेनी चाहिये। जो भी कर्मोको नष्ट करनेवाले हुये या आगे होवेंगे वे भी पहिले हमारे ही जैसे संसारी थे। जब स्वरूपको सभाला तो कर्मोसे मुक्त हुए। घातिया कर्मोके नाश होनेपर केवलज्ञानरूपी सूर्य उदय हो जाता है। सूर्य जैसे—अन्धकारको दूर कर प्रकाश कर देता है। किन्तु प्रकाश करनेवाली किरणे उसी उसीमे रहती है, उतनी ही रहती है दीखनेमे हानि वृद्धि मालूम पडती है उसी तरह केवलज्ञानमे हानि वृद्धि अगुरु-लघुत्व गुणके कारण होकर भी केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोमे कभी नही आती। ऐसे अलौकिक ज्ञानके धारी वीतराग परमात्मा हमारे लिये कल्याणके कारण हो। आगे पूजक अपने विषयमे सद्भावना प्रगट करता कि प्रयमं, करणं, चरण, द्रव्यं नम.। 'नम स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' व्याकरण सूत्रके अनुसार यहाँ नम के योगमे प्रथम आदि शब्दोमे चतुर्थी विभक्ति होना चाहिये, द्वितीया क्यो ? ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर यह है कि अनुकूलयितु नम. इन अर्थमे द्वितीया होना व्याकरण शास्त्रसे विरुद्ध नही है। यहाँ नमस्कार केवल वाचिक या कायिक न रहकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने की भावनापूर्वक नमस्कार है। प्रथमानुयोगमे वर्णित कथनके अनुसार पापसे बचकर अपना पुण्य चारित्र बनावें, करणानुयोगमे बताये भावोकी तरतमतायें अपने भावोको उच्च कोटिमे ले जावे। चरणानुयोगके अभ्याससे चारित्रवान वा निर्मल चरित्रवाले बने। द्रव्यानुयोगके अनुसार हम अपनी आत्माको स्वरूपमय बनावे। इस तरह चारो अनुयोगोके शास्त्रोके अनुसार हम उपादेय तत्त्वोपर अमल करें। ऐसी भावनासे अनुयोगोको नमस्कार किया गया है, अत तदनुकूल प्रवृत्तिके अर्थमे चतुर्थी विभक्ति न होकर द्वितीया होना ही ठीक है। जैसे ओ नम. सिद्धेभ्य को अनुकूल प्रवृत्तिके अर्थमे ओ नम सिद्धम्का भी प्रयोग करते है। अपनी आत्मा मे निर्मलता न आवे, अभेदस्वरूपका ज्ञान न करे। जैसा कहते हैं (पूजामे) वैसा अपना जीवन न बनावे तो वह पूजा ही क्या हुई ? आगे इसीकी भावना व्यक्त की है कि मेरे ये सात बातें होओ.—

शास्त्राभ्यासो जिनपदनुति सगति सर्वदार्यै,
सदवृत्ताना गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्वे,
सम्पद्यन्ता मम भवभवे यावदेतेऽपवर्ग ॥

प्रभुकी अभ्यर्चनामें सप्तसारलाभकी अभ्यर्थना—यहाँ भक्त अपने लिये क्या चाहता है ? हे नाथ ! जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त न हो जाय तब तक शास्त्रोका अभ्यास, जिनेन्द्र भगवानके चरणोकी पूजा, सर्वदा धर्मात्माओकी सगति, चरित्रशील पुरुषोकी गुणगाथा, किसी के दोष कहनेमे मौन वृत्ति, सबके लिये प्रिय और हितकारी वचन, आत्मतत्वमे भावना—ये बातें मुझे भव भवमे प्राप्त होती रहे जब तक कि मेरा भव बाकी है। पूजककी इसमे स्वार्थपरताकी भावना नही समझना कि जब तक मोक्ष नही हो पाया तब तक तो भगवान की स्तुति पूजा आदि पुण्य कार्य करें और मोक्ष हो जाय तो फिर दरकार नही है। और मोक्षके लिये ही तो ये सब करते है। मुमुक्षु सच्चे अर्थोमे स्वार्थी होता है। स्व माने आत्मा उसका अर्थी माने इच्छुक। आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका इच्छुक होना मुमुक्षु होनेका ही मतलब है। अत ससारवासके सयय तक उक्त रीतिकी प्रवृत्ति और भावना रखना कल्याणप्रद बात है। आगे कोई तरग रहती नही तो मुक्त अवस्थामे भी वह भक्तिके भावकी बात कैसे कहे ? भैया श्रद्धा यथार्थ रहे।

शास्त्राभ्यास जिनपतिनुति व सर्वसंगतिकी भावना—सुख शान्तिका उपाय शास्त्रोके परिशीलनमे वा सम्यग्ज्ञानमे है। शास्त्रको तीसरा नेत्र बतलाया है। इन चर्मचक्षुओसे जो नही दीख पाता वह सब शास्त्ररूपी नेत्र से दिखता है जहाँ कि सूर्यका प्रकाश भी नही पहुँच सकता। शास्त्र कैसा हो – आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्वोपदेशकृत् सार्द, शास्त्र कापथघट्टनम् ॥ जो आप्त पुरुषके द्वारा कहा गया हो, जिसका उल्लङ्घन न हो सकता हो, जिसमे पूर्वापरविरोध न हो, प्रत्यक्ष और परोक्षप्रमाणोसे जिसमे बाधा न आती हो, तत्त्वोका उपदेश करने वाला हो, सब जीवोका हितकारक हो और खोटे मार्गका नाश करने वाला हो ऐसे शास्त्रोका अभ्यास सतत हो। तथा जिनपदनुति—प्रत्येक रोगीको चाहे वे शरीरके रोगी हो अथवा शल्य चिता राग, द्वेष और मोह आदिके कारण भीतरी रोगी हो सबको भगवानकी भक्तिमे तत्पर रहना परम आवश्यक है। यह वह औषधि है जिससे रोगकी जड ही खतम हो जाती है। सगति सर्वदार्यै—हमेशा आर्य पुरुषोका समागम बना रहे। दुनियामे सत्समागमका अवसर एक अनुपम सुवर्ण अवसर है। उससे आत्म वैभव बढता है। किसी व्यक्तिकी पहिचान अच्छे बुरेकी करनी हो तो उसकी गोष्ठीको देखकर की जा सकती है। कुसगतिको पसन्द करनेवाला व्यक्ति 'सज्जन' नहीं हो सकता। और सुसगतिमे रहनेवाला दुर्जन वा पापी नही होता। इस वर्तमान कालमे कल्याणकी दो

बाते ही प्रमुख है—१–स्वाध्याय और २ सत्समागम। जीवनमे ये दोनो अधिकसे अधिक बनाये रखना चाहिये। शरीरको भोजन तो मल बनकर निकल जाता है लेकिन ज्ञानरूप आत्माका भोजन चिरस्थायी और सुख शातिके लिये होता है। उन्नतिके लिये स्वाध्यायके अतिरिक्त सत्समागमसे भी बडा सहारा मिलता है, भावनाएं निर्मल होती है, ज्ञान विशाल और परिष्कृत होता है तथा श्रद्धामे दृढता आती है।

गुणगणकथा व दोषवादमौनकी भावना—गुणगणकथा–गुणियोके गुण वर्णन करे। गुणपर दृष्टि होनेसे गुणोकी वृद्धि होती है। सच्चरित्र पुरुषोके गुणगान करनेसे योग्यता बढती है, निराकुलताका मार्ग प्रशस्त होता है। गुण वर्णन करनेसे स्वयको प्रसन्नता प्राप्त होती तथा सुनने वाले वा जिसकी कथा की जाती है उसे भी सतोष मिलता है। यदि प्रशसा सुननेका इच्छुक नही है तो भी निन्दा पानेसे जो आकुलता बढ सकती है वह तो नही होती। गुणोत्कीर्तनसे उस व्यक्तिमे भी जो गुण बखान रहा है उन गुणोके बढानेकी भावना बनती है और जिसकी की जा रही है वह भी गुणोमे बट्टा नही लगने देनेकी भावना मजबूत करता अथवा प्रोत्साहन या गुणोको और बढाता है। इस तरह गुणकथाका यह व्यवहार प्रशंसनीय है। दोषवादे च मौनम्–दोषोके कहनेमे मौन रहे। दोष न होनेपर दोषारोपण करना तो एक महान अपराध है ही, किन्तु दोष हो तो भी उसके उद्घाटनकी भावना न उठना चाहिये। यदि हमे उसपर दया आती है या उसके दोषको दूर करनेकी शुभभावना हुई है तो उसमे पाये जाने वाले गुणोको कहकर (क्योकि हर एकमे कोई न कोई गुण अवश्य होता है) पीछे इस ढंगसे बात करना चाहिये कि उसे बुरी भी न लगे और कर्तव्यका बोध कर बुरी आदत या कार्यको छोड दे। पहिले तो दोषोंपर दृष्टि ही न जाने दे, यह उत्तम है। क्योकि विकल्पोको बढाना नही किन्तु घटाना ही कल्याणप्रद है। यदि विकल्प हो भी जाय भी तो किसीको संताप हो, ऐसा व्यवहार कदापि न होना चाहिये। निन्दात्मक वृत्ति बैर और विसंवादको बढाती है। दीर्घ काल तकके लिये कलहकी परम्परा चलती है। अत' आत्म-कल्याणके इच्छुकोको तो इससे सर्वथा दूर ही रहना चाहिये।

सबके प्रति प्रिय हित वचनकी भावना—सर्वस्यापि प्रियहितवचो–सबके प्रति प्रिय और हितकर वचन बोले। ऐसे वचनोसे क्लेश क्षीण होते है, शान्ति रहती है, उच्च विचारोकी उदभूति होती है, आपदाओका सरलतासे परिहार होता है। कठिन कामको भी सहयोगसे सरलतापूर्वक किया जा सकता है। सुखकी अभिवृद्धि होती है और धर्मके मार्गमे बाधा नही पडती। बाधा आनेपर भी सरलतासे उनका परिहार होता है। प्रिय वचनोमे और साथ हितकारी वचनोमे वह बल है कि पशुप्रवृत्तिके मनुष्यको भी देव प्रवृत्ति मनुष्य बनाया जा सकता है। दम्भ और द्वेषको भगानेकी इसमे अनोखी करामात है। क्या

कहा जाय इसके विषयमे ? यह गुणउत्तम रूपसे तो साधुओके ही पाया जा सकता है क्यो कि मानस पटलमे यदि परमात्मीय शक्तिकी छाप न पडी हो तो ऐसा होना सभव नही हो सकता। हृदयमे माधुर्य न हो तो वाणीमे कदापि नही आ सकता। यदि स्वय हितके लिये हृदयमे स्थान न हो तो दूसरोके हितकी वात कैसे निकल सकती है ? और अपने वा दूसरोके हितका विचार भी किया जाता है तो भी वह विचार वास्तविक है या नही, यह भी तो एक प्रश्न है। सच्चे हितके लिये सच्ची श्रद्धा चाहिये और सच्ची श्रद्धाके लिये आत्मप्रतीती चाहिये, आत्मा और शरीरको यथार्थज्ञान चाहिये—इस तरह परहितके लिये प्रिय वचन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी अपेक्षा रखते हैं। यो तो लोक व्यवहारसे हितकारी मीठे वचन वोलना पक्के नास्तिकोसे भी सम्भव है। जिन्हे इसका पता ही नही कि किसका हित और हित क्या व अहित क्या ? आदि। लेकिन यह तो परमात्मा की पूजाका प्रकरण है इसमे नास्तिकता और लोकव्यवहारके लिये स्थान नही है। यहाँ तो मोक्षमार्गका ही निरूपण है, वही लक्ष्य है और फल भी उसीका चाहा जा रहा है।

आत्मतत्त्वभावनाकी भावना—भावना चात्मतत्त्वे–हे प्रभो ! भवभवमे आत्मतत्वकी भावना जागृत रहे। मैं शरीर और कर्मोसे अलग हू। यहाँ तक कि काम क्रोधादि विकार मेरी निजी सपत्ति नही। यद्यपि ये मेरे ही विकार है पर मेरे स्वभावमे नही, सयोगसे होने वाले हैं। इस तरह भेदविज्ञान करके सच्चिदानन्द रूप परमात्माका अनुभव हो जानेपर आत्मतत्वकी भावना रहा ही करती है। चैतन्य भावोकी तरफ दृष्टि लगानेसे यह सब सभव होता है। यदि हमारी दृष्टि ससारकी चीजोमे स्त्री पुत्र वा धनादिमे गड रही हो तो आत्म-तत्वकी भावना सभव कैसे होगी ? कदापि नही। हर एक चीजका आधार तो होता ही है। आत्मतत्वकी भावनाका आधार आत्मतत्व है। आत्मतत्व अमृतत्व है। यह हाथ लग जानेपर और किसीकी चाह नही रहती और चाह इसलिये नही रहती कि इसमे सब इच्छाओकी इति है। पूजककी ये पूर्वोक्त भावनाए उसके उज्ज्वल भविष्यकी सूचक हैं। पूजा (भगवत्पूजा) का महत्त्व तो ऐसा है कि आत्मा पूज्यके समान गुणोमे रहने लगता है। यदि वह रग न आवे तो पूजा ही न हुई समझिये। अभी तक सच्ची पूजा एक बार भी कर नही पाये। यदि ऐसी पूजा की होती तो ससारका बसेरा मिट जाता। फिर भी हताश होनेकी वात नही। आगे अनन्त प्राणी अपनी भूलोको दुरुस्त करके सत्पथ पर लगेंगे ही, मोक्ष जावेगे ही, मोक्षका दरवाजा आगे अनन्त काल तक कभी भी बन्द नही होगा। पतित आत्माए पावन वनती रहेगी। जो प्राणी जब तक नही समझे सो नही समझे, लेकिन हमेशा एक सी दिशा सबकी चलती रहेगी सो वात तो है नही। यही समझ लेना चाहिये कि हमारी काल-लब्धि स्वरूपबोधकी आ गई है। अब हमे अपना उपयोग सब तरफसे खीचकर इधर लगा

देना चाहिये। थोडी दृष्टि फेरनेकी जरूरत है। है तो सब कुछ इसमे। अपने प्रभुकी पूजा करनेसे उसके चैतन्य प्राणोकी प्रतिष्ठा अवश्य होगी, इसमे सन्देह नही है।

तव पादौ मम हृदये मनहृदय तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद् यावन्निर्वाणसम्प्राप्ति ॥

तत्त्वज्ञ भक्त द्वारा प्रभुचरणसेवाकी सविवेक अभ्यर्थना—हे प्रभो! जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदयमे रहे और मेरा हृदय तुम्हारे चरणोमे रहे। जगतके जीवोने अन्य तमाम पदार्थोको अपना सबधी बनाकर अपनेको कलकित किया पर भगवानका शरण गहकर अपनेको निष्कलंक नही बनाया। जो जिनेन्द्र संसारमे दु खोसे पार हो चुके, अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य) मय हो चुके है उनके स्मरणमात्रसे भव्यजीव कल्याण कर लेते है। बहिरात्माओको अन्तरात्मा बनने और अन्तरात्माओको परमात्मा बननेका निमित्तरूपसे यदि प्रधान कारण कहा जा सकता है तो वह है जिनेन्द्र भगवानका शरण। यद्यपि कई प्राणी समवशरणमे भी कई बार पहुच चुकते हैं, वहाँ साक्षात् विराजमान अरहन्तका दर्शन करते है, दिव्यवाणीका श्रवण करते है पर वास्तवमे वे न जिनेन्द्रका दर्शन करते हैं और न उनकी वाणी सुनते है। अरहतका जो शरीर दिव्य तेजपूर्ण और अनेक अतिशयोसे सहित है वह शरीर अरहन्त नही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन ४ कर्म अरियोको हरने वाला वह शरीर नही है, वह तो इन कर्म शत्रुओको परास्त करनेवाला अनन्तशक्तिमान, चैतन्यशक्तिसे परिपूर्ण सदा ज्ञान दर्शनके परिणमनमे रहने वाला आत्मतत्त्व है, जो बाह्य दृष्टिसे त्रिकालमे कभी नही दीख सकता। वह तो अमूर्तीक एव स्वसवेद्य होनेसे अन्तर्दृष्टि द्वारा ही देखा जा सकता है। समवशरणके बीच श्रीमण्डपमे विराजमान, औदारिक शरीर मे व्याप रहा है। जो शुद्ध चेतनतत्त्व है वह अरहन्त है उसका दर्शन अपनी आत्माका दर्शन होनेसे ही हो सकता है, क्योकि हमारी आत्मा और अरहन्तकी आत्मा की जाति एक है, स्वभाव और स्वाभाविक गुण एक है, जब अपनी परख आती है तब अनुभव होता है कि जैसा स्वभावमे शुद्ध केवलज्ञानशक्तिसे परिपूर्ण मेरा आत्मा है वैसे ही अरहन्त व्यक्तरूपमे बन चुके है। तो जिनेन्द्रके दर्शन आत्मदर्शनपूर्वक होते है और आत्माके दर्शन अरहन्तके यथार्थज्ञानपूर्वक होते है। कहा भी है—जो जाणदि अरहन्तं दव्वत्तिगुणत्तिपज्जयत्तेहि सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लयं।" अर्थात् जो अरहन्तको उनके द्रव्य गुण और पर्यायकी यथार्थतासे जानता है वह अपनेको जानता है और उसका मोह निश्चयसे क्षीण हो जाता है। यही बात दिव्यध्वनि सुननेके बारेमे समझिये। केवल उस मधुर और तत्त्वोका निदर्शन करनेवाली वाणी का सुन लेना मात्र सुनना नही है किन्तु सुनकर अर्थ

बोध होकर परमार्थको जान लेना ही वास्तविक सुनना है। श्रोतापनेकी यही विशेपता है।

आत्मपरिचयमें परमात्मभक्तिकी सभवता—भगवानकी सच्ची स्तुति और भक्ति आत्मस्वरूपके बोधमे है। अपनेको नही पहिचाना तो भगवानकी स्तुति भक्ति कैसे बन सकती है? यदि पूर्वोक्त छन्दको ओर गहराईसे विचारें तो हम स्वय सहजसिद्ध भगवान है जिसके ज्ञान और दर्शन दो चरण हैं अथवा कहिये सामान्यचैतन्य और विशेपचैतन्य। उसमे उपयोग रहना ही चरणोंका हृदयमे विराजमान करना है। मेरा उपयोग ज्ञानदर्शनमे ऐसा लीन हो जाय कि उनमे एकाकारता हो जाय, अथवा ज्ञान दर्शनरूपी चरण उपयोग रूपी हृदयमे इस तरह विराजमान हो जायें कि उनमे भिन्नत्वकी कल्पना न रहे। याने निर्विकल्प स्थिति प्राप्त हो जाना हृदयमे (स्वयके भगवानका स्वयके भगवानसे) भगवानके चरणोंकी स्थापना करना है। उस स्थितिका वर्णन दौलतरामजी ने इस तरह किया है— जहाँ ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प वच भेद न जहाँ। चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ॥ तीनो अभिन्न अखिन्न शुद्ध, उपयोगकी निश्चल दशा। प्रगटी जहाँ द्रग ज्ञान व्रत ये, तीनधा एकै लसा॥ परमाण नय निक्षेपको न उद्योत अनुभवमे दिखे। दृगज्ञान सुख बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै। मैं साध्य साधक मैं अवाधक कर्म अरु तसु फलनि तैं। चित्पिड चंड अखड सुगुण करड च्युत पुनि फलनि तैं। यो चिन्त्य निजमे थिर भये ·· ॥ उपरोक्त प्रकारसे आत्माकी निर्विकल्प अवस्था ही भगवानकी सच्ची भक्ति है। यह निर्विकल्प ध्यानरूप भक्ति अथवा व्यवहारमे निजबुद्धिगत अरहत सिद्ध भगवानमे भक्ति भक्त तभी तक चाहता है जब तक कि मोक्ष प्राप्त न हो जाय। अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाने पर आत्माकी ऐसी स्थिति ही न रह जायगी, जहाँ कोई प्रकारका विकल्पमात्र भी न रहे, फिर पूज्य पूजकका विकल्प कहाँसे हो? उसमे तो पूज्यपूजक भाव न रहकर सच्चिदानन्दरूप अवस्था प्रगट हो जाती है। मुक्ति प्राप्त होने तक ही भगवन! मैं आपकी भक्ति चाहता हू ऐसा कहनेमे भगवानके प्रति कोई अविनय नही है। क्योकि इस भावना और आचरणमे भगवानकी आज्ञाका पालन होकर उनकी सच्ची भक्ति होती है। भगवान के सत्पथमे यह नही कहा गया कि तुम हमारी भक्तिमे ही झूमते रहो और अपनी खबर न लो। भगवानकी आज्ञाका साराश तो यही है कि जिस किसी तरह अपने उपयोगमे ही रम जावो। अपने शुद्ध उपयोगमे आचरण करो। अशुभ शुभ उपयोगको दूर करो। कल्पना-जालसे निकलकर निर्विकल्प समाधिमे मग्न रहो, स्वय परमात्मा बनो। जगतके जीवोने सब कुछ किया, किंतु स्वरूपकी दृष्टि नही की, अपने स्वरूपकी दृढता नही आई। परभावकी इतनी दृढता रहती है कि पुत्र बीमार हो जाय तो उसे सारा धन लगाकर और अनेक कष्ट सहकर भी उसे बचाना चाहते है, यह हुई मोहकी दृढता। इसी तरह यदि स्वरूपकी दृढता

आ जावे तो उसके निमित्त भी बाह्य सब कुछ न्यौछावर किया जा सकता है। तन, मन और धन उसके निमित्त उत्साहपूर्वक अर्पण किया जा सकता है। आत्माकी दृढताका पता ऐसेमे ही पड सकता है। आत्माको समझनेके लिये शुद्ध स्वरूपमे रुचि करना सो उसकी दृढता है। रत्नत्रय स्वरूप जिनेन्द्रके चरणोमे अपने आपको मोक्ष तक भक्त समर्पित कर रहा है।

अक्खरपयत्थहीरा, मत्ताहीरा च ज मया भरिगय।
त खमउ गाण देव, मज्झवि दुक्खखय दितु ॥

अशुद्धवचनक्षमा व दुःखक्षयकी अभ्यर्थना—हे भगवन! मुझसे अक्षर, पद और अर्थसे हीन जो कुछ भी कहा गया है हे देव! उसके लिये क्षमा कीजिये और मेरे दु खोका क्षय कीजिये। प्रथम तो भगवान आप शब्दो द्वारा कहे नही जा सकते, अवर्णनीय है किन्तु मैंने आपको शब्दोमे कहकर धृष्टता की, अपराध किया और फिर कहनेमे भी तो भूले हो सकती हैं अत. आप क्षमा कीजिये। कोई कहे कि क्षमा मांगनेकी क्या जरूरत? आपके मनमे जैसा हो वैसे सोचें, आपको जैसा कहना हो कहे, भगवान तो कुछ कहते सुनते नही? सो तो ठीक है लेकिन अपने अपराधोकी क्षमा याचना न करे तो इसमे हमारा ही अकल्याण है, अवक्तव्य तत्त्वके विषयमे शब्द बोलकर किये हुए क्षोभका प्रायश्चित या क्षमा योगनिरोध है तथा अपराधकी क्षमा मांगनेमे पूर्व विकल्प दूर होता है अत अपने कल्याणके ही अर्थ यह सब कुछ कर रहा हू। और अपने सहजस्वभावी आत्मदेवसे पूजक कह रहा है कि हे चेतनदेव! सहजसिद्ध भगवन! कैसा है तू? तुझमे अक्षर, पद, मात्रा नही है, तू तो स्वसंवेद्य है। हे ज्ञानदेव मैंने अब तक बडा अपराध किया कि जो अलौकिक महिमावाले और अक्षर पदसे रहित आपकी शब्दो द्वारा गुणोत्कीर्ति की। इससे आपकी महिमा घटा दी, आपकी अर्चना तो मात्र स्वानुभूतिसे है। सो हे भगवन मैं अन्तरगसे चाहता तो यही हू कि स्वानुभूतिरूपसे ही आपकी अर्चा करूं, यही क्षमायाचनाका मेरा भाव है। मज्झ विदुखक्खयं दितु—देव! मेरे दु ख समाप्त हो। हे ज्ञानदेव! तुम मुझपर क्षमा कर दोगे तो मेरे दु ख अवश्य ही दूर हो जावेगे। मिथ्यात्व अवस्थामे तो सरासर अपराध ही था जो कि विषय-कषायमे ऐंठते रहे। तुम्हे पहिचान न सके यह बडा अपराध हुआ। नर नारकी आदि पर्याय को तथा क्रोध आदिको अपनाया लेकिन मैं वह नही। सो जब मैंने अपने रूपको पहिचाना तो आपको पहिचाना और इस पहिचानसे निश्चयत मेरे दु ख छूट जावेंगे। दु ख भी मानने भरके थे, सो मनमे सच्चाई आनेपर अब वे न रहेगे। आपकी पूजाका यह फल मुझे प्राप्त हो ही।

दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरण च बोहिलाहो य ।
मम होहु जगतबाधव तब जिणवर चरणशरणेन ॥

श्रीजिनचरणशरणसे दुःखक्षय, कर्मक्षय, समाधिमरण व बोधिलाभकी भावना—हे जगतके बन्धु भगवान ! तुम्हारे चरणोकी शरणसे मेरे दु खोका क्षय हो, समाधिमरण हो और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो। आप ही मेरे ही नही सारे ससारके सच्चे बन्धु है और इसलिये निरपेक्ष बन्धु हैं। आपके चरणोका शरण गहना यही है कि मैं अपने हृदयमे आपका स्वरूप लाऊं। सो भगवन यह भी व्यवहार ही है। आपका स्वरूप तो आपमे ही रहेगा, आप आपमे ही रहेगे लेकिन मैं अपनी शुद्ध आत्मामे विकल्पकी अवस्थामे कल्पना द्वारा जो चितवन कर सका वह आपका शरण है। सो हे भगवन यह भी तो व्यवहार है। आपके चरणो का शरण गहना यही है कि मैं स्वय अपने शुद्धस्वरूप (जैसे कि आप हो) मे लोन हो जाऊ। हे भगवन ! इस तरह आपका शरण गहनेसे दु खोका नाश होता है। दु खोकी कल्पना करानेवाली मोह प्रकृतिका ही अभाव हो जाय और उसके स्थानमे आत्म-रमणता आ जाये तब दु ख और उसके निमित्त कारण कर्मका क्षय हुये बिना नही रह सकता। कर्मक्षयके लिये भी भेदज्ञानपूर्वक स्वात्मदेवके चरणोकी शरण लेनी आवश्यक है। ऐसा शरण प्राप्त कर लेनेपर दु खोका क्षय और उनके कारण कर्मोंका क्षय होगा ही। कर्मोंका क्षय भी समाधिमरण हुये बिना नही हो सकता। अन्तमे भी अघातिया कर्मोके क्षयके लिये समाधिमरणका सबसे उत्कृष्ट रूप, जिसे पडितपडितमरण या सम्मानके साथ बोला जाय तो निर्वाण कहते हैं, कारण है। समाधि मरणकी बडी विशेषता है। समाधि अर्थात् आत्मानुभूतिपूर्वक मरण होने पर संसारका उच्छेद होनेमे अधिक समय नही रहता। समाधिमरण को विज्ञजन महा उत्सवके नामसे कहते हैं। यह महोत्सव कोई विरले महाभागी को प्राप्त होता है। लोग वैभवशालीको भगवान मानते हैं लेकिन यह उनकी विकार दृष्टिका कथन है। भगवान तो वह है जो भगवानके भावको प्राप्त हो गया और समाधिमरण उससे भी महत्त्वपूर्ण होनेसे समाधिमरण करनेवाला महाभगवान है। जन्मसे मरणकी महत्ता अधिक है, किन्तु संयोगी दृष्टिवाले जन्मको महत्त्वशाली सुखकारी समझते हैं और मरणको आपत्ति वा दु खकारी मानते हैं। जन्मके बाद ससार ही है किंतु मरणके बाद ससारसे पार भी हुआ जाता है। मरणके बाद जीवको यदि जन्म न लेना पडे तो उस मरणको मरण न कह निर्वाण कहते हैं। समाधिमरणका ऐसा महत्त्व है कि प्रत्येक निकट भव्यजीव उसकी कामना करता और उसके लिये जीवन भर साधना करता है। समाधि-मरणके कुछ क्षणोकी सफलताके लिये जीवनभर उसकी सिद्धिमे व्रत तप जप यम नियम आदि किये जाते हैं, इससे उसकी महानता स्पष्ट है।

समाधिमरणकी आवश्यकताका चित्रण—किसी एक सच्ची घटनाका जिक्र सुना जाता है कि एक स्त्रीके प्रसव हुआ लेकिन इसमे वह मरनेको हो गई। पतिको बहुत चिता हुई, उसने पतिको धैर्य बधाया। पतिने प्रेम दिखाया तब वह बोली—यह तो आपका झूठा प्रेम है, हमारे मरनेपर आप शीघ्र ही शादी करके दूसरी स्त्रीके पति बन जावेगे और ये बच्चे मारे मारे फिरेगे। पतिने दूसरी शादी न करनेकी प्रतिज्ञा ली। उसके मरणका समय निकट आया तब स्त्री बोलती है कि यदि आप मुझसे सच्चा प्रेम करते है तो एक बात मानो। उसने स्वीकार किया। तब वह बोलती है कि अब मेरा आपका कोई सबध नही, हमे समतापूर्वक मरने दीजिये। आप और अपने बच्चेको लेकर यहाँसे चले जाइये। पतिने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और वीर धर्मप्राण महिलाने समतापूर्वक प्राणोका विसर्जन किया। देखिये यद्यपि उस महिलाकी शारीरिक अवस्था अशुद्ध थी परन्तु अन्तरात्मा शुद्ध था, सो समाधिमरण कर ही लिया। कोई चाहे तो अपने भावोकी सम्हाल करके समता वा समाधि-पूर्वक मरण कर सकता है लेकिन यह सच्चे अर्थोमे सम्यग्ज्ञान बिना संभव नही है। जब तक सम्यक् बोधिका लाभ नही होगा तब तक समाधि न होगी। अत: पूजक यह कह रहा है कि बोधिका लाभ भी हो। आपके चरणोकी शरणमे आनेसे यह सब संभव होगा। इसी विश्वाससे आपसे यह आशा प्रगट कर रहा हू। स्वयके भगवानको लक्ष्यमे लिये हुये विकल्प की अवस्थामे कर्मक्षयसिद्ध भगवानके प्रति श्रद्धा और भक्तिमे भरा हुआ भगवानके प्रति अपनी शुभ कामनाए निष्काम होनेके लिये प्रगट कर रहा है। शुभ कामनाओका मतलब यहाँ शुभकी कामना नही लेना किन्तु शुद्ध उपयोगके लिये जो पवित्र भावनाएं पृथक भूमिका मे बनती है ऐसी पवित्र भावनाओ को यहाँ शुभकामना शब्दसे कहा गया है। उपादेय तत्त्वों की प्राप्तिका यहाँ प्रयोजन है।

त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानन्दैककारण कुरुष्व।
मयि किङ्करेऽत्र करुणा यथा तथा जायते मुक्ति ॥

श्रीजिनकी उपासनामें मुक्तिकी अभ्यर्थना—हे तीन लोकके ईश्वर जिनेन्द्र! आपके उपदेशसे तीनो लोकोका भला हो रहा है। सज्ञी तो उपदेश द्वारा रत्नत्रयकी साधनासे सुखी होते हैं और एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्तके जीव उन उपदेश पाये हुये मुमुक्षुओ के द्वारा दया और अभयदान पाकर सुखी होते हैं। सो तीन लोकके इन्द्र जिन्हे नमस्कार करते है। ऐसे हे जिनेन्द्र! आप उत्कृष्ट ज्ञान लक्ष्मी जो कि आत्माका अभिन्न रूप है उसके आप प्रधान कारण हो। सो मुझ किङ्करको मुक्तिलाभमे निमित्त होवें। अपने अभिन्न स्वरूपमे लीन होनेकी कामना मोक्ष मार्गकी प्रथम भूमिकामे हुए बिना नही रहती। भक्त इसी भूमिकामे प्रज्ञामयी भगवतीको मना रहा है, रिझा रहा है या कहो अपने स्वरूपमे आने

के लिये ये सब व्यवहार कर रहा है ।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि शास्त्रोक्त न कृत मया ।
तत्सर्वं पूर्णमेवास्तु त्वत्प्रसादाज्जिनेश्वर ॥

सर्विधि अर्चन न किये जा सकनेके दोपकी आलोचना—हे जिनेश्वर ! अपने उद्देश्य के अनुसार आपकी जो पूजा की है वह जाने वा अनजाने शास्त्रमे कही गई विधिपूर्वक नही बन सकी है, अत उनमे जो त्रुटियाँ रह गई हो या जो दोष लगे है आपके प्रसादसे उन दोषोकी क्षमा याचना हो त्रुटियोकी पूर्णता हो । लोकके शिष्टाचारमे भी ऐसा कहा जाता कि आपकी कुछ भी सेवा नही बन सकी, दूसरेका कितना भी आतिथ्य किया जाय किन्तु वह यथाविधि और पूर्ण हो सका यह नही कहा जा सकता । फिर यह तो भगवानकी पूजा है । भगवान जैसी महान आत्माके लिये हम कितना समादर प्रगट कर सकते हैं ? जन साधारणमे कर्तृवाच्यका प्रयोग ज्यादा चलता है और अध्यात्मवादमे कर्मवाच्यका प्रयोग अधिक होता है । कर्तृवाच्य और कर्मवाच्यके अन्तरका वडा रहस्य है । मैं पढाऊगा यह कर्तृवाच्यका प्रयोग हुआ, इसमे दूसरेको पढानेकी क्रियाका कर्तृत्व आया और जिसको पढावेगा उसमे कर्तृत्व आया । इसीको अध्यात्मदृष्टिसे यो कहा जायगा कि वह मेरे द्वारा पढाया जावेगा—इस प्रयोगमे पढनेकी क्रियाके कर्तृत्वका अहकार नही झलकता । यद्यपि कर्मवाच्यमे भी द्वारा शब्दका प्रयोग हुआ है किन्तु इस वाच्यमे कर्ता गौण है । इस कर्मवाच्य के प्रयोगमे क्रियाका असर कर्मपर पडता है । इस तरह कर्तृवाच्यके प्रयोगमे परकर्मत्वकी बात है जब कि कर्मवाच्यमं उसकी गौणता है । यहाँ कर्तृवाच्यका प्रयोग भक्तने किया है । वास्तविक बात यही है कि प्रत्येक द्रव्य अपनेको ही कर सकता है याने अपना कर्ता दूसरा कदापि नही, स्वयं ही होता है और वह क्रिया भी उसी द्रव्यमे की जाती है, अत क्रियाका असर भी बाहिर न होकर स्वय उसी द्रव्यमे होता है अत कर्म भी वही पडता है । इस विसर्जन पाठमे भी कर्मवाच्यके द्वारा स्वलक्ष्यको दुहराया है । अर्थात् आपकी मैंने पूजा की, इसमे परकर्तृत्वकी बात आती है । किसीकी पूजा कोई दूसरा कैसे कर सकता है ? क्योकि एक दूसरेका कर्ता निश्चयत नही होता । सहजसिद्ध भगवानके प्रति पुजारी कहता है कि हे प्रभो ! आपकी पूजाका लक्ष्य तो बनाया था किन्तु शास्त्रविहित रीतिसे नही पूजे जा सके, अद्वैत भावसे पूजा नही बन सकी । बहुत कोशिश की मैंने कि अपने अभेद रूपकी पूजा कर सकूं लेकिन नही बनी । जैसे— बालकको एक मिठाई चखनेको दी जावे, बच्चेको उसका स्वाद पसन्द आया, अब जब उसे चखनेका खयाल करता तब रुलाई आती । दूसरेको इसका पता नही कि यह किस कारणसे रो रहा है ? इसी तरह पूजकने प्रभुपूजाका ऐसा कुछ स्वाद ले लिया है कि बाह्य विकल्पमे रहनेपर कहता कि मैं प्रभुकी

सच्ची पूजा तो कर ही नही पाया अन्तस्तत्वको तो मैं पहुंच ही न पाया। सो हे जिनेश्वर देव ! तुम्हारे प्रसादसे वह पूरी हो जावे।

बाह्य अभ्यर्चनाकी अन्तः अभ्यर्चनामें सहयोगिता—बाह्यमें जब शुभोपयोगकी एकाग्रतापूर्वक अच्छी तरह पूजा की तब पुजारी ऐसा कहनेका अधिकारी है और यदि चित्त देकर और स्वके लक्ष्य विना बाह्य पूजा करे तो ऐसा कहनेका अधिकारी भी नही। प्रश्न होता कि भगवानके प्रसादसे वह त्रुटि पूर्ति कैसे हो जावेगी ? तो अपने आपमे जो अभेद भावोकी दृढता आवेगी उसीसे उसकी पूर्ति हो जावेगी। स्वयमे ही पुजारी और पूज्यकी एकाकारतासे ऐसा हो सकेगा। देखो उपयोग तो पुजारी है व चैतन्य भगवान है। इनमे अन्तर क्या है ? बाह्य और आभ्यन्तरका। चेतनका जो व्यवहार है वह विशेष है, वह उपयोग रूप तो पुजारी हुआ और सामान्य चैतन्य भगवान हुआ। उपयोग चैतन्यसे कह रहा है किन्तु जिससे कहा जा रहा है वह सुनता नही। मत सुनो उपयोग पुजारी तो सफल ही हो रहा है। भगवान सिद्ध अरहन्त भी तो उपेक्षक है। जैसे कर्मक्षयसिद्ध अचल है उसी तरह हमारे मे जो चैतन्य सामान्य है वह भी अचल है। उससे उपयोग पुजारी कह रहा है। दिशाका जो स्रोत है उसका अवलोकन सम्यग्दर्शन है और इसके विपरीत सब लक्ष्य हितबुद्धि मिथ्यादर्शन। आत्माके परिणमनोके आधारको देखना ही उपादेय है, यह बात प्रज्ञामे आई, लेकिन हे भगवन मैं विकल्पमे अटका रहा इसलिये वास्तविक पूजा नही हुई। निर्विकल्पतामे कुछ क्षणके लिये गया तो स्थिर न रह सका। इस भवमे आनेके पहिले तो मैं आपकी यथोचित पूजा कर ही नही सका, नहीं तो इस तनमे यहाँ क्यो रहता ? इसका सबूत अनुभव है। एक दृष्टान्त है एक आदमीको लोग मूर्खराज कहा करते थे क्योकि वह अत्यधिक मूर्ख था। अपना यह नाम सुनते सुनते वह ऊब गया और सोचा कि चलो इस गाव से ही चल दे तब कौन कहेगा मूर्खराज ? चलकर किसी गावके बाहर आराम लेने रुके और कुयेकी पाटपर पैर कुयेमे लटकाकर बैठ गये। जब कुयेपर एक आदमी आया और उसको इस बेहूदे ढगसे बैठा देखा तो कह उठा कि तुम तो बडे मूर्खराज हो। मूर्खराज बोले—आपको मेरे नामका कैसे पता लगा ? तब उत्तर मिलता है तुम्हारी करतूतसे। तो इसी तरह हम जो इस दशामे है यही सबूत है कि पहिले कभी सच्चे अर्थोमे पूजा नही की। जडपर या पर-आत्माओको भी आत्माकी दृष्टिसे नही देखा। केवल इष्ट अनिष्ट विकल्प करते रहे।

आह्वान नैव जानामि, नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जन न जानामि, क्षमस्व परमेश्वर ॥

प्रभुभक्तिमें अपनी अज्ञताकी क्षमाकी अभ्यर्थना—हे परमेश्वर ! (जिसका नाम और मूर्त आकार आदि नही ऐसे परमेश्वरको बुलाया जा रहा है) आपको कैसे बुलाया जाय,

यह भी नही जानता। बुला बुलाकर थक गये और आप आये नही, इसलिये मालूम पडता कि हमे आपको बुलाना नही आता। निजके चैतन्य भगवानसे कही जा रही है कि तुम्हे कैसे बुलाया जाता ? इस तरह कि आपके सन्मुख हो जाता, हमारा उपयोग आपमे ही होता, लेकिन ऐसा नही बन सका जिस तरह हुडियोके द्वारा लेनदेन होता उसी तरह भगवानके पास न जाकर भी उनको बुलाना हो सकता है। अभेद आत्मस्वरूपमे उपयोग लगाना ही उनको बुलाना है। तो मैंने चैतन्यको अभेद रूपमे नही पाया, अत आपका आह्वान नही बन सका और नही पूजा बन सकी। और क्षमापण भी कैसा कब करना चाहिये सो भी नही जानता। यदि आपको हम सर्वदाके लिये बुला सकते तो आपका विसर्जन भी नही करते, लेकिन हमने केवल विकल्पोमे ही आपको बुलाया अत उन विकल्पोको त्याग करके ही आपका विसर्जन करता हू। आप विकल्पोमे नही, हमारे निर्विकल्प चैतन्य पटलमे आवे इस भावनासे विकल्पसे बुलाये गये और विकल्पोमे रहे। अब शुद्ध तत्त्वको ग्रहण करके विकल्पोका विसर्जन करता हू। हे चैतन्यदेव ! मुझे क्षमा करो। मुझे आपमे ही लीन हो जाने दो।

मन्त्रहीन, क्रियाहीन, द्रव्यहीन तथैव च ॥
तत्सर्वं क्षम्यता देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥

प्रभुपूजाप्रसगमें संभावित त्रुटिके क्षमाकी अभ्यर्थना--हे देव ! आपकी पूजाका जो कार्य हुआ है वह मन्त्रसे हीन, क्रियासे हीन और द्रव्यसे हीन रहा है। इन सबमे त्रुटियाँ आई है। उन्हे आप क्षमा करें और मेरी रक्षा करो रक्षा करो। चैतन्यदेव मन्त्रसे हीन हैं मन्त्रोद्वारा प्राप्त नही किया जा सकता। इसका प्रवेश तो सम्यग्ज्ञानमे है, इसका प्रवेश सर्वदा आत्मामे ही है। अर्थात् आत्मदेव आत्मामे ही मिलेगे, बाह्य मन्त्र और क्रिया आदिमे नही। इस अपनी आत्माके देवात्म्यमे ही समस्त शब्दजाल बाह्य क्रिया और द्रव्यके विना आत्माको देखना ही भगवानकी रक्षा करना है। रक्षा रक्ष्य और रक्षक सब अपनी आत्मामे ही है। द्वैत्यकी विधिमे वास्तविक रक्षा नही है, वह तो केवल काल्पनिक रक्षा होती है जिसे अज्ञानी प्राणी रक्षा कहता है। कौन किसकी रक्षा करता है और कौन किसको मारता है ? सब अपने-अपने परिणमनमे (जो कि समय-समय पर होती ही रहती है) है। भगवानको अपनी रक्षाके पचडेमे लेना उनका अपमान करना है। और वस्तुत न तो वे रक्षाके लिये आते है और न उनका अपमान भी होता है, अपमान तो हमारा ही है जो परके विकल्पोमे परकर्तृत्व मे जावे। अनादिसे यही खेल बाधकके समान अज्ञानतापूर्वक होता रहा। अब हे देव ! अपने मे स्थिर होओ, यही आपकी रक्षा है। यही भगवानसे रक्षा करनेकी बात कहकर चाह रहे है।

नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये ।
वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥

प्रभुभक्तके चित्तमें वीतरागदेवकी अनन्यशरण्यताका निर्णय—व्यवहारसे कहा जाय तो तीनो लोकोमे वीतराग भगवानसे उत्कृष्ट देव न है, न हुआ है और न होगा। अत वीतराग भगवानके सिवा दूसरे कोई रक्षक नही है, रक्षक नही है, रक्षक नही है। निश्चय मे तो अपनी आत्मा ही रक्षक है, जब तक उसका आश्रय न ले, उसके शरण न आये तब तक जीवनका कल्याण कोई बाहरी शक्ति नही कर सकती। वीतरागदेव तो वीतराग ही है यदि उन्हे किसी भव्यने अवलबन बनाया तो कल्याणमे निमित्त हो जाते है, अन्यथा उनकी स्थिति तो अपनेमे ही परिणमन कर रही है। निश्चयमे यह बात मुख्य है कि एक द्रव्य दूसरेका कुछ नही कर सकता। इसलिये आत्मा अपना रक्षक स्वय ही है, दूसरा कोई नही है, नही है, कदापि नही है। अन्यके रक्षकपनेको निषेध ३ बार करनेसे उस बातमे पूरा बल दिया गया है। और व्यवहारसे देखा जाय तो वीतरागदेवके सिवाय दूसरा कोई उत्कृष्ट देव न होनेसे, अन्य देव रक्षक नही है, रक्षक नही है, कदापि नही हैं। यहाँ पर भी अन्य देव कहलाने वालोमे वीतरागदेवके समान उत्कृष्ट नही है, नही है, नही है। इस तरह ३ बार निषेध करके उनके ही एक इष्टदेवपनेका भाव प्रगट किया है। और इसीलिये रक्षक भी उनके सिवा दूसरा नही है, नही है, नही है। जगतके बधु मित्र सेवक, मंत्र, तत्र और देवी देवता, जिनसे रक्षाकी आशा भोले प्राणी रखते है वे स्वय अरक्षित है, तब फिर दूसरेकी रक्षा क्या करेगे? यदि दूसरे कोई किसीकी रक्षा करनेवाला होता तो संसारमे आज चिर-कालीन पुराने ही नही अनादि अनत कालके पुराने मनुष्योका जमघट दिखलाई देना चाहिये था। लेकिन देखा यही जाता है कि अपने-अपने समयमे अपनी-अपनी आयुको भोग मरना पडता है और वास्तवमे जिसे रक्षा समझता है भोला प्राणी वह रक्षा नही है। काम क्रोध लोभादि विकारोका आक्रमण हमारे स्वभावमे न हो यही सच्ची रक्षा है अथवा स्थूलतापर जाइये तो जिन कर्मोंके उदयको पाकर ये विकारभाव उठते है उन कर्मोका आक्रमण न होना, उनका अस्तित्व खतम हो जाना हमारी रक्षा है। इसके सिवा विकारोको सुरक्षित रखनेके लिये रक्षाके अवलबन बनाना धोखेमे पडना है। बाह्यमे अवलबन लेनेकी आवश्य-कता है तो एक वीतराग देवकी। आज तक जितने भी मुक्तिको प्राप्त हुए है उन सब साधको ने वीतराग देवको ही अपनी सुरक्षाका साधन,ध्यान द्वारा बना आत्मकल्याण पाया है। यहाँ भी पूजक यही भाव प्रकट कर रहा है—

जिनधर्म विनिर्मुक्तो माभुवं चक्रवर्त्यपि ।
स्याञ्चेटोऽपि दरिद्रोऽपि जिनधर्मानुवासित ॥

तत्त्वज्ञ भक्तकी जिनधर्मानुवासिततकी भावना—जिन धर्मसे रहित होकर मुझे चक्रवर्ती होना भी पसद नही है। और जैन धर्मसे सहित दास और दरिद्री होना भी सहर्ष मजूर है। इस तरहकी भावनामे आत्माकी दृढ प्रतीतिका भाव झलक रहा है। जब तक आत्मतत्त्व या परमात्मवैभवका पता नही होता तब तक ससारके वैभवकी ही चाल करता रहता है लेकिन जहाँ आत्मवैभवको दृष्टिगोचर कर लेता है वहाँ ऐहिक सब पदार्थ तुच्छ और हेय मालूम पडने लगते हैं। आत्मवैभवको दिखाने वाला या स्वय आत्मवैभवरूप ही जैनधर्म है इसलिये पूजक उस धर्मकी ही छत्रछायामे रहना चाहता है। लौकिक दृष्टिसे चाहे उसकी वैसी भी अवस्था हो ?

जन्म जन्म कृत पाप जन्म कोटिमुमार्जितम् ।
जन्म मृत्यु जरा रोग, हन्यते जिनदर्शनात् ॥

प्रभुदर्शनका महत्त्व—जिनेन्द्र भगवानके ध्यानसे करोडो जन्मोमे किये गये पाप ध्वस्त हो जाते है। जिनेन्द्रकी पर्याय विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप है। उस शुद्ध पर्यायका ध्यान करनेसे द्रव्यका ध्यान आकर निर्विकल्प स्थिति आ जाती है। जिनेन्द्र भगवानका शरण मिल जाने पर यह जीव अपनेको अशरणरूप नही मानता। क्योकि सच्चा शरण चैतन्यका मिल जाता है उसे। उसे अपना और व्यवहारमे भगवानका अनन्यशरण है। भगवानका ध्यान करनेसे, जन्म बुढापा और मृत्युका रोग नष्ट हो जाता है। बच्चेके पैदा होने पर दूसरे कितनी ही खुशिया मनावें पर उसे जो दुःख होता है उसे वही जानता होगा। इसका प्रमाण यह है कि पैदा होते ही बच्चा रोता है। बुढापेमे शरीरकी शिथिलता आनेसे अनेक तरहके दुःख होते है और मृत्युके नामसे ही लोग डरते हैं। ये तीनो क्लेशके कारण हैं। इन क्लेशोका कारण पाप है। और सबसे बडा पाप मिथ्यात्व है, इसमे कुछ सूझता नही है और परभावका पाप निरन्तर करता रहता है। दुःखका मूल मिथ्यात्व ही है। और इनसे जो कषायभाव होते है वे दुःखके कारण होते हैं। जीवको दुःख कषाय भावका ही है। इसमे रचमात्र सोचने समझनेकी जरूरत नही है। ऐसे कषायभावोका बाप है मिथ्यात्व। वस्तुके स्वभावका जहाँ बोध नही होता वहाँ पर्यायपर दृष्टि रहती है, एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता समझता है, एक चीजसे दूसरी चीजका सम्बन्ध स्थापित करता है, इसीसे दुःख होता है। इसके सिवा और किसी बातका दुःख नही है। सो ये सब दुःख जिनेन्द्र भगवानके स्मरण करने से, ध्यान करने से दूर हो जाते हैं। यदि उपयोगमे क्रोध, लोभ आदि राक्षस अपना अड्डा जमाये हैं, जिनेन्द्र भगवानके ध्यानका अवकाश नही तो दुःखसे छुटकारा नही और यदि भगवानके ध्यानके लिये अवकाश है तो ये राक्षस पलायमान होगे और उन्हीके साथ दुःखका भी अन्त हो जायगा। कहते हैं ना कि—ज्ञान दीप तप तैल भर

घर शोधै भ्रम छोर । या विध बिन निकसै नही पैठे पूरब चोर । जैसे घरमे घुसे चोरोको भगानेके लिये दीपकको उजालकर प्रकाश किया जाता है, पीछे चोरोको भगाया जाता है उसी तरह आत्मारूपी घरमे मोहरूपी चोरोको भगानेके लिये ज्ञानरूपी दीपकमे तपरूपी तैल भरकर उजेला किया जाय तो कर्मचोर अपने आप भाग जावेगे । भगवान के स्मरणसे यही काम होता है, पाप कर्म दूर होते हैं, पुण्य कर्मकी उदीरणा होती है, लौकिक सपत्ति भी मिलती है पर पूजक उसे ठुकरा देता है ।

प्रभुभक्तके प्रभुभक्तिकी अभ्यर्थना—भगवानकी पूजा कल्प वृक्षके समान है इससे सब कुछ मिलता है । पर चाहनेसे नही । लेकिन प्रभो ! मैं उसका फल यही चाहता हू कि जब मेरे प्राण निकलनेका समय आवे तब आपके नामके जो अक्षर हैं उनके पढनेमे कंठ न रुके । जिन जीवोका सुमरण होता है, वे भगवान वा आत्माका अनुभवन करते करते व विकल्प अवस्थामे भगवानका नाम लेते लेते चले जाते है । मरणका दुःख उन जीवो को होता है जिनको बाह्यपदार्थमे मोह वा राग द्वेष होता है । जिन्हे ये नही उनका मरण दुःखदाई नही होता । मानो वे अपने वैभव और परिवारको लेकर साथ जा रहे हो । मोही जीव तो सोचता कि ये सब यहाँ ही छूटे जा रहे हैं और ज्ञानी जीव सोचता है कि मेरा वैभव सब साथ जा रहा है । कोई बडे अफसरका तबादला होता तो उसे घर छोडनेका दुःख नही होता, क्योकि उसे घरकी चीज साथ ले जाने की और जानेकी पूरी सुविधा मिलती है । ज्ञानी जीवको भी यह अनुभव नही होता कि मैं कुछ छोड कर जा रहा हू । जो छुटा था वह तो छुटा ही है और जो साथ था वह साथ ही रहता है । आत्माके ज्ञानकी जो परिणतियाँ व्यक्तियाँ है वे उसके पुत्र है, ज्ञानस्वभाव मातपिता है और स्वानुभूति रमणी है । अपना यह सारा वैभव सँभालकर जाता है ज्ञानी । वह चाहता है तो यही कि अगले भवमे जिनेन्द्रका स्मरण बना रहे । यह धर्म अगले भवमे भी मिले तो रञ्जकी बात ही क्या ? इस तरह पूजक अपनी समाधिकी भावना को पुष्ट करता हुआ भगवानके प्रति जो भाव लगाये है उससे जो निर्मलता हुई है उससे प्रसन्न होता हुआ अन्तिम कायोत्सर्ग करके जिनयज्ञ विधिको समाप्त करता है और मंदिरसे घरकी तरफ आता है । घरके कामो मे फसना पडता है, इसका उसे कुछ विषादसा होता है लेकिन गृहस्थाश्रमके भारको जो लाद रक्खा है उसे तो ढोना ही पडेगा, जब तक कि उससे निवृत्ति नही पा लेता । बाह्य विकल्पोमे फँसे रहने वालोके लिये भगवत् पूजाको मूर्तिका बडा अवलम्बन है । उस स्थूलके अवलंबन बिना सूक्ष्ममे एकदम भाव नही जाते । इसी लिये तो लोग कह देते कि व्यवहार करते करते निश्चयकी प्राप्ति हो जाती है । यद्यपि दरअसल बात ऐसी नही है, व्यवहारका ही साधक है, उसकी दृष्टिसे निश्चय कभी नही आवेगा । लेकिन निश्चयके लिये निश्चय तक

पहुचने योग्य व्यवहार या शुभ उपयोग आता ही है। अब इसे चाहे किन्ही शब्दोमे कहलें लेकिन श्रद्धा यथार्थ रहनी चाहिये, असली मर्म प्रतीतिका है। शब्दोमे कैसा भी कहो, धर्म-आराधनामे व्यवहार धर्मका भी स्थान अपनी सीमा तक प्रतिष्ठित ही है। मूर्ति और मंदिर के आश्रयसे हम लोगोको कितना धर्म लाभ होता है? निराकुलतासे सामाजिक स्वाध्याय होता। अपने स्वरूपके वोधमे कारणभूत जितेन्द्रका दर्शन पूजन होता। धर्मचर्चा और सत्समागम होता।

अन्तर्बाह्य धर्मायतनसे परमार्थलाभ लेनेका अनुरोध—प्रत्येक भाईको उपलब्ध धर्मायतनसे भरपूर लाभ लेना चाहिये। दर्शन पूजन स्वाध्याय और सामायिक आदिसे समयका सदुपयोग करना चाहिये। समय जो निकल जाता है वह वापिस नही आता। घडी की बात यही सूचित करती है। आप कितने भी चतुर और वलिष्ठ हो, लेकिन समयको पीछे लानेकी ताकत किसीमें नही है। वह तो धाराप्रवाहसे चलता ही रहता है। यदि समयका सदुपयोग कर लिया, जिनेन्द्रकी भक्ति करके जिनस्वरूपसे नाता जोड लिया, स्वाध्याय द्वारा तत्त्वज्ञान कर लिया, धर्मोपदेश श्रवण मनन करके तत्त्वचर्चा करके अपने ज्ञानको वा भावनाओ को पुष्ट बना लिया तो सतोषपूर्वक मरण कर सकेंगे। समतासे प्राण छूटेंगे। और प्राण छूटकर तत्क्षण ही शुभगतिकी प्राप्ति होगी अन्यथा पछतावा शेष रहेगा। मरते समय असतोष लेकर प्राण छूटेंगे और मृत्युके बाद तत्क्षण ही दुर्गतिकी यातनायें भोगना चालू हो जावेंगी। इस कालमे जिनेन्द्र भगवानकी पूजा और स्वाध्याय कल्याणके लिये ये दो बातें परम उपकारी और महत्त्वपूर्ण हैं। उनसे लाभ ले लेना प्रत्येक मानवका कर्तव्य है। जरा अन्तर्दृष्टि करिये व पहिचानिये—य परात्मा स एवाह, योऽह स परमस्तत। अहमेव मयोपास्यो नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥ वस्तुत बात यह है जो कि परमात्मा है वही मैं हू और जो मैं हू वह परमात्मा है। इस लिये मेरे द्वारा मैं ही उपास्य हू, अन्य कोई अन्तर्व्यवस्था नही है। वस्तुको स्वभावसे परखा जाता है। यदि स्वभाव देखता हूँ तब मैं और परमात्मपदमे पहुचे हुए आत्मा सब समान है। परमसमाधिके लिये भी निजस्वभावमें पहुचना है और अन्तमे तो इसी स्वभावमे स्थिति होनेकी अवस्था होना है, सो उस सबके मूल निज परमपारिणामिक भावका परिज्ञान प्रत्यय व अनुष्ठानकी आवश्यकता है। अत मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हू, वह मैं स्वभावरूप हू, वही स्वभाव देवके आश्रयसे देखना था। अत स्वभावभक्तिमे देवभक्ति गर्भित है। उस स्वभावका परिज्ञान कैसे हो अथवा स्वभाववान निज आत्माका परिज्ञान कैसे हो? इस विषयमे भ० श्री कुन्दकुन्ददेवने कहा है—

जो जाणदि अरहत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लय ॥

द्रव्यत्व, गुणत्व व पर्यायत्वसे श्रीजिनके परिचयमें आत्मपरिचय व मोहविलय— जो अरहंतको द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्वसे जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोहभाव विनाशको प्राप्त होता है। भगवानमे और हममे द्रव्यत्व और गुणत्वसे पूर्ण समानता है, केवल पर्यायत्वसे भेद है। वे निर्विकार है हम रागादि विकारसे युक्त है। सो द्रव्यत्व व अभेदगुणत्वरूप परमपारिणामिक भावके ध्यान व एकतानके प्रतापसे वह पर्यायत्व प्रकट होता है जो अरहंत प्रभुका है। भगवानके पर्यायत्वकी स्वभावसे अनुरूपता है। अत. प्रभुके ध्यानमे अभीष्टकी सिद्धिका उपाय है एतदर्थ एवं देवकी उपासना है। सो हे मित्रगण! अनेक अवलम्बनके वातावरणमे भी प्रभुके विशुद्ध परिणमनको देखो और उस विशुद्ध परिणमनके स्रोतस्वरूप परमपारिणामिक भावको देखो जिसके अनन्तर सहज ही द्वैतदृष्टि नष्ट होकर निजपरमपारिणामिक भावमे अनुष्ठान हो और परमसमाधि हो। इससे ही सर्वक्लेशोका अत्यन्त अभाव होकर परमज्ञान सुखमय अवस्था प्रकट होती है।

ॐ नम शुद्धेभ्य । परमपारिणामिकभावं (अनुकूलयितु) नम ।

।। ॐ शाति ।।

इस प्रकार अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज का

जबलपुर वर्षायोग सन् १९५४ मे जो देवपूजापर

प्रवचन हुआ था, वह सम्पूर्ण हुआ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

ॐ शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॐ

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावा, प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममल परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमन्त्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशत' स्वतन्त्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पा, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्न समस्तपरत परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योति पर स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियत सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्य, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्ड, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्य निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदित समाधि ।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्व स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्प य ।
सहजानन्दसवन्द्य स्वभावमनुपर्यय याति ॥